

लेखक : चन्दन मुनि

०

प्रस्तावना : मुनि नथमल

०

संस्कृत छाया : मुनि गुलाबचन्द
'निर्मोही'

०

हिन्दी अनुवाद : मुनि दुलहराज

०

प्रकाशक . भगवतप्रसाद रणछोड़दास
४४ न्यू क्लोथ मार्केट
अहमदाबाद-२
निवास · पटेल सोसाइटी (शाहीबाग)
अहमदाबाद

०

प्रथम संस्करण . ८ अप्रैल १९७१
महावीर-जयन्ती

०

मुद्रण-व्यवस्था निर्देशन
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

०

मुद्रक : श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
राजा की मण्डी, आगरा–२

०

मूल्य · १०. रुपए (भारत मे)
१३. सिलिंग (विदेश मे)

Author : **Chandan Muni**

०

Preface : Muni Nathmal

०

Translation-
Sanskrit : **Muni Gulabchand**
'Nirmohi'

०

Hindi · **Muni Dulehraj**

०

Publishers : **Bhagwatprasad Ranchhordas**
44. New cloth market
Ahmedabad-2
N. L. : Patel Sociely (Shahibagh) Ahmedabad

०

First Edition 8th April, 1971
Mahavir Jayanti

०

Printing Supervision :
Shrichand Surana 'Saras'

०

Printers : Shri Vishnu Printing Press, Raja ki mandi
Agra-2

०

Price : India Rs. 10 -
Forign 13 S.

समर्पण ।

TO THE	
SCHOLARS	प्राकृत
OF	एवं
PRAKRAT	संस्कृत भाषा
&	के
SANSKRIT LANGVAGE	अभ्यासियों को

स्वतः

कभी कभी एक छोटी-सी घटना भी विशेष प्रेरणा देने वाली हो जाती है। उससे सुप्त भावनाए जागृत हो उठती हैं और व्यक्ति उन भावनाओ को साकार करने के लिए उद्यत हो जाता है।

प्राकृत भाषा के प्रति मेरा पुरुषार्थ ऐसी ही एक सुप्रेरणा का परिणाम है।

उस समय मैं बम्बई मे प्रवास कर रहा था। तीन वर्ष पूर्ण हो चुके थे। चौथे वर्ष का वर्षावास मैं 'विलेपारले' मे बिता रहा था। साधनाश्रम का सुरम्यस्थल और नगीनभाई तथा सुशीलाबहन की भक्ति अपूर्व थी। एक बार मैं बाहर गया था। रास्ते मे मुझे प्रोफेसर 'भियाणी' मिले। वे प्राकृत भाषा के गभीर विद्वान एव उसके अनन्य पक्षपाती थे। वार्तालाप के प्रसग म उन्होने कहा—'मुनिजी, मुझे अत्यन्त खेद के साथ कहना पड रहा है कि प्राकृत भाषा के प्रति सर्वत्र उदासीनता है। यह भाषा सभी भाषाओ की जननी, सहज और बुद्धिगम्य है, फिर भी इसके प्रति उपेक्षा बरती जा रही है। और तो क्या—भगवान् महावीर के अनुयायी भी इस ओर इतने प्रयत्नशील नही देखे जाते। जैन मुनि भी इसे प्राय नही जानते और जो जानते हैं वे भी इसकी गहराई मे प्रवेश नही कर पाते। मैंने अनेक मुनियो को इस भाषा के अध्ययन के लिए प्रेरित किया, किन्तु रुचि के अभाव मे वे इस ओर विकास नही कर सके।'

प्रोफेसर भियाणी की यह कटूक्ति मुझे अक्षरश सत्य प्रतीत हुई। अपने आगमो की भाषा मधुर प्राकृत के प्रति अपनी उदासीनता अनुचित एव असह्य लगी, जबकि हिन्दू मुस्लिम, ईसाई और सिक्ख आदि अपनी-अपनी भाषा का कितना गौरव अनुभव करते हुए उसके प्रति जागरूक हैं।

प्राकृत का अध्ययन :

उस समय मेरी अवस्था ५१ वर्ष की थी। मैंने प्राकृत भाषाओ का मौलिक एव गम्भीर अध्ययन किया। प्रारम्भ मे मैंने कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित 'अष्टम अध्याय' को कण्ठस्थ किया। प्राकृत भाषा सबधी तथ्यो की जानकारी के बाद मैंने 'समराइच्च कहा' 'पउमचरिअ' 'पासणाहचरिअ', 'गाहा सत्तसती' आदि ग्रन्थो का पारायण किया। अध्ययन-काल मे प्राकृत म लिखने की प्रेरणा जगी। यद्यपि मैंने कुछेक वर्षो पूर्व

स्वतः

कभी-कभी एक छोटी-सी घटना भी विशेष प्रेरणा देने वाली हो जाती है। उससे सुप्त भावनाएं जागृत हो उठती हैं और व्यक्ति उन भावनाओं को साकार करने के लिए उद्यत हो जाता है।

प्राकृत भाषा के प्रति मेरा पुरुषार्थ ऐसी ही एक सुप्रेरणा का परिणाम है।

उस समय मैं बम्बई में प्रवास कर रहा था। तीन वर्ष पूर्ण हो चुके थे। चौथे वर्ष का वर्षावास मैं 'विलेपारले' में बिता रहा था। साधनाश्रम का सुरम्यस्थल और नगीनभाई तथा सुशीलाबहन की भक्ति अपूर्व थी। एक बार मैं बाहर गया था। रास्ते में मुझे प्रोफेसर 'भियाणी' मिले। वे प्राकृत भाषा के गंभीर विद्वान एवं उसके अनन्य पक्षपाती थे। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा—"मुनिजी, मुझे अत्यन्त खेद के साथ कहना पड रहा है कि प्राकृत भाषा के प्रति सर्वत्र उदासीनता है। यह भाषा सभी भाषाओं की जननी, सहज और बुद्धिगम्य है, फिर भी इसके प्रति उपेक्षा बरती जा रही है। और तो क्या—भगवान् महावीर के अनुयायी भी इस ओर इतने प्रयत्नशील नहीं देखे जाते। जैन मुनि भी इसे प्रायः नहीं जानते और जो जानते हैं वे भी इसकी गहराई में प्रवेश नहीं कर पाते। मैंने अनेक मुनियों को इस भाषा के अध्ययन के लिए प्रेरित किया, किन्तु रुचि के अभाव में वे इस ओर विकास नहीं कर सके।"

प्रोफेसर भियाणी की यह कटूक्ति मुझे अक्षरशः सत्य प्रतीत हुई। अपने आगमों की भाषा मधुर प्राकृत के प्रति अपनी उदासीनता अनुचित एवं असह्य लगी, जबकि हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और सिक्ख आदि अपनी-अपनी भाषा का कितना गौरव अनुभव करते हुए उसके प्रति जागरूक हैं।

प्राकृत का अध्ययन :

उस समय मेरी अवस्था ५१ वर्ष की थी। मैंने प्राकृत भाषाओं का मौलिक एवं गम्भीर अध्ययन किया। प्रारम्भ में मैंने कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित 'अष्टम अध्याय' को कण्ठस्थ किया। प्राकृत भाषा सम्बन्धी तथ्यों की जानकारी के बाद मैंने 'समराइच्च कहा,' 'पउमचरिअं' 'पासणाहचरिअ', 'गाहा सप्तशती' आदि ग्रन्थों का पारायण किया। अध्ययनकाल में प्राकृत में लिखने की प्रेरणा जगी। यद्यपि मैंने कुछेक वर्षों पूर्व

संस्कृत-भाषा मे अनेक गद्य पद्यात्मक काव्य लिखे थे, किन्तु प्राकृत मे लिखने की भावना ही नही जगी थी। इस बार प्राकृत मे लिखने की प्रेरणा प्रबल होती गई और प्रथम पुष्प के रूप मे मैंने **'रयणवाल कहा'** की रचना प्रारम्भ कर दी। **'समराइच्च कहा'** की शैली का निर्वाह करते हुए मैंने इस रचना को आगे बढाया। प्राकृत व्याकरण का ज्ञान सहायक था ही, अत व्याकरण-गत अनेक शब्दो का प्रयोग स्वाभाविक थे। पाठको की सुविधा के लिए शब्द सम्बन्धी सूत्रो को यथास्थान दे देने के कारण उनकी प्रामाणिकता असदिग्ध बनगई है। प्राकृत शब्दो के साक्ष्य के लिए **'पाइयलच्छी नाममाला'** का प्रयोग किया है और उसके पद्य टिप्पण मे उद्धृत भी कर दिए है। मुझे सरल, सहज भाषा और छोटे छोटे वाक्य बहुत पसन्द हैं। अत मैंने इस काव्य मे उस रुचि का निर्वाह किया है। समास की बहुलता और जटिलता तथा लम्बे वाक्य पाठक को भटका देते हैं, अत उनका प्राय वर्जन ही किया है।

इसकी संस्कृत छाया मुनि गुलाबचन्द 'निर्मोही' ने अत्यन्त श्रम से तैयार की है। देशी शब्दो को उसी रूप मे देकर, कोष्ठक ( ) मे संस्कृत मे भावार्थ दे दिया है।

इसका हिन्दी अनुवाद आगम सपादन-कार्य मे सलग्न मुनि दुलहराज जी ने सपन्न किया है। हिन्दी का अनुवाद इतना सरस एव सरल हुआ है कि पढने वाले को अनुवाद सा नही किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ-सा प्रतीत होता है।

इसकी भूमिका मुनि नथमल जी ने लिखी है। वे स्वय प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के गभीर विद्वान हैं। अपने व्यस्त समय मे इस ग्रन्थ का अवलोकन कर जो दो शब्द लिखे है, मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

अन्त मे मैं लालमुनि, मूलमुनि तथा मोहनमुनि आदि सहयोगियो के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूं।

आचार्य श्री तुलसी ने इस ग्रन्थ को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और मुझे प्राकृत भाषा में 'जयचरिअ, लिखने के लिए प्रेरित किया। मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

मैं आशा करता हूं कि यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के अध्ययनशील शिक्षार्थियो का पथ प्रशस्त करने म उपयोगी सिद्ध होगा और उनके विकास के लिए नए आलोक का सर्जन करेगा।

बीदासर (राजस्थान)
वि० स० २०२७ फाल्गुन कृष्णा २

—मुनि चन्दन

पत्थावणा

"अपारे कव्व-संसारे, कवी अत्थि पयावई ।
जहाभिरोयए विस्सं, तहेम परिवट्टइ ॥"

अस्सि सिलोगे जहत्थमत्थि निरूविअं । रसमयस्स भुवणस्स निम्माण कविणा चिअ कयमत्थि । खणभंगुरे एयम्मि लोए कुह को भवे सासओ रसो जइ तत्थ न सिया कव्वरसो । कवी सच्च रस-थालीए परिपाग विणीय उवहरइ, तेण सो मोय-मेउरो पमोएइ अवरे वि ।

कथावत्थु, भासा, गुंफण—एयाणि भवंति महग्घाणि उवगर-णाणि कव्वस्स । एएसु भासा नत्थि सासया । कयाचि पागय-भासा कव्वस्स रयणाए पमुहा आसी । जह लिहिअमत्थि आगम-सुत्त—

'सक्कयं पागयं चेव पसत्थं इसि-भासिअं ।"

इयाणिं कालस्स परियट्टण जाय । सक्कयस्स पागयस्स य कालो अइक्कतो । अज्जकालीणा विचक्खणा भणंति—एया मया भासा संति । को अमओ मयासु भासासु कव्वं काउ उच्छाहमणुगच्छे ? अच्छेरगभिण चंदणमुणिणा एता किर भासा पाहण्णेण कव्वरयणाए पउत्ता । किमत्थि कारण ?

मण्णेह अणेगतवायरस-पीणिएण मुणिणा वट्टमाण अईअ-णिरवेक्ख णोवलद्ध । ण य वट्टमाण-णिरवेक्ख लद्धमईअ । जो अईए वट्टमाण पासइ, पासइ तह वट्टमाणे अईअ सो भवइ सासय-मग्गगामी ।

सासयमग्गगामी पम्हुट्ठेसु वि तच्चेसु पुणो सइं उप्पाएइ

लोगाण । लालिच्च-लावण्ण-गुणोववेया पागय-भासा उवेहिया ण किं दुक्ख जणयइ महुर-रस सिणायगाण कवीण ?

त पागय जस्स मउला पदावली पीणेइ मण जणाण, जस्सि सहस्स-सहस्स-वास-पज्जत अणेगेसिं महच्चाण महप्पाण सत्थाण जाय विरयण । भगवया महावीरेण वद्धमाणेण जस्सि उवएसा कया । महप्पणा बुद्धेण जस्सि निव्वाण-मग्गो पयासिओ ।

जत्थ अणेगतवायस्स परिक्खा उवलब्भइ, जत्थ य उवलब्भइ मज्झिमपडिवयाए महत्थो सरो । ज पुरोकाउ लिहियाणि विज्जते अणेगाणि कव्वनाडगादीणि ललियाणि सत्थाणि । जेण सक्काइयाणि रहस्साणि वहइ अज्जावि सा । किं तीसे सुत्त अहुणा विलसिअ न जुत्त ?

जइवि इयाणि पागय नत्थि लोग-भासिय । तहवि पगाममत्थि पाटजोग्ग । जह सयाणि-सयाणि सत्थाणि पुरातणाणि पढिज्जति, तह इयाणि विरइयाणि किं न अज्झयण विसय गयाणि भविस्सति ? तो पाइय-भासाए गथ-रयण नेवत्थि विचार-विरहिय । एयम्मि पओयणे अह अभिणदेमि चदणमुणिं ।

सपुण्णे वि साहिच्चे कया-गयाण अत्थि महं गोरवमय ठाण । कुवलयमाला कहा, उवमिति-भवपवचकहा-पभितयो अणेगा कहा गंति सुप्पसिद्धा । तप्परपराए एसा वि भवइ निबद्धा । कहाकारेण मुणिणा कओ कहाए पबधो सुललिओ । भासा-दिट्ठीए पओग-पहाणा इमा । मुणी एमो ललियाण अभिणवाण य पओगाण पगरणे अत्थि गुणसिद्धो । कहा-पबधे जत्थ तत्थ पागय-वागरण उदाहट-मिव दिस्सइ । मउला वण्णई जह मण हरइ, तह कहाए वि मउला पओग-पवत्ती भरइ मणोहरा । सहूणि वक्काणि सरलाणि गाढाणि । रिदमण रूवेण ४० पिट्ठम्म इमा पत्तीओ गति पडिअग्घा—

सेट्ठिणा लद्धो यसमाणू । दाणाइ-णीर-सित्तो फलिओ पुप्फिओ धम्म-नप्परुक्खो । णिभालिऊण अब्भग-मुहचद परमतुट्ठा भाणुमई । चिरपरिकप्पिओ दोहलो पूरिओ विहिणा । अणेगेहि आगादिएहि वयसेहि गहिअ सेट्ठित्तो पुण्णवत्त ।"

मण्णेह सक्क य-पगइ-पहाणाओ पागयाओ भवइ अहिय लद्धपतिट्ठ जण-गए-पउत्त पागय । किंतु पउत्तिहेउणा त नत्थि अहुणा उवलद्ध, तहावि वहाकारेण जत्थ-तत्थ देसि-सद्दाण पओगो कओ अत्थि । ग्रुह-कुहचि देसिसद्देण सक्कय-समसद्द-सजोगो वण्णाथियो वि जाओ । उदाहरण-रूवेण एत्थ—'तवकुअ-जणेहि' (पृष्ठ २४) पत्थुअ भवइ । जइ एयस्स ठाणे 'सयण जणेहिं' सिया, सिया बहु रमणीय ।

जइ वि हरिभद्रसूरिणा एस पओगो कओ अत्थि । वहाकारेण पाईण-गयाण पओग-पद्धतिमणुसिसम कया पओगा । तहवि अज्ज भासा-पवष-सरणीए बहु परिवट्टणमवेविखयमत्थि ।

कथा-वत्थु अत्थि पाईण । तहवि कहाकारेण अभिणवो परिवेसो पदत्तो, तेण एसा भाति नव्वा विव ।

एयम्मि वहा-पबधे ठाणे-ट्ठाणे धुव-तच्चाण सगाणमवि अत्थि मुहरिअ । पडिमव्वा एता पतीओ—

"अहो ! अलक्खिअ खु मोह-महारायस्स विडवण ! पुत्त-पोत्तेहिं परिवारिआ वि खिज्जति विरहिआ वि । दुरहिगमा किर मोह-मइराए तणुवी अणाणरेहा । सुह-सकप्पिए वि दुह, दुहाइ-एवि सुह अभिडइ । वत्थुत्तो पोग्गलिअ आसत्ति-पल्हत्थ किं सुह, किं दुह ? इहगओ उत्थारो वि परिणइ पत्तो पच्चक्ख सोआ-लिद्धो । हत ! तहवि कसाय-कलुसिओ जीवो णो जहातच्च जिण-देसिअ धम्म सद्दहइ, पत्तिअइ, रोएइ य ।" (पृष्ठ १६)

जहमणी मुत्ताहार सोभाहिअ करेइ, तह अतो बद्धाणि नीइ-मुत्ताणि वद्धेंति गथ माहप्प । वहाकारेण अणेगेसु ठाणेसु एयमा-

चरिअ। 'आहारम्मि ववहारम्मि य चत्तलज्जेण होअव्व।' (पृष्ठ ३२) एय सुत्त एयस्स सक्कय-सिलोगस्स सइ जणयइ—

'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।'

माणसकारेण सत तुलसीदासेण अणेगेसि सक्कय-सिलोगाण माणसे कुसलाए पद्धतीए सण्णिवेसो कओ, तेण माणसस्स कव्व-दिट्ठीए महामुल्लत्त जाय। बहूण पुराणाण अणुभूईण समवतारो पज्जोययइ गथस्स अगमग। विसय उवसहरमाणोह एय साहेउ लहेमि ओगास—कहाकारेण एय पत्थुय कथागथ लिहिऊण—'पडिसो-यमेव अप्पा दायव्वो होउकामेण'—इति आगम-निद्दसो सफली-कओ। अज्ज पाइअे गथनिम्माण पडिसोय-गमणतो नत्थि नूण।

महामणेण गुरुवरेण कालूगणिणा जो उज्जमो कओ, गुरुवरेण महप्पणा तुलसीगणिणा जस्स धारा पवाहिआ, तीसे गुरुतरो एस जोगो कहा-पबधो भविस्सइ'त्ति वोत्तु सक्क।

एयमट्ठ साधुवादमरिहइ कहाकारो मुणी। एयस्स हिंदी-अणुवादो कओ मुणिणा दुलहराजेण, सस्कृत-छाया कया मुणिणा गुलाबचदेण। एव उभयमवि कज्ज कयमन्थि सस्सम। अणेण गथस्स महिमा परिवड्ढिया, सारल्लमवि। सक्कय-हिंदी-पाढगा अवि पढिउ सुलहत्त लद्धा।

तेरापथ-परपराए एयारिसी गथसपदा निरतर वड्ढमाणा भवे इइ चिरमभिलसामि।

वि० स० २०२७ माघवदि ६
वोरावड (राजस्थान)

—मुनि नथमल



प्रस्तावना

'इस अपार काव्य-ससार मे कवि प्रजापति है। विश्व के निर्माण मे उसकी जैसी अभिरुचि होती है, वह उसे उसी प्रकार मे बदल देता है।"

कवि की इस उक्ति मे यथार्थ का निरूपण हुआ है। कवि के द्वारा ही रसमय ससार का निर्माण होता है। यदि काव्यरस नही होता तो इस क्षण-भगुर ससार मे शाश्वत रस क्या होता? कवि सत्य को सरस बनाकर प्रस्तुत करता है। इससे वह स्वय आनन्दित होता है और दूसरा को भी आनन्दित करता है।

काव्य म तीन मूल्यवान उपकरण होते हैं—कथावस्तु भाषा और शैली। इसमे भाषा शाश्वत नही होती। एक समय था जब काव्य रचना मे प्राकृत भाषा की प्रधानता थी। आगम म लिखा है—"सस्कृत और प्राकृत ये दोनों भाषाए प्रशस्त और ऋषिभाषित हैं।' आज समय बदल चुका है। सस्कृत और प्राकृत भाषाओ का समय अतिक्रान्त हो गया है। आज के विद्वान् मानते हैं कि ये मृत भाषाए हैं। कौन अमृत पुरुष इन-मृत भाषाओ मे काव्य-रचना करने के लिए उत्साहित होगा?

यह एक आश्चर्य है कि चन्दनमुनि इन भाषाओ मे काव्य-रचना करन के लिए प्रवृत्त हुए। इसका कारण क्या है? मैं मानता हूं कि अनेकान्तवाद के रस से प्रीणित चन्दन मुनि को अतीत निरपेक्ष वर्तमान नहीं मिला और न वर्तमान-निरपेक्ष अतीत ही उन्हे प्राप्त हुआ। जो अतीत म वर्तमान *और वर्तमान मे अतीत को देखता है, वह शाश्वत मार्ग का अनुगामी होता है।*

जो शाश्वतमार्गगामी होता है, वह विस्मृत तथ्यो के प्रति भी लोगो की रुचि उत्पन्न कर देता है। प्राकृत भाषा ललित है और लावण्य से उपपेत है। वह प्राकृत भाषा[1] जिसकी मृदु पदावली जन मानस को आनन्दित करती है, जिसमे सहस्रो वर्ष पर्यन्त अनेक महान् शास्त्रों की रचना होती रही है;

चरिअ। 'आहारम्मि ववहारम्मि य चत्तलज्जेण होअव्व।' (पृष्ठ ३२) एय सुत्त एयस्स सक्कय-सिलोगस्स सइ जणयइ—

'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।'

माणसकारेण सत तुलसीदासेण अणेगेसि सक्कय-सिलोगाण माणसे कुसलाए पद्धतीए सण्णिवेसो कओ, तेण माणसस्स कव्व-दिट्ठीए महामुल्लत्त जाय। बहूण पुराणाण अणुभूईण समवतारो पज्जोययइ गथस्स अगमग। विसय उवसहरमाणेहि एय साहेउ लहेमि ओगास—कहाकारेण एय पत्थुय कयागथ लिहिऊण—'पडिसो-यमेव अप्पा दायव्वो होउकामेण'—इति आगम निद्देसो सफली-कओ। अज्ज पाइओ गथनिम्माण पडिसोय-गमणतो नत्थि नूण।

महामणेण गुरुवरेण कालूगणिणा जो उज्जमो कओ, गुरुवरेण महप्पणा तुलसीगणिणा जस्स धारा पवाहिआ, तीसे गुरुतरो एस जोगो कहा पवधो भविस्सइ'त्ति वोत्तु सक्क।

एयमट्ठ साधुवादमरिहइ कहाकारो मुणी। एयस्स हिंदी-अणुवादो कओ मुणिणा दुलहराजेण, सस्कृत-छाया कया मुणिणा गुलाबचदेण। एव उभयमवि कज्ज कयमत्थि सस्सम। अणेण गथस्स महिमा परिवड्ढिया, सारल्लमवि। सक्कय-हिंदी पाढगा अवि पढिउ सुलहत्त लद्धा।

तेरापथ-परपराए एयारिसी गथसपदा निरतर वड्ढमाणा भवे इइ चिरमभिलसामि।

वि० स० २०२७ माघवदि ६
बोरावड (राजस्थान)

—मुनि नथमल



प्रस्तावना

"इस प्रकार काव्य-ससार मे कवि प्रजापति है। विश्व के निर्माण मे उसकी जैसी अभिरुचि होती है, वह उसे उसी प्रकार मे बदल देता है।"

कवि की इस उक्ति मे यथार्थ का निरूपण हुआ है। कवि के द्वारा ही रसमय ससार का निर्माण होता है। यदि काव्यरस नहीं होता तो इस क्षण-भगुर ससार मे शाश्वत रस क्या होता? कवि सत्य को सरस बनाकर प्रस्तुत करता है। इससे वह स्वय आनन्दित होता है और दूसरो को भी आनन्दित करता है।

काव्य म तीन मूल्यवान उपकरण होते हैं—कथावस्तु भाषा और शैली। इसमे भाषा शाश्वत नही होती। एक समय था जब काव्य-रचना मे प्राकृत भाषा की प्रधानता थी। आगम मे लिखा है—"सस्कृत और प्राकृत मे दोनो भाषाए प्रशस्त और ऋषिभाषित हैं।" आज समय बदल चुका है। सस्कृत और प्राकृत भाषाओ का समय अतिक्रान्त हो गया है। आज के विद्वान् मानते है कि ये मृत भाषाए हैं। कौन अमृत पुरुष इन-मृत भाषाओ मे काव्य-रचना करने के लिए उत्साहित होगा?

यह एक आश्चर्य है कि चन्दनमुनि इन भाषाओ मे काव्य-रचना करने मे लिए प्रवृत्त हुए। इसका कारण क्या है? मैं मानता हूँ कि अनेकान्तवाद के रस से प्रीणित चन्दन मुनि को अतीत निरपेक्ष वर्तमान नही मिला और न वर्तमान निरपेक्ष अतीत ही उन्हे प्राप्त हुआ। जो अतीत म वर्तमान और वर्तमान मे अतीत को देखता है, वह शाश्वत मार्ग का अनुगामी होता है।

जो शाश्वतमार्गगामी होता है, वह विस्मृत तथ्यो के प्रति भी लोगो की रुचि उत्पन्न कर देता है। प्राकृत भाषा ललित है और लावण्य से उपपेत है। वह प्राकृत भाषा! जिसकी मृदु पदावली जन मानस को आनन्दित करती है, जिसमे सहस्रो वर्ष पर्यन्त अनेक महान् शास्त्रो की रचना होती रही है,

भगवान महावीर वर्धमान ने जिस भाषा मे उपदेश दिया, महात्मा बुद्ध ने जिस भाषा म निर्वाण मार्ग का प्रकाशन किया, क्या उसकी उपेक्षा मधुररस मे स्नात कवि-हृदयो को दु खित नही करती ? इस भाषा मे अनेकान्तवाद की परीक्षा और मध्यमप्रतिपदा का महान् स्वर प्राप्त होता है। इस भाषा मे अनेक काव्य, नाटक आदि ललित शास्त्र लिखे गए है। इसीलिए यह भाषा आज भी सख्यातीत रहस्यो का वहन करती है। ऐसी स्थिति मे उस परम्परा का निर्वाह करना क्या युक्त नही है ?

यद्यपि प्राकृत भाषा आज जन-भाषा नही है, तब भी वह अत्यन्त पठनीय है। जैसे अपने-अपने प्राचीन शास्त्र पढ़े जाते हैं, वैसे ही वर्तमान म विरचित ग्रन्थ अध्ययन योग्य क्यो नही होवे ? अत प्राकृत भाषा मे ग्रन्थ रचना करना विचार-शून्य नही है। इस उद्देश्यपूर्ति के सदर्भ मे मैं चन्दनमुनि का अभिनन्दन करता हूँ।

सम्पूर्ण साहित्य विधाओ मे कथा-साहित्य का गौरवमय स्थान है। कुवलयमाला, उपमितिभवप्रपच कथा आदि अनेक कथा ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उन्ही की परम्परा मे प्रस्तुत कथा ग्रन्थ भी सबद्ध होगा। कथाकार चन्दनमुनि ने कथा का सुललित प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। भाषा की दृष्टि से इसमे नए-नए प्रयोग है। चन्दनमुनि ललित भाषा और नए-नए प्रयोगो के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत कथा-प्रबन्ध मे यत्र-तत्र प्राकृत व्याकरण के उदाहरण दृग्गोचर होते हैं। जिस प्रकार मृदु प्रकृति मन को हरती है, उसी प्रकार कथा मे मृदु प्रयोगो का व्यवहरण मनोहर होता है। इसमे वाक्य-छोटे-छोटे सरल और सुन्दर हैं। उदाहरण के लिए चालीसवें पृष्ठ पर की ये पक्तियाँ पठनीय हैं —

"अइक्कतो गब्भकालो। सुहसुहेण पसविणी जाया भाणुमई। सव्वलक्खणसजुत्त उप्पण्ण पुत्तरयण। अव्वो ! सुण्ण घर गिहमणिणा सोहिअ। अभूअपुव्वो उस्सारो वट्टिओ सयणाण-मणम्मि। धण्णेण सेट्ठिणा लद्धो वसभाणू। दाणाइणीर-सित्तो फलिओ पुप्फिओ धम्म-कप्परुक्खो। णिभालिऊण अब्भग-मुहचद परमतुट्ठा भाणुमई। चिरपरिकप्पिओ दोहलो पूरिओ विहिणा। अणेगेहिं आणदिएहिं वयमेहिं गहिअ सेट्ठिस्सो पुण्णवत्त।"

मैं मानता हूँ कि सस्कृत-प्रकृतिमय प्राकृतभाषाओ से जनता द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। किन्तु उस भाषा का व्यवहरण

न रहने के कारण आज वह उपलब्ध नही है। तो भी कथाकार मुनि ने यत्र-तत्र देशी शब्दो के प्रयोग प्रस्तुत किए है। कही-कही देशी शब्दों के साथ संस्कृत सम शब्दो का संयोग कर्ण-अप्रिय-सा बन गया है। उदाहरण के लिए पृष्ठ २४ पर एक संदर्भ मे 'तक्कुअ जणेहिं'—ऐसा लिखा है, यहाँ 'तक्कुअ' देशी शब्द है, इसका अर्थ है—'स्वजन' इसके स्थान पर यदि 'सयणजणेहिं' (स्वजन जनैं) होता तो सुन्दर होता।

यद्यपि हरिभद्र सूरी ने यह प्रयोग किया है। कथाकार ने प्राचीन ग्रन्थो की प्रयोग पद्धति का अनुसरण कर ऐसे प्रयोग प्रस्तुत किए हैं किन्तु आज भाषा प्रबन्धो की दिशा म बहुत परिवर्तन अपेक्षित है।

प्रस्तुत निबन्ध की कथावस्तु प्राचीन है, परन्तु कथाकार न उसे नए परिवेश मे प्रस्तुत किया है, अत वह नई प्रतीत होती है। इस कथा प्रबन्ध म स्थान-स्थान पर शाश्वत तथ्यों का सगान हुआ है। निम्न पक्तियाँ पठनीय हैं—

"अहो! अलक्खिअ खु मोह-महारायस्स विडबण! पुत्तपोत्तेहिं परिवारिआ वि खिज्जति विरहिआ वि। दुरहिगमा चिर मोह-मइराए तणुवी अण्णाणरेहा। सुहसक्प्पिए वि दुह, दुहाइएवि सुह अब्भिडइ। वत्थुत्तो पोग्गलिअ आसत्ति-पल्हत्थ किं सुह किं दुह? इहगओ उरयारो वि परिणइ पत्तो पच्चक्ख सोआलिद्धो। हत! तहवि कसाय-कलुसिओ जीवो णो जहातच्च जिण-देसिअ धम्म सद्दहइ, पत्तिअइ, रोएइ य।" (पृष्ठ १६)

जिस प्रकार मणि मुक्ताहार की शोभा बढाता है, उसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त म निबद्ध नीति सूत्र ग्रन्थ के माहात्म्य को बढाने वाले हैं। कथाकार ने अनेक स्थानो पर इन नीति-सूत्रो का प्रयोग किया है। पृष्ठ ३२ मे प्रयुक्त यह नीति-वाक्य मननीय है—'आहार और व्यवहार मे लज्जा नहीं रखनी चाहिए, यह नीति-सूत्र इस संस्कृत श्लोक का उपजीवी है—

'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।'

रामचरित मानस के प्रणेता संत तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ मे अनेक संस्कृत श्लोको का समावेश अत्यन्त कुशलता से किया है। इसलिए काव्य की दृष्टि से रामचरित मानस का मूल्य बढ जाता है। इस ग्रन्थ का प्रत्येक अंश प्राचीन अनुभूतियो के प्रयोगो का समावेश अभिव्यक्त करता है।

विपय का उपसहार करते हुए मैं यह वहना चाहूंगा कि कयाकार ने इस कथा ग्रन्थ को प्रस्तुत कर **'पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेण'**— 'जो विकास करना चाहता है, उसे प्रतिस्रोत मे वहना चाहिए' की आगम उक्ति को चरितार्थ किया है। वर्तमान मे प्राकृत भापा मे ग्रन्थ रचना करना प्रतिस्रोत मे बहने से कम नहीं है।

महामना गुरुवर्य कालूगणी ने जो प्रयत्न किया था और महामना तुलसीगणी ने जिसको आगे बढाया, उसी दिशा मे यह कथा-प्रबन्ध महान् योगदायी सिद्ध होगा—यह कहा जा सकता है।

इसलिए कथाकार मुनि साधुवाद के पात्र है। इस कथा प्रबध का हिन्दी अनुवाद मुनि दुलहराज ने तथा सस्कृत छाया मुनि गुलाबचन्द ने प्रस्तुत की है। यह दोनो कार्य पूर्ण श्रम से सम्पादित हुए है। इनसे ग्रन्थ का गौरव बढा है और सस्कृत तथा हिन्दी पाठको के लिए पठन-पाठन की सरलता भी हुई है।

मैं यह चिर अभिलापा करता हूँ कि तेरापथ परपरा मे इस प्रकार की ग्रन्थ-सम्पदा निरन्तर बढती रहे।

वि० स० २०२७, माघ कृष्ण ६
वोरावड (राजस्थान)

—मुनि नथमल



FOREWORD

One of the impressive features of Jainism is its saying power It is generally assumed to have had its beginnings with the Tirthankara Pārsvanātha in the 8th century B C and though today it has only a relatively small body of adherents, it maintains a healthy, lively, and productive existence in both of its two great divisions

In the many contacts which I have had with both Jain munis and Jain laymen during the past forty three years I have observed the zeal with which the Jain community, both monks and laymen, preserves, studies publishes and preaches its literature and honors the Jain teachings in their living The Jains are not only a gentle people, but also a devoted and industrious people in conserving their faith Furthermore, in our own time as in the past, the Jain munis constantly produce new works of religious edification which may be written in English, but much more often in Gujrati, Hindi, Kanarese and other modern spoken languages of India and in Sanskrit as well, which learned Jain monks, like learned Hindu scholars, use for intellectual communication Most surprising in this diligence in producing

works in ancient and modern languages in the use in new publications of the canonical Ardhamagadhi and in the commentarial Jaina Maharashtri Prākrita. I have met monks whose fluency with Jaina Maharashtri is such they can speak extemporaneously in it when addressing public meetings. And there are some monks who can write freely in it and compose verses in it using the traditional metre specially the Arya. Such a product is Muni Chandanmal's Rayanavalakaha. From one point of view this work is a tour de force an astonishing achievement but it is also more than that. It is a work of devotion a product of religious devotion meant by the author to promulgate Eternal Truth as the Jain faith conceives it and by presenting those teachings in narrative form to make them more comprehensible to the world to stimulate zeal in spreading them. Whatever one's personal doctrines about cosmic order and religious belief one must regard such a motive as a noble one, which should be listened to attentively and a work so motivated must be respected.

W. Norman Brown

President American Institute of Indian Studies
Professor Emeritus of Sanskrit Pennsylvania University

अनुक्रमणिका

उगणवालु कुहा

अह सिरिचंदणमुणि-विरइआ

पाइअ-भासा-णिबद्धा-रयणवालकहा

तत्थ कव्वकारगस्स परमेट्ठि-पंचग-सहरूवं मंगलायरणं

आरिया-छंदाइं

विलसइ जत्थ अणंतं णाणाईणं चउक्कयं[1] सहजं ।
तेसिं अरहंताणं कुणेमि सरणं[2] सुभत्तीए ॥१॥

करिअ अट्ठकम्माणं समूल-णासं सहाव-संलीणा ।
जम्मावसाण-रहिआ सिद्धा मे सिद्धिदा होंतु ॥२॥

जेसिं महोवयारो वट्टइ सम्मत्त-नाण-दाणेहिं ।
तेसिं आयरिआणं को ण कयण्णू थुइं कुणइ ? ॥३॥

---

१ चतुष्कवम् २ स्मरणम् ।

अथ श्रीचन्दनमुनि-विरचिता

प्राकृत-भाषा-निबद्धा रत्नपाल-कथा

तत्र काव्यकारकस्य परमेष्ठि-पञ्चक-स्मृतिरूपं मंगलाचरणम्

आर्या-छन्दांसि

विलसति यत्रानन्तं ज्ञानादीनां चतुष्ककं सहजम् ।
तेषामर्हतां करोमि स्मरणं सुभक्त्या ॥१॥

कृत्वाऽष्टकर्मणां समूलनाशं स्वभाव-संलीनाः ।
जन्मावसान-रहिताः सिद्धा मे सिद्धिदा भवन्तु ॥२॥

येषां महोपकारो वर्तते सम्यक्त्व-ज्ञान-दाने ।
तेषामाचार्याणां को न कृतज्ञः स्तुतिं कुरुते ? ॥३॥

विज्जाणं वित्थारो सुलहो जेसिं समासओ हवइ ।
विज्झाविअ[1]-भव-तावा संतु सरण्णा[2] उवज्झाया ॥४॥

जेसिं दंसण-मेत्तं खवेइ भव्वाण कट्ठ-कोडीओ ।
इह तेसिं साहूणं पय-कमलं को ण पणमेइ ? ॥५॥

एवं परमेट्ठीणं पंचण्हं भाव-पूअणं किच्चा ।
अहमप्पण्णू कव्वं काउं सहसा पयट्टोम्हि ॥६॥

पर-पुग्गल-सत्ताणं कहं करिज्जइ सुहाण परिहासा[3]?
दुक्खाणं पि तहेव य, हंत! विचित्तोत्थि संसारो ॥७॥

किं हसणं, किं रुअणं, को सोओ,एत्थ को णु आणंदो?
पुग्गल-धम्माणं किर सव्वा खण-भंगुरा लीला ॥८॥

कहमेगम्मि वि जम्मे जीवो अणुहवइ कम्म-वेचित्तिं ।
कहा रयणवालस्स य णिदंसणं सम्ममिह अत्थि ॥९॥

कव्वछडा[4]-विरहिअमवि सहाव-सरसं कहाणयं महुरं ।
अणलंकिओ वि बालो णागरिसण-कारगो किं णु?॥१०॥



---

१ विध्यापितभवतापा. २ शरण्या.—शरणे साधवः ३ परिभाषा ४ काव्य-च्छटाविरहितमपि ।

विद्याना विस्तार. सुलभो येपा सकाशाद् भवति।
विध्यापित-भव-तापाः सन्तु शरण्या उपाध्यायाः ॥४॥
येपा दर्शन-मात्रं क्षपयति भव्याना कष्ट-कोटीः।
इह तेपा साधूना पद-कमल को न प्रणमति? ॥५॥
एवं परमेष्ठीना पञ्चाना भाव-पूजन कृत्वा।
अहमल्पज्ञ. काव्यं कर्तुं सहसा प्रवृत्तोऽस्मि ॥६॥
पर-पुद्‌गल-सक्ताना कथ क्रियते सुखाना परिभापा।
दु.खानामपि तथैव च हन्त! विचित्रोऽस्ति ससारः ॥७॥
किं हसन, किं रोदन, क. शोकोऽत्र को नु आनन्दः?
पुद्‌गल-धर्माणा किल सर्वा क्षणभङ्गुरा लीला ॥८॥
कथमेकस्मिन्नपि जन्मनि जीवोऽनुभवति कर्म-वैचित्रीम्।
कथा रत्नपालस्य च निदर्शन सम्यगिहास्ति ॥९॥
काव्यच्छटा-विरहितमपि स्वभाव-सरस कथानक मधुरम्।
अनलङ्कृतोऽपि बालो नाकर्पण-कारकः किं नु? ॥१०॥

१

पढमो ऊसासो



इओ किर अईए काले अत्थि पाइअ-सुंदेर-सोहिअ[1] बहुविहुज्जाण-पव्वय-परिमंडिअं पुरिमतालपुरं नाम णयर। तत्थ रज्ज-धम्म-णीइ-सुणिउणो तक्कर-पारदारिअ-पस्स-ओहराईसु कूरो वि परमसोमो भुअबल-परिकंपिअ-सत्तु-णिवहो अणलसो सूरसेणो णाम णिवई। अणेगे इब्भा सेट्ठिणो गाहावइणो अपरिहूअ-विहवा अमाण-मच्छरिणो तत्थ परिवसति। तेसिं मिअव्वयाण[2] पि धण सुसंप्पओग-म्मि णईसोत्तं पिव पवहइ। मायरं पिव पेच्छइ पर-जुवइ-जण तेसिं लज्जालुइणी[3] दिट्ठी। मणयमवि गरहिअं काऊण झत्ति पायच्छित्त पडिवज्जिउकामा तेसिं तत्त-परिपूआ मई।

---

१ प्राकृत सौन्दर्य-शोभितम् २ मितव्ययानामपि ३ 'गौणादय' इतिसूत्रेण साधु, लज्जालुरित्यर्थं

१

प्रथमः उच्छ्वास.

●

इत क्लि अतीते काले अस्ति प्राकृत-सौन्दर्य-शोभित बहुविधोद्यान-पर्वत-परिमण्डित पुरिमतालपुर नाम नगरम्। तत्र राज्य-धर्म-नीति-सुनिपुण, तस्कर-पारदारिक-पश्यतोहरादिषु क्रूरोऽपि परम-सोम, भुजबल परिकम्पित-शत्रु-निवह, अनलस सूरसेनो नाम नृपति। अनेके इभ्या श्रेष्ठिन, गाथापतय अपरिभूत-विभवा अमान-मत्सरिण तत्र परिवसन्ति। तेषा मितव्ययानामपि धन सुसम्प्रयोगे नदीस्रोत इव प्रवहति। मातरमिव प्रेक्षते पर-युवतिजन तेषा लज्जालु दृष्टि। मनागपि गर्हित कृत्वा झगिति प्रायश्चित्त प्रतिपत्तुकामा तेषा तत्व-परिपूता मति। इव परेद्यु वा कर्तव्य सुवि-

सुवे[१] परज्जु[२] वा कायव्व सुविहिअ एत्ताहे[३] कुणिमु 'त्ति तेसिं विसिट्ठा जागरणा। पाय धणसरा अवि ते परदुहम्मि दुक्खिया। दुस्सहो तेहिं खत्तिखमेहिं पि धम्मिओ पराहवो। आवडिए वहुकज्जभारे वि अबीअ[४] मुणति ते धम्मकज्ज। अहो! अच्छरिअ![५] तेसिं सहल[६] मणुअत्त पेच्छिऊण देवा अवि पडिफद्धति[७] तारिसा होउ।

तेसु सयल-पुरजण-समाणिओ मेढि-चक्खू-भूओ भद्दपयडी दयल्लहिअयो[८] जिणदत्तो णाम महेब्भो। सामाइअ-पडिक्कमण-पोसहोववासाइं सम्म पालेमाणो सुहसुहेण विहरइ। सो अतरप्पम्मि निरतर सावयाण तिण्णि मणोरहे भावेमाणो दुरुत्तरं दुरवगाह संसार-सायरं पार णेउं पयासइ। धण-संपयाओ बहुमण्णए सो धम्मसपय। सरिआजलं पिव गत्तर जुव्वण, विज्जू-पयास-निह च जीविअ, पुरा पच्छा वा चइअव्व सव्वमिण 'ति सरेंतो अप्पमाओ अच्छइ[९]। पाउसागमे मोरव्व भाविअप्पाण मुणिदचदाण दसण लहिआण पफुल्लमाणसो हवइ। तेसिं धम्मोवएस सद्धि वयसेहिं तत्त-ग्गहण-मईए सायर एगग्गमणो कु पलीकय[१०]-पाणिजुअलो आयण्णेइ।

तस्स सेट्ठिणो मणुअ-सरीर पत्ता विव अच्छरसा, पिंडीभूआ विव गुणसतई, सक्ख विणयसपया, वस-परपरा[११]-लद्धुच्च-सक्कारा, लज्जा-णमिअ-दिट्ठी, महुरववहारा भाणुमई णाम भारिआ। जाए नेत्त-कमला[१२] णिच्च उम्मिल्ला वि परजण-गयावगुणाइ[१३] दट्ठु मुद्दिअ-पम्हजुअला। जाए णव-

१ श्व २ परेद्यु ३ एत्ताहे इदानीम् ४ अद्वितीयम् ५ आश्चयम् ६ सफलम् ७ प्रतिस्पर्धन्ते ८ दयार्द्रहृदय ९ तिष्ठति १० मुकुलीकृत० ११ वशपरम्परा

हित 'इदानी कुर्म ' इति तेषा विशिष्टा जागरणा। प्राय धनेश्वरा अपि ते पर-दु खे दु खिता । दुस्सह तै क्षान्ति-क्षमैरपि धार्मिक पराभव । आपतित बहुकार्यभारेऽपि अद्वितीय जानन्ति ते धर्मकार्यम् । अहो ! आश्चर्यम् ! तेषा सफल मनुजत्व प्रेक्ष्य देवा अपि प्रतिस्पर्धन्ते तादृशा भवितुम् ।

तेषु सकल-पुरजन-सम्मानित मेधि-चक्षुर्भूत भद्रप्रकृति दयार्द्रहृदय जिनदत्तो नाम महेभ्य । सामायिक-प्रतिक्रमण-पौषधो-पवासान् सम्यक् पालयन् सुख सुखेन विहरति । स अन्तरात्मनि निरन्तर श्रावकाणा त्रीन् मनोरथान् भावयन् दुरुत्तर दुरवगाह ससार-सागर पार नेतु प्रयस्यति । धनसम्पत्त बहुमन्यते स धर्म-सम्पदम् । सरिज्जलमिव गत्वर यौवन, विद्युत्प्रकाशनिभ च जीवित पुरा पश्चाद् वा त्यक्तव्य सर्वमिदमिति स्मरन् अप्रमाद तिष्ठति । प्रावृडागमे मयूरवद् भावितात्मना मुनीन्द्रचन्द्राणा दर्शन लब्ध्वा प्रफुल्लमानसो भवति । तेषा धर्मोपदेश सार्धं वयस्यै तत्त्व-ग्रहण-मत्या सादर एकाग्रमना कुड्मलीकृत-पाणियुगल आकर्णयति ।

तस्य श्रेष्ठिन मनुजशरीर प्राप्ता इव अप्सरा, पिण्डीभूता इव गुणसन्तति, साक्षाद् विनयसम्पद्, वशपरम्परा-लब्धोच्च-सस्कारा, लज्जानमित-दृष्टि, मधुर-व्यवहारा भानुमती नाम भार्या । यस्या नेत्रकमलानि नित्यमुन्मीलितान्यपि परजनगतावगुणान् द्रष्टु मुद्रित-

---

लब्धोच्चसस्कारा १२ वाक्यथवचनाद्या (हे० १ ३३) इति सूत्रेण कमलशब्दस्य पुस्त्वम् १३ 'गुणाद्या क्लीबे वा' (हे० १-३४) इति सूत्रेण गुण-शब्दस्य नपु सकत्वम् ।

पीअ-कोमलो वि उरो गहिअ-पइण्णा-सरक्खणट्ठ वज्ज-कढिणो। जास वयणाइ सव्वेसि परमाल्हाय-जणगाइ। कुलमेरा च्चिय णाए परमा गरिमा[1]। गुरूण-पुरओ विणयसीला सा कयजली सव्वेहि दिट्ठा। केणावि कि पि साहिआ[2] तह 'त्ति' जुत्त 'ति' विकासर-वयणारविदाए पडिवज्जमाणाए एाए सम्म भाविअ। सिरीस-कोमलगी वि अवीसाम घर-कज्जं असेअ कुणमाणा पाडिवेसिएहिं[3] पससिआ। तम्हा सव्वेहि घर-ववहारेसु पुच्छिअव्वा सा पीइ-वीसभ-भायण जाया। पाडिप्फद्धिणो[4] वि अण्णत्थालब्भ ताए पेसगिअं महुर-ववहार पप्प विसुमरिअ-वेरभावा भूआ।

एव सव्वओ दाहिणभाव पडिवण्णो वि जिणदत्तो एगेण चितासल्लेण किचि उच्चेओ[5] वट्टइ। जमेगेण कुलदीवेण विहूण धण-धण्ण-भिच्च-किकर-पडिपुण्ण सुसज्जिअ सुमडिअ पि धवलगिह सुसाण-तुल्ल परिलक्खिज्जइ। हवि! केरिसो णिट्ठुरो किविणो विही!! ज केसिमवि ण सव्वगिअ सुहं तितिक्खेइ। सव्व-काम-समप्पिओ वि पुरिसो ईसि अणणुकूलत्तण पाम्मणुहवइ चेव। सुहासोअसि वि अहियाइ[6] काइ सुण्हा[7] कालकूड-रेहा। मणुअस्स णिडालम्मि कि भद्दमभद्द लिहिअ 'ति कि णज्जइ[8] अप्पण्णुणा मणुएण। तहवि अज्झत्थ-तत्त-निउणो आपाय-बधुर पि पेरत-दारुण पोग्गलिअ परिणाम मुणेंतो अतग्गय त चिता-सल्ल णाइ वहु

---

१ 'वमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्' (हे० १ ३२) इति नित्य स्त्रीत्वम् २ कथिता ३ प्रातिवेश्मिकै ४ प्रतिस्पर्धिनोऽपि ५ उद्वेग्न, यथा-आइग्ग उव्विग्ग उच्चेय

पक्ष्मयुगलानि । यस्या नवनीत-कोमलमप्युर गृहीतप्रतिज्ञा-संरक्षणार्थं वज्रकठिनम् । यस्या वचनानि सर्वेषां परमाह्लादजनकानि । कुल-मर्यादा एव तस्या परमो गरिमा । गुरूणा पुरत विनयशीला सा कृताञ्जलि सर्वै दृष्टा । केनापि कथिता 'तथेति' 'युक्तमिति' विकस्वरवदनारविन्दया प्रतिपद्यमानया यया सम्यग् भावितम् । शिरीष-कोमलाङ्गी अपि अविश्राम गृहकार्यं अखेद कुर्वाणा प्राति-वेश्मिकै प्रशंसिता । तस्मात् सर्वं गृह-व्यवहारेषु प्रष्टव्या सा प्रीति-विश्रम्भ-भाजन जाता । प्रतिस्पर्द्धिनोऽपि अन्यत्रालभ्य तस्या नैसर्गिक मधुरव्यवहार प्राप्य विस्मृत-वैरभावा भूता ।

एव सर्वत दक्षिणभाव प्रतिपन्नोऽपि जिनदत्त एकेन चिन्ताशल्येन किञ्चिद् उच्चेता वर्तते । यदेकेन कुलदीपेन विहीन धन-धान्य-भृत्य-किङ्कर-प्रतिपूर्णं सुसज्जित सुमण्डितमपि धवलगृह श्मशान-तुल्य परिलक्ष्यते । हन्दि ! (खेदे) कीदृशो निष्ठुर कृपणो विधि ? यत् येषामपि न सर्वाङ्गीण सुख तितिक्षते । सर्वकाम-समर्पितोऽपि पुरुष ईषत् अननुकूलत्व प्रायोऽनुभवत्येव । सुधासरोतसि अपि अभियाति काापि सूक्ष्मा कालकूट-रेखा । मनुजस्य ललाटे कि भद्रमभद्र लिखित-मिति कि ज्ञायते अल्पज्ञेन मनुजेन ? तथापि अध्यात्म-तत्त्व निपुण आपात-बन्धुरमपि पर्यन्त-दारुण पौद्गलिक परिणाम जानन् अन्त-

---

बुधमुत्तस्य (पाइयलच्छी० १३२) ६ अभियाति ७ सूक्ष्मा ८ ज्ञायते 'णो पव्वणज्जो' (हे० ४-२५२) ।

गणइ। एामुक्कार-महामत पडिच्छण सरमाणो सुह जीवण जवेइ[1]।

अह अण्णया समागओ कोमुई-महूसओ। तेए बहवे पउरा परिहिअ-णाणाविह-सोहण-णेवत्या महग्घाऽऽभरणा-लंकिअ-सरीरा सएहिं-सएहिं परिवारेहिं परिवुडा उज्जाएा-हिमुह वाहणेहिं पायचारेण वा साणद निग्गच्छंति।

इओ अ भाणुमई भोअणाइ-सयल-गिह-कज्जाओ निअट्टा समाणा सयग[2]-भवण-वायायणम्मि ट्ठिआ चउप्पह पलोएउं लग्गा। अकम्हा ताए दिट्ठो थीण समूहम्मि णिवडिया। जाओ विलयाओ[3] पुत्त-पोत्त-परिवारिआओ णाणा-कोड्डा-ससत्त-माणसाओ परोप्पर मिलंति, हसंति, रमंति, विविह-बालकहा वित्थारयंति अ। तासु काइ स-सिलब[4] अगुलिआए गहिऊण महुरमुल्लावेंती सणिअ सणिअ चलावेइ। अण्णा रुअत डिंभ विचित्ताणि कीलावणयाणि दावेऊण तुट्ठिमुप्पावेइ। इअरा 'कोडे कुणसु'[5] त्ति गहिअ[6]-हेयाय पोअ उट्ठावेऊण भद्द तयस्स-कमल चु बेमाणो सुहमणुहवइ। धण्ण-कण-भक्खणपर पारेवअ[7]-सदोह पेक्खिअ कोइ असण्णोभूओ बालो विचित्त-पण्हे पुच्छिअ अम्मय विम्हावेइ। काइ अग्गे वच्चत कम्पवि झडिल[8] दसिऊण णिअ अब्भअ सयराह[9] पलाएउ साहेइ। अवरा णाणापगार मिट्ठण्ण किणिअ[10] सिसु-मुहम्मि सवच्छल्ल पक्खिवइ। परा डिंभेहिं सम मण-पल्हायजणणि कह वित्थारेमाणो विविह-घर-कज्ज-जणिअ मत्थयत्थ खेअ सिढिलयइ। एआरिसा[11] णाणा-बालकीला-

१ यापयति 'यापेर्जव' (हे० ४-४०) २ स्वकभवनवातायने ३ वनिता 'वनितायाया विलया' (हे० २-१२८) ४ स्वशिशु। यथा—डहरो डिंभो चुल्लो,

गंत तत चिन्ताशल्य न बहु गणयति । नमस्कार-महामन्त्र प्रतिक्षण स्मरन् सुख जीवन यापयति ।

अथ अन्यदा समागत कौमुदी-महोत्सव । तेन बहव पौरा परिहित-नानाविध-शोभननेपथ्या महार्घ्याभरणाऽलङ्कृत-शरीरा स्वकै स्वकै परिवारै परिवृता उद्यानाभिमुख वाहनै पादचारेण वा सानन्द निर्गच्छन्ति ।

इतश्च भानुमती भोजनादि-सकल-गृह-कार्यात् निवृत्ता सती स्वक-भवन-वातायने स्थिता चतुष्पथ प्रलोकितु लग्ना । अकस्मात तस्या दृष्टि स्त्रीणा समूहे निपतिता । या वनिता पुत्र-पौत्र-परिवारिता नाना-क्रीडा-ससक्त-मानसा परस्पर मिलन्ति, हसन्ति, रमन्ते विविध-बालकथा विस्तारयन्ति च । तासु कापि स्व-सिलिब (स्व-शिशु) अगुल्या गृहीत्वा मधुरमुल्लापयन्ती शनै शनै चालयति । अन्या रुदन्त डिम्भ विचित्राणि क्रीडनकानि दापयित्वा तुष्टिमुत्पादयति । इतरा 'क्रोडे कुरु' इति गृहीत-हेवाक पोत उत्थाप्य भद्र तदास्य-कमल चुम्बन्ती सुखमनुभवति । धान्य-कण-भक्षणपर पारापत-सन्दोह प्रक्ष्य कोऽपि असशीभूतो बालो विचित्र प्रश्नान् पृष्ट्वा अम्बा विस्मापयति । कापि अग्र व्रजन्त कमपि जटिल दर्शयित्वा निज अर्भक शीघ्र पलायितु कथयति । अपरा नानाप्रकार मिष्टान्न क्रीत्वा शिशु मुखे सवात्सल्य प्रक्षिपति । परा डिम्भै सम मन प्रह्लादजननी कथा विस्तारयन्ती विविध-गृह-कार्यजनित मस्तकस्थ खेद शिथिलयति । एतादृश नाना-बालक्रीडा-

---

सिसू सिलवो य अब्भओ पोओ (पाइय० ६५) ५ 'क्रोडे कुरु' 'गोद म ले' इतिभाषा । ९ गृहीतहेवाक कृताग्रहमित्यर्थ १० पारापत-सदोहम् ११ जटा-धारिण १२ शीघ्रम् १३ कीला १४ बहुवचनमिदम् ।

निक्खित्त-चित्ता मयरा जाणु-कुप्पर-माऊए भाणुमईए दिट्ठा। तक्खणं सा पुत्त-वंझं णिअं उच्छंगं निहालेमाणी अगाह-सोअ-सायरम्मि णिमग्गा। हद्धी[1]! अफलो जाओ मे जम्मो! ऊ[2]! किं मए लद्धं णिरट्ठअं माणुसीत्तणं! थू[3]! णिल्लज्जेण विहिणा मोरउल्ला[4] णे समप्पिआ अउला अत्थ-संपया! ओ[5]! वीसुं[6] गाढमंधयारं पत्थरिअं दीसइ! हरे[7]! कस्स पुरओ दुहं पाउक्करेमि! धण्णाओ कय-पुण्णाओ णं एआओ अम्मयाओ जाहिं सक्खं-सुविहिअ-फलं पिव दुल्लहं पुत्त-मुह-हिमयर-दंसणं सुलद्धं। अहो! केरिसं णिरुवमं अणुहव-गमणिज्जं सुहं संवेअयंति ता, जाणं कण्ण-जुअलं कीलारय[8]-बाल-रोलेण पडिपुण्णं। अम्मो! तुडिअक्खरा पयड-वागरण-णिअम-विसढा[9] वि सावाण वाणी उच्छु-लट्ठित्तो वि अहिअयरं माहुरिअं पावेइ। अहह! कया एआरिसं सोवण्णिअं पच्चूहं पेच्छिस्सं, जया मामगमुच्छंगमवि अवच्च-हलप्फलिअं भविस्सइ। हहा! केवइआ अगणिआ जंत-मंत-तंताइआ उवरुवरि उवाया पुत्तट्ठं कया, किणो[10] ण केणावि किमवि पडिफलं दंसिअं? मणे[11] भास-रासिम्मि हुअं विव ते वंझत्तणं गया। ओ! केरिसं अववत्थिअं अविआरिअं जडाए पयडीए रज्जं, जत्थ ण किमवि जहारिहं दीसइ। अरे! जत्थ य दरिद्दस्स निच्चलो वासो तत्थ अवारा परिवारस्स वुड्ढी। जत्थ पुण मुत्ताहलेहिं भरिअं भंडायारं तत्थ एकल्लोवि[12] दुइआए नवल्लो चंदो ण दिट्ठीपहमोअरइ। एवं भाणुमई विविह-

१ हद्धी-निर्वेदे (हे० २-१९२) २ ऊ-गर्हाक्षेपविस्मयसूचने (हे० २-१९९) ३ थू-कुत्सायाम् (हे० २-२००) ४ मोरउल्ल मुधा (हे० २-२१४) ५ ओ-

निक्षिप्त-चित्ता मातर जानु-कूर्पर-मात्रा भानुमत्या दृष्टा । तत्क्षण सा पुत्र-वन्ध्य निज उत्सङ्ग निभालयन्ती अगाध-शोक-सागरे निमग्ना। हद्धी ! (निर्वेदे) अफल जात मे जन्म ! ऊ (गर्हायाम्) किं मया लब्ध निरर्थक मानुषीत्वम् ? थू ! (कुत्सायाम्) निर्लज्जेन विधिना मृधा अस्मभ्य समर्पिता अतुला अर्थसपत् ! ओ ! (पश्चात्तापे) विष्वग् गाढ अधकार प्रस्तृत दृश्यते ! हरे (क्षेपे) कस्य पुरतो दुःख प्रादुष्करोमि । धन्या कृतपुण्या ण (वाक्यालङ्कारे) एता अम्बा याभि साक्षात् सुविहित-फलमिव दुर्लभ पुत्रमुख-हिमकर-दर्शन सुलब्धम् । अहो ! कीदृश निरुपम अनुभवगमनीय सुख सवेदयन्ति ता, यासा कर्णयुगल क्रीडारत-बाल-कोलाहलेन प्रतिपूर्णम् ! अम्मो ! (आश्चर्ये) त्रुटिताक्षरा प्रकट-व्याकरण-नियम-विषमा अपि बालाना वाणी इक्षु-यष्टितोऽपि अधिकतर माधुर्य प्राप्नोति । अहह ! यदा एतादृश सौवर्णिक प्रत्यूष प्रेक्षिष्ये, यदा मामकमुत्सङ्गमपि अपत्य-व्याकुल भविष्यति ? हहा ! केवतिका अगणिता यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादिका उपर्युपरि उपाया पुत्रार्थ कृता, किणो ! (प्रश्ने) न केनापि किमपि प्रतिफल दर्शितम् । मणे (विमर्शे) भस्मराशौ हुत इव ते वन्ध्यत्व गता । ओ ! (पश्चात्तापे) कीदृश अव्यवस्थित अविचारित जडाया प्रवृत्त्या राज्य, यत्र न किमपि यथार्ह दृश्यते । अरे ! (सभापणे) यत्र च दारिद्र्यस्य निश्चलो वास तत्र अपारा परिवारस्य वृद्धि, यत्र पुन मुक्ताफलै भरित भाण्डागार, तत्र एकोऽपि द्वितीयाया नवश्चन्द्र न दृष्टिपथमवतरति । एव भानुमती विविध विकल्प-ताप-परितप्ता एक्कसरिअ (झगिति) सशब्द परिदेवितु आरब्धा ।

सूचनापश्चात्ताप ६ विष्वक् ७ हरे-क्षेपे च (हे० २-२०२) ८ क्रीडारत-बालकोलाहलेन ९ बालाण—बालानाम् १० प्रत्यूष ११ किणो प्रश्न (हे० २-२१६) १२ मणे विमर्शे (हे० २-२०७) १३ स्तोनवैत्राद्या (हे० २-१६५) ।

विकप्प-ताव-परितत्ता एक्क-सरिअ[1] ससद्द परिदेविउमाढत्ता[2]। सकज्जल-बाहनीरेण उज्जल गडतल मलिण काउ लग्गा। अलाहि[3] णेण मणोरह-सूण्णेण जीवणेण' ति हिमाणी-दड्ढा भिसिणी[4] व्व विलीण-सुसमा जाया। णीसासूसासमता वि लोहार-चम्म-कोसिअव्व पायड-[5] चेअण-केअणावि चेअणा-रहिआ निव्वुत्ता।

अहो! अलक्खिअ खु मोह-महारायस्स विडवण! पुत्तपोत्तेहिं परिवारिआ वि खिज्जंति विरहिआ वि। दुरहिगमा किर मोह-मइराए तणुवी[6] अण्णाणरेहा। सुह-सकप्पिए वि दुह, दुहाइएवि[7] सुह, अब्भिडइ[8]। वत्थुत्तो पोग्गलिअ आसत्ति[9]-पल्हत्थ किं सुह, किं दुह? इहगओ उत्थारो[10] वि परिणइ-पत्तो पच्चक्ख सोआलिद्धो[11]। हत! तहवि कसाय-कलुसिओ जीवो णो जहातच्च जिण-देसिअ धम्म सद्दहइ, पत्तिअइ, रोएइ य।

इओ एगवए[12] तत्थ जिणदत्तो सेट्ठी पेयसी[13]-ससीम-मागओ। अंसु-ण्हाय ताए मिलाण मुह-कमल पेक्खिऊण किंपि असोहण 'ति सकिओ अउल वेयणमणुहवतो सप्पणय महुरमहुरयाए गिराए साहेउ पउत्तो—"दे[14] माणिणि! कीस तुम अज्ज-विमणायमाणी लक्खिज्जसि! को णु इर[15] एआरिसो मदभग्गो जणो जेण भवईए मणो पईविओ[16]। ज्झत्ति[17] भणसु, तस्स दुट्ठक्खर-घडिअ णामधेयं, जहा ह त णिगिण्हेमि। कय-दुस्साहसस्स कढोर-पायच्छित्त-दाणेण तस्स दप्प ओसारेमि[18]। कोमल[19]-कव्वडेण अहर-ट्ठिआइ

---

१ 'एक्कसरिअ झगिति सप्रति' (हे० २ २१३) २ आरब्धा लग्ना ३ अलाहि निवारणे (हे० २ १८२) ४ बिसिनीव-कमलिनीव ६ प्रकटचेतनकेतनापि

सकज्जल-वाष्पनीरेण उज्ज्वल गण्डतल मलिन वर्तु लग्ना । अलाहि (निवारणे) अनेन मनोरथ-शून्येन जीवनेन, इति हिमानी-दग्धा विसिनीव विलीन-सुषमा जाता । नि श्वासोच्छ्वासमती अपि लोहकार-चर्मकौशिका इव प्रकट-चेतन-केतना अपि चेतना-रहिता निर्वृत्ता ।

अहो अलक्षित खु (निश्चये) मोहमहाराजस्य विडम्बनम् । पुत्र-पौत्रै परिवारिता अपि खिद्यन्ते, विरहिता अपि । दुरधिगमा किल मोहमदिराया तन्वी अज्ञानरेखा । सुख-सङ्कल्पितेऽपि दु ख, दु खायितेऽपि सुख सगच्छते । वस्तुत पौद्गलिक आसक्ति-पर्यन्त किं सुख, किं दु खम् ? इहगत उत्साहोऽपि परिणतिं प्राप्त प्रत्यक्ष शोकाश्लिष्ट । हन्त ! तथापि कषाय-कलुषितो जीव न यथातथ्य जिन-दर्शित धर्म श्रद्धत्ते, प्रत्येति, रोचते च ।

इत एकपदे तत्र जिनदत्त श्रेष्ठी प्रेयसी-मर्ममागत । अश्रुस्नात तस्या म्लान मुख-कमल प्रेक्ष्य किमपि अनीमनमिति शङ्कित अतुला वेदना अनुभवन् सप्रणय मधुर-मधुरया गिरा कथयितु प्रवृत्त —"हे मानिनि ! कस्मात् त्व अद्य निमनायमाना लक्ष्यसे ? को नु एतादृश मन्दभाग्यो जन, येन भवत्या मन प्रतीपितम् ? झगिति भण, तस्य दुष्टाक्षर-घटित नामधेय, यथा अह त निगृण्हामि । कृतदुस्साहसस्य कठोर प्रायश्चित्त दानेन तस्य दर्प अपसारयामि । कोमलकर्पटेन अधर-स्थितान् वाष्पबिन्दून् मुञ्चम्

वाह-बिंदूइं लुंछमाणो भत्ता सोअ-कारणं मग्गिउं लग्गो। परंतु तुण्हिक्काए पणइणीए ण एगमवि अक्खरं वागरिअं, पच्चुल्लं[1] तुडिअ-मुत्ताहल-मालं पिव नेत्तंवुधारं वासेमाणी अईव दुक्खिआ जाया।

पाणसमे ! कहं मोणमालंबिअ दइअं दुहयसि ! अमुणिअ[2]-तत्थेण मए कहं दुह-पडिआरो कायव्वो ? धी ! धी ! तं गिहत्थासमं जत्थ पडिकूलयावण्णो इत्थिआ-जणो मणम्मि विसीअइ। णिवडिआ च्चिय मुणेअव्वा तत्थ घोरा विवया विज्जू जत्थ अवमण्णिज्जइ णारी-वग्गो पुरिसमत्तेण। परं णाहं चएमि[3] सहेउं मे अद्धंगिणीए णिवारणारिहं दुहं, एवं भणमाणेण सेट्ठिणा उवऊढा दइआ, पुणो पुणो अणुरुद्धा आयण्णिउं अयंड-समुट्ठिअं[4] सोअ-कारणं।

पइणा परम-पेम्म-पोसिआ भज्जा किंचि पयडित्था[5] जाया। पइदेवस्स अहिणदणं कुणमाणीए तीए कहं कहमवि जाणाविओ णिअ-सोअ-वइअरो। अज्जउत्त ! अज्जाहं भोयणाईणं कसिणं घर-कज्जं संगोविअ गवक्खम्मि ट्ठिआ। अतक्किआ मे दिट्ठी णिवडिआ चउप्पहम्मि आहिंडमाणे पुत्त-पोत्त-परिवारिए विलयाजणे। तं पेच्छिअ मे हिअयम्मि काइ पसुत्ता पुत्त-कामणा जागरूआ जाया। अहह ! धण्णाओ एआओ भामणीओ[6], जाणं पुरओ धूलि-धूसरिआ मम्मणुच्चारा जंपिच्छिआ[7] हसमाणा रुवेमाणा वियक्क[8]-हेवागा पागा[9] कीलन्ति, रमंति, पलोट्टंति च। अहयं[10]

१ प्रच्युत २ अज्ञाततथ्येन 'णो जाणमुणो' (हे० ४-७) ३ चएमि-शक्नोमि यथा-सक्कइ चयइ 'य' तरेइ पारेइ (२६७ पाइ० नाममाला) ४ अकाण्ड-समुत्थ 'अयंडमणवसर' (पाइय० ८-३६) ५ प्रकृतिस्था ६ भागिन्य, ७ पुन्नागभा

भर्ता शोक-कारण मार्गयितु लग्न । परन्तु तूष्णीकया प्रणयिन्या न एकमपि अक्षर व्याकृतम्, प्रत्युत, त्रुटित-मुक्ताफल-मालामिव नेत्राम्बुधारा वर्षयन्ती अतीव दु खिता जाता ।

प्राणसमे ! कथ मौनमालम्ब्य दयित दु सयसि ? अज्ञाततथ्येन मया कथ दु ख प्रतीकार कर्त्तव्य । धिग् ! धिग् ! गृहस्थाश्रम यत्र प्रतिकूलतापन्न स्त्रीजनो मनसि विषीदति । निपतिता एव ज्ञातव्या तत्र घोरा विपद-विद्युत् यत्र अवमन्यते नारी-वर्ग पुरुषमात्रेण । पर नाह शक्नोमि सोढु मे अर्द्धाङ्गिन्या निवारणार्ह दु खम् । एव भणता श्रेष्ठिना उपगूढा दयिता, पुन पुन अनुरुद्धा आवर्णयितु अकाण्ड-समुत्थित शोककारणम् ।

पत्या परम-प्रेम-पोपिता भार्या किञ्चित् प्रकृतिस्था जाता । पतिदेवस्य अभिनन्दन कुर्वत्या तया कथ कथमपि ज्ञापितो निजशोक-व्यतिकर । । आर्यपुत्र ! अद्याह भोजनादीना कृत्स्न गृह-कार्य सगोप्य गवाक्षे स्थिता ! अतर्किता मे दृष्टि निपतिता चतुष्पदे आहिण्डमाने पुत्र-पौत्र-परिवारिते वनिताजने । त प्रेक्ष्य मे हृदये कापि प्रसुप्ता पुत्रकामना जागरूका जाता । अहह ! धन्या एता भगिन्य यासा पुरतो धूलि-धूसरिता मन्मनोच्चारा जपिच्छिआ (यत्किमपि मार्गणशीला) हसन्तो रुदन्तो विष्ठितहेवाका पाका क्रीडन्ति, रमन्ते,

---

गिन्योर्गोम (हि० १-१६१) ■ जिसे देखता है उसे चाहने वाला । यथा—जपिच्छइ तपिच्छइ जो सो जपिच्छिओ भणिओ (६५२ पाइ०) ■ विरोध्या प्रहा । ६ पाका १० अहमेव-अहय ।

तु केरिसी अहण्णा अपुण्णा ऊसरधरणी-संकासा जीए णो एगमवि बीअं परिफुडिअं भूअं । इहइं भुवणतले ओअरिअ[1] केवलमहं इत्थी-ओलीए[2] विद्धुाएं पत्ता ।

पियवर ! ण कहं खेओ जायए मे वज्ज-कढोरम्मि हिअयम्मि ? केत्तिओ कालो बोलोणो[3] पयट्टे अम्हाणं पाणिग्गहणे; तहवि ण अल्लिविअ[4] देवेण कुलदीवगं एगमवि अवच्चं । णाऽऽयण्णिआ सुमिणे वि जाय-कहा । पत्थुआ अणेगे उवाया थोववेलाए[5] आसा-पयासं दंसिअ अंते फेण-बुब्बुअ-संनिहा अदिट्ठा जाया । कुलभक्खरं विणा को णु एआरिसीए महालच्छीए संरक्खिरो[6] भविस्सइ ? सयल-पुरजण-पयट्ठिअं भवओ अहिआए कि ण णाम पम्हुट्ठं[7] होहिइ आगामि-वंसपरंपराए ? एवं सगग्गयक्खरं भणमाणी भाणुमई पुणरवि रोत्तुमाढत्ता ।

अंतो संधुक्किअ[8] सोअ-जलणं कहकहमवि णिवाविऊण[9] सेट्ठिणा कहिअं—"सुहवे ! तत्तविआणिरी[10] भविआवि कहमुल्लंविआइं निरट्ठ-चिताविआणाइं ? ण याणासि किं अणुल्लंघणिज्जा हु दइविणी[11] रेहा ? वहणिज्जो च्चिय अणि-च्छिअव्वो वि पामरेण जतुणा कय-कम्माण भारो । किं ण अणुचिट्ठामो अम्हे पइदिअहं पुत्तवडिआए कमवि कमवि उवायं, तहावि ण होइ जड फलीभूआ अम्हाणं आसा. तयाणि अंतराय[12]—विअंभिअमेव मुणेअव्वं तं ।

अज्जवि ण विणट्ठं किमवि । पणट्ठा होज्जा जइ

१ अवतीर्य २ स्त्रीपङ्क्ती ३ व्यतीत ४ अर्पित (अर्पेरल्लिव-चच्चुप्प-पणामा हे० ४-३९) ५ स्तोकवेलाया 'स्तोकस्य थोक्क-थोव-थेवा' (हे०

प्रलुठन्ति च । अह तु कीदृशी अधन्या अपुण्या ऊपर-धरणी-सकाशा यस्या न एकमपि बीज परिस्फुटित भूतम् । इह भुवनतले अवतीर्य केवलमह स्त्री-आलया विन्दुस्थान प्राप्ता ।

प्रियवर ! कथ खेदो जायते भवत वज्रकठोरे हृदये ? कियान् कालो व्यतीत प्रवृत्ते अस्माक पाणिग्रहणे, तथापि न अर्पित देवेन कुलदीपक एकमपि अपत्यम् । नावर्णिता स्वप्नेऽपि जात-कथा । प्रस्तुता अनेके उपाया स्तोकवेलाया आशा-प्रकाश दर्शयित्वा अन्ते फेन-बुद्बुद्-सन्निभा अदृष्टा जाता । कुलभास्कर विना को मु एतादृश्या महालक्ष्म्या सरक्षिता भविष्यति ? सकल-पुरजन-प्रतिष्ठित भवत अभिधान किं न नाम विस्मृत भविष्यति आगामि-वश-परम्परायाम् ? एव सगद्गदाक्षर भणन्ती भानुमती पुनरपि रोदितु आरब्धा ।

अन्त सधुक्षित शोकज्वलन कथकथमपि निर्वाप्य श्रेष्ठिना कथितम्—"सुभगे ! तत्व-विज्ञात्री भूत्वापि कथ उल्लम्बितानि निरर्थ-चिन्ताविताननि ? न जानासि किं अनुल्लघनीया 'पु (खलु अर्थे) दैविकी रेखा । वहनीय एव अनेष्टव्योऽपि पामरेण जन्तुना कृतकर्मणा भार । किं न अनुतिष्ठाम वय प्रतिदिन पुत्र-प्रतिज्ञया कमपि कमपि उपाय, तथापि न भवति यदि फलीभूता अस्माक आशा तदानी अन्तराय-विजृम्भितमेव ज्ञातव्य तत् ।

अद्यापि न विनष्ट किमपि । प्रनष्टा भवेयु यदि घनोत्करा इव पुण्य-प्रभञ्जन-स्फेटिता प्रत्यूहा । भवेत् शीघ्रमेव फलित, पुष्पितो

२-१२५) ६ सरक्षिता, शीलाद्यर्थेरयेर (हे० २-१४७) ७ विस्मृतम् ८ जाज्वल्यमानम् ९ निर्वाप्य १० तत्वविज्ञात्री ११ दैविकी १२ अन्तरायविजृम्भितमेव ।

घणुक्केरा[1] इव पुण्ण[2]-पहंजण-फेडिया पच्चूहा । हवेज्ज सयराहमेव[3] फलिओ पुप्फिओ णे मणोरह-कप्परुक्खो । अत्थि आसा अमरधणं' ति पसिद्धा लोग्गुत्ती । तम्हा ण हयासेहिं होअव्वं अम्हेहिं ।"

तक्खणमेव तत्थ पाउब्भूअं जक्खजक्खिणी-जुअलं । रुग्रंति भाणुमइं-अणुकंपमाणीए जक्खिणीए अग्गे गच्छंतं जक्खदं अणुरुज्झिऊण दरिसणं दिण्णं । जिण्णासिअं सहाणूह-पुण्णेहिं महुरसद्देहिं ताए चिराए पओअणं । परुण्णवयणाए[4] भाणुमईए तं जुअलं पणमिअ पवेइअं सव्व-मवि सोअ-कारणं । पुत्तवंसं सुण्णं जीविअं णाईं[5] चिरं सहेउं सक्कं । अज्जतणं सुदिणं अम्हेच्चयं, जम्मि दिव्वं दरिसणमणायासं लद्धं । नूणं णट्ठा पच्चूहा । उइण्णाइं[6] मंगलाइं । पवुड्ढं[7] गुहोदक्केण[8] । अणाचिक्खणीयप्पहावा[9] हवंति खलु वुंदारया[10] । कुव्वंतु अणुग्गहं । जओ हवंति अणुग्गहसीला महाणुभावा । इत्थं विणयमाणी भाणुमई णिवडिआ तेसिं चलणेसुं ।

न (अस्माकम्) मनोरथकल्पवृक्ष । 'अस्ति आशा अमरधनम्' इति प्रसिद्धा लोकोक्ति । तस्मात् न हताशै भवितव्य अस्माभि. ।

तत्क्षणमेव तत्र प्रादुर्भूत यक्ष-यक्षिणी-युगलगम् । रुदती भानुमती अनुकम्पयानया यक्षिण्या अग्रे गच्छन्त यक्षेन्द्र अनुरुध्य दर्शन दत्तम् । जिज्ञासित सहानुभूतिपूर्ण मधुरशब्दै तया चिन्ताया प्रयोजनम् । प्रहसितवदनया भानुमत्या तद् युगल प्रणम्य प्रवेदित सर्वमपि शोक-कारणम् । पुत्र-वन्ध्य शून्य जीवित न चिर सोढु शक्यम् । अद्यतन सुदिन अस्मदीय, यस्मिन् दिव्य दर्शन अनायास लब्धम् । नून नष्टा प्रत्यूहा । उदीर्णानि मङ्गलानि । प्रवृद्ध शुभोदर्केण । अकथनीय-प्रभावा भवन्ति खलु वृन्दारका । कुर्वन्तु अनुग्रहम् । यत भवन्ति अनुग्रहशीला महानुभावा , इत्थ विनयमाना भानुमती निपतिता तेपा चरणयो ।

अत्रान्तरे हृदयालु-यक्षाधिपतिना अवधि प्रयुज्य विलोकित तेषा भविष्यम् । विमनायमानेन यक्षेशेन प्रत्युत्तरित तत्कालम्—"इभ्यवर ! व्रीडितोऽह भवामि वर अर्पयितुम् । शृणु, भविष्यति ते पुत्रो लक्ष्मी-प्रणाशेन सार्धम् । त्यक्तव्य युवाभ्यामपि इद पुरगृहादिकम् । पुनोऽपि वृद्धि लप्स्यते पर-हस्तगत । किं अर्पयामि वरम् ?"

यथा—

सयराह नवरि य दुत्ति झत्ति सहसत्ति इक्कसरिअ च ।
अनिहाविअ इक्कवए अतक्किअ लक्खण सहसा ।

—(पाइयलच्छी० १७)

४ प्ररुदितवदनया ५ नअण णाह ननर्थे (हे० २-१९१) ६ उदीर्णानि ७ वृद्ध ८ शुभोदर्केण ९ अकथनीया १० वृन्दारका —देवा ११ व्रीडित — लज्जित १२ अर्पयितुम् १३ अर्पयामि ।

हरिस[५] वस-विसप्पमाणहिअया उम्मिसिअ[६]-वयणार-विंदा भाणुमई पइणो पुव्वमेव साहेउ पउत्ता–"अहिएादएा, अहिएादएा भे वरस्स। अणुग्गहउ जक्खणाह ! लच्छी-विणिमयेण लब्भामो जइ अम्हे कुलभक्खरस्स दरिसए। ण एत्थ वीमसणिज्ज किंचि वि। पुत्तविहूणाए विच्छुभइ[३] पडिपल हिअयं। पुत्त दट्‌ठूण सव्व त दरिद्द-जणिग्र दुक्ख विम्हरिग्र[१] अविरसइ। तम्हा देव ! कुणउ किव। तक्काल विवालुणा जक्खण तहत्थु 'त्ति पणामिग्र वर। पजलिउडेहिं ठिय जपईहिं। ग्रतद्ध[७] पत्त तक्खए जक्खजुअल।

वइक्कतो कोइ कालो। ससत्ता[४] जाया भाणुमई। उव्वेलिओ[५] जाओ हरिस-पारावारो। गुव्विणी सेट्ठिणि 'त्ति सव्वेहिं तवगुअ-जणेहिं[६] णाय साणद। किंतु चिर-सचिआ विभूई अणुदिए पलाएउ पउत्ता। एगओ आय-ण्णिज्जइ[७] ज विविह महग्घ विक्केज्ज-भरिआ तरणो मज्झे-समुद्द वुड्‌डा। परओ सदेसो पत्तो ज वरयइ गोहूमाईग धण्णाए महाभडायार अवम्हा अग्गिणा डज्झ। अण्णओ-दविट्ठ-देसाओ पउत्ती लद्धा ज अमुगो पमुहो वाणोत्तरो[८] गग्ग गणय घत्तूण पलाइओ। इओ वावारेसु वि सव्वेसि वरयूग भावा मदत्तग गया। छसु मासेसु गिट्ठो गमतओ दाविद्देण पराइओ। रम्मगरा भिच्चा वाणिज्जिआ[११] निरपरिनिआ वि सेट्ठि मोत्तूण परसतिआ[१२] भूआ। तहेव मित्ता[१३] सयणा दायदा सहयरा वि विमुहीभूआ।

हर्षवश-विसर्पद्-हृदया उन्मिषित-वदनारविन्दा भानुमती पत्युः पूर्वमेव कथयितुं प्रवृत्ता—"अभिनन्दनम्! अभिनन्दनम्! भवतो वरस्य, अनुगृह्णातु! अनुगृह्णातु! यक्षनाथ! लक्ष्मी विनिमयेन लभामहे यदि वयं कुल-भास्करस्यदर्शनम्। न अत्र विमर्शनीयं किञ्चिदपि। पुत्रविहीनानां विक्षुभ्यति प्रतिपलं हृदयम्। पुत्रं दृष्ट्वा सर्वं तद् दारिद्र्य-जनितं दुःखं विस्मृतं भविष्यति। तस्माद् देव! करोतु कृपाम्।" तत्कालं कृपालुना यक्षेण 'तथास्तु' इति अर्पितं वरम्। प्राञ्जलिपुटाभ्यां स्थितं दम्पतीभ्याम्। अन्तर्धानं प्राप्तं तत्क्षणं यक्षयुगलम्।

व्यतिक्रान्तः कोऽपि कालः। ससत्त्वा जाता भानुमती। उद्वेलितो जातो हर्ष-पारावारः। 'गुर्विणी श्रेष्ठिनी' इति सर्वैः तक्कुअजनैः (स्वजनजनैः) ज्ञातं सानन्दम्। किन्तु चिरसञ्चिता विभूतिः अनुदिनं पलायितुं प्रवृत्ता। एकतः आकर्ण्यते यत् विविध-महार्घ्य-विक्रेय-भरिता तरणी मध्ये समुद्रं खण्डिता। परतः सन्देशः प्राप्तो यत् कुत्रापि गोधूमादीनां धान्यानां महाभाण्डागारं अकस्मात् अग्निना दग्धम्। अन्यतः दविष्ठ-देशतः प्रवृत्तिः लब्धा यत् अमुकः प्रमुखः वाणोत्तरो गुर्वीं सम्पदं गृहीत्वा पलायितः। इतः व्यापारेष्वपि सर्वेषां वस्तूनां भावाः मन्दत्वं गताः। षट्सु मासेषु श्रेष्ठी समन्ततः दारिद्र्येण पराभूतः। कर्मकराः भृत्याः वाणिजिकाः, चिरपरिचिता अपि श्रेष्ठिनं मुक्त्वा परसत्ता भूताः। तथैव मित्राणि, स्वजनाः, दायादाः, सहचराः अपि विमुखीभूताः। स्थावराः जङ्गमा अपि च

सगर्भा ७ उद्वेलित ८ तक्कुअजन-स्वजन (देशीय) ९ आकर्ण्यते १० वाणा-न्तर —देशीय शब्द 'मुमास्ता' इतिभाषा ११ वाणिज्यकराः १२ परसत्ता-परवीमा इत्यर्थं १३ पु० न० यथा—मित्तो, सही, वयसो (पाइयलच्छी १६१)

थावरा जंगमा वि य तत्थगया संपया उत्तमण्णेहिं[१] अहिकया। भूमि-गयं दविणमवि अदिट्ठं केणावि अवहडं। एत्तिएण जिणदत्तो थेवसमयम्मि वि णिस्सो[२] जाओ। सेट्ठिणा चिंतिअं-हरे! किमेअं जायं! केरिच्छा वंस-परंपरा-संचिआ सिरिआ अब्भविलायं विलोणा। विचित्तं विहिणो विलसिअं। सुमिणे वि अलक्खिआ वासरा पच्चक्खं समोइण्णा। अईव पच्चभिण्णाया[३] सिणेहिणो वि विगलिअ-सोहद्दा संवुत्ता।

धी धी! सत्थपरा जगस्सपीई! को कस्स[५] त्ति ण साहेउं सक्कं। तहावि केरिसं ममत्तं? विचित्ता मुच्छा। अवागरणिज्जा आसत्ती। अहो वड्डखेड्डमेयं[४]! जे मज्झ सयासाओ अच्चंत-लहूभूआ तुच्छा अकिंचणा गुरुत्तणं गया, जावज्जीवं णो भे उवयारं पम्हुस्सामु[६] त्ति वयमाणा संता एत्ताहे सव्वे वि विमुहा विदूरगा जाया। नूणं ण कस्सइ दोसो, भविअव्वयाए चावल्लमिणमो। अहवा ण आइट्ठं किं पुव्वमेव जक्ख-पुंगवेण? ता अलमेत्थ चिंताए। तितिक्खामो पत्तआलं[७] विवयं। कराकड्ढिअं[८] कट्ठं कहमण्णहा भविस्सइ!

समागओ सत्तमो मासो गुव्विणीए भज्जाए। पइदिण लद्धासुह[९]-उअंतेण वुण्णावि सा गब्भगयं तेअं पेच्छमाणो अंतो सुहमणुहवइ। एगया समयण्णुआए भाणुमईए पइदेवं पइ णिवेइअं—अज्जउत्त! पयट्टिज्जइ मे गब्भस्स सत्तमेण मासेण। किं णाइं अहिगमिज्जई[१०] भवया पुत्तणिमित्तं किंपि अणुट्ठाणं? केरिसो अम्हकेरा[११] णयरम्मि पईट्ठा? पढमिल्ले

१ उत्तमर्ण-दायकैः २ निःस्व-निर्धन ३ प्रत्यभिज्ञाता ४ महत्कौतुकमिदम

तत्रगता सम्पद् उत्तमर्णं अधिहृता । भूमिगत द्रविणमपि अदृष्टे केनापि अपहृतम् । एतावता जिनदत्त स्तोत्र-गमयेऽपि निस्वो जात । श्रेष्ठिना चिन्तितम्—"हे ! किमेतद् जातम् ? कीदृशा वज्रपातसमा-स्मिता श्री अभ्रविलाय विलीना । विनिद्र निर्धेनत्विताम् । स्वप्नेऽपि अलक्षिता वासरा प्रत्यक्ष समवतीर्णा । अतीव प्रत्यभिज्ञाता स्नेहिनोऽपि विगलित-सौहार्दा मनुसा । '

धिग् । धिग् । स्वार्थपरा जगत प्रीति । न कस्य इति न ग्रथयितु दारयम् । तथापि कीदृश ममत्वम ? विचित्रा मूर्च्छा ! अन्यासक्त्या आसक्ति ! अहो ! वड्डगंडड्ड (महत्त्वानुक) एतत् । ये मम गत्रागात् अत्यन्तलघुभूता, तृष्णा, मोचना गुरुत्व गता । 'यावज्जीव न भवत उपकार विस्मरिष्याम' इति वदन्त सन्त अधुना गतेऽपि विमुखा विदूरगा जाता । नून न कस्यापि दोष भवितव्यताया चापल्यमिदम् । अथवा न आदिष्ट कि पूर्वमेव यशपुत्रेण ? तस्मात् अलमत्र चिन्तया । तितिक्षामहे प्राप्तराज विपदम् । शासदृष्ट यत्र एष अन्यथा भविष्यति ?

समागत सप्तमो मासो गुर्विण्या भार्याया । प्रतिदिन सन्ध्यानुमो-दनेन उत्पत्तापि सा गर्भगत तेज प्रेक्षमाणा अन्त सुखमनुभवति । एकदा समयज्ञया भानुमत्या पतिदेव प्रतिनिवेदितम् "आर्यपुत्र । प्रवर्तते मे गर्भस्य सप्तमेन मासेन, किं न अधिगम्यते भवता पुत्र-निमित्त किमपि अनुष्ठानम् ? कीदृशी अस्मदीया नगरे प्रतिष्ठा ?

वड्डगेड्डमिति, देशीय शब्द २ प्राप्तारान ६ वज्रकूटद् ७ नव्यन्नुमोदनेन ८ मुधा-उत्पत्ता ९ प्रवर्तते १० अधिगम्यते ११ अस्मदीय ।

अवसरम्मि साहारणा अवि जणा जहारिहं किमवि काउं पयासेति। भवं तु लद्धपइट्ठो राइणावि परमसम्माणणिज्जो वट्टइ, कहं णो परिलक्खिज्जइ सामइयं पइट्ठाणुरूवं किच्चं ?

अज्झत्थचिंतामिलाणेण सेट्ठिणा भणियं–पिआ! सामाइयं सत्तमासिअं 'आघरणि'[1] त्ति णामगं किच्चं ण मए अलक्खिअं। पइट्ठाणुरूवं सव्वं साहुं करेमि'त्ति अहिलसइ मे उच्छुओ मणो। परं विहवेण विणा सव्वाओ दिसाओ सुण्णाओ। तव्वइरित्तो केरिसो महूसवो! हा! सच्चा हु एसा जणस्सुइ जं "दरिद्दसमो परामवो णत्थि" हन्त! किं करेमि? कत्थ वच्चेमि? विहिए वि पयत्ते कस्स वि सगासाओ ण पत्तं हवइ उद्धाररूवंपि धणं। सयणा तु संकहमवि[2] ण कुणंति। चिरपरिचिआ खु मित्ता अच्छिमेलणमवि कुणंता वीलन्ति। किमिवि जायहिइ'त्ति संकंता दूरओ पलायंति।

दारिद्द-दुक्खिअं पइदेवं पेक्खिऊण समय-दक्खाए भाणुमईए भणिअं–णाह! ईइसो एस संसारो। सत्थपरायणा एत्थ कसिणावि पउत्तो। अणुऊलम्मि दिव्वम्मि सव्वे पारेक्का णिआएंति[3]। पडिऊलम्मि सगा[4] अवि हवेज्जा पारकेरा। हद्धी! विविरीयम्मि विहिम्मि अंगलग्गाणि वत्थाणि वि पडिवक्खत्तणं पडिवज्जेंति। तहवि ण णेअव्वा हीणभावणा, ण छिंदणिज्जा आसा-रज्जू, ण हायव्वो य पयत्तो। हवेज्ज पयत्त-जल-अब्भुक्खिआ[5] कयाइ फलीहूआ आसावल्ली। तक्केमि अहयं जहा मम्मणो णाम इब्भो

१ आघरणी-गाधपुराई–गर्भवती के सातवें महीने का महोत्सव २ सापा-

प्राथमिके अवसरे साधारणा अपि जना यथार्हं किमपि कर्त्तुं प्रयस्यन्ति। भवान् तु लब्धप्रतिष्ठ राज्ञाऽपि परमसम्माननीय वर्तते, कथ नो परिलक्ष्यते सामयिक प्रतिष्ठानुरूप कृत्यम् ?

अध्यात्म-चिन्ताम्लानेन श्रेष्ठिना भणितम्—प्रिये ! सामयिक सप्तमासिक 'आघरणी' इति नामक कृत्य न मया अलक्षितम्। 'प्रतिष्ठानुरूप सर्व साधु करोमि' इति अभिलषति मे उत्सुक मन। पर विभवेन विना सर्वा दिश शून्या। तद्व्यतिरिक्त कीदृशो महोत्सव ? हा ! सत्या खलु एषा जनश्रुति यत् "दारिद्र्यसम पराभवो नास्ति" हन्त ! किं करोमि ? कुत्र व्रजामि ? विहितेऽपि प्रयत्ने कस्यापि सकाशात् न प्राप्त भवति उद्धाररूपमपि धनम्। स्वजना तु सकथामपि न कुर्वन्ति ? चिरपरिचितानि खलु मित्राणि अक्षिमेलनमपि कुर्वन्त व्रीडन्ति। 'किमपि याचिष्यते' इति शङ्कमाना दूरत पलायन्ते।

दारिद्र्य-दु खित पतिदेव प्रेक्ष्य समय-दक्षया भानुमत्या भणितम्—"नाथ ! ईदृश एव ससार। स्वार्थ-परायणा जन कृत्स्नापि प्रवृत्ति। अनुकूले दैवे सर्वे परकीया निजायन्ते। प्रतिकूले स्वका अपि भवेयु परकीया। हद्धी (हा धिक्) विपरीते विधौ अङ्गलग्नानि वस्त्राणि अपि प्रतिपक्षत्व प्रतिपद्यन्ते। तथापि न नेतव्या हीनभावना, न छेदनीया आशारज्जु, न हातव्यश्च प्रयत्न। भवेत् प्रयत्न-जलाम्युक्षिता कदापि फलीभूता आशावल्ली। तर्कयामि अह यथा मन्मनो

गपि-'आपसी बातचीत' ३ निजायन्ते ४ स्वका ५ प्रतिपक्षत्वम् ६ प्रयत्नजलाम्युक्षित १—सिपिक्ता इत्यर्थ ।

तुम्ह परम-पीइमंतो बाल-सहयरो। आवडिए एआरिसे विवया-समये भवेज्ज सहायगो कयाइ। एगहुत्तं[1] पुणो तस्स परिक्खा कायव्वा मह कहएोण।

मम्मएास्स किलिट्ठ-किवणिमाए पञ्चभिण्णाओ वि सेट्ठी वीसत्थभज्जाए पुणो पुणो पेरिओ तग्गेह[2]-हुत्तं गतुमणो जाओ। मग्गे गच्छंतो जहा-जहा समीवयइ[3] तस्स दढमुट्ठिणो घर तहा-तहा उव्विग्गं जायइ अंतोकरणं। छि छि! जीवसि तुम जिणदत्त! अहमाहमं जायग-भावं उररीकुणमाणो! किं एा जायणाओ-मरणं पवित्तं? तुराए चलमाएा सेट्ठिणो चलएा तत्थेव थंभिआ जाया। धीरमालं[4]-बिऊएा पुणो विचिंतेइ—अलमलं एोएा आउलत्तणेण। णूणं पुरिसआर-जेयं[5] सव्वदुक्खं'ति विभावेमाणो पुणो अग्गओ चलिओ। इत्थं विसाइअंतक्करणो[6] कहकहमवि पत्तो मम्मण-सेट्ठिणो हम्मिअं[6]।

विसण्ण-वयण आगच्छत जिणदत्तं एिभालिअ मम्मएो विम्हिओ जाओ। तक्खएां उट्ठिऊण ससंभमं अहिमुहं गओ। सागयं' ति वयमाणो आसएा-दाएोएा संतोसिओ। 'किमागमणकारएा' इअ णीसंकं पुच्छिओ। महुर-वयएोहिं पुण समासासिओ।

विअलिअ-हिययेणावि जिणदत्तेण पाउक्कया मणोवेअणा। मित्तवर! किं कहेमि अकहणिज्जं वइयरं। आवडिओम्हि भीसणे विवयाजाले। विहिआ विविहा पयत्ता विहलीहूआ। अंतम्मि वालसहयरं तुमं आसाए आलंबएां

---

१ एकवारम् २ मम्मनगृहाऽभिमुखम् ३ समीपयति ४ दृढमुष्टे —कृपणस्य

नाम इभ्यो युष्माक परमप्रीतिमान् बालसहचर । आपतिते एतादृशे विपत्-समये भवेत् सहायक कदाचित । एकवार पुन तस्य परीक्षा कर्त्तव्या मम कथनेन ।'

मन्मनस्य विलष्ट-कृपणतया प्रत्यभिज्ञातोऽपि श्रेष्ठी विश्वस्त-भार्यया पुन पुन प्रेरित तद्गृहाभिमुख गन्तुमना जात । मार्गे गच्छन् यथा यथा समीपयति तस्य दृढमुष्ठे गृह तथा तथा उद्विग्न जायते अन्त करणम् । (छि ! छि !) (धिग् ! धिग !) जीवसि त्व जिनदत्त ! अधमाधम याचकभाव उररीकुर्वन् ? किं न याचनात मरण पविश्रम् ? त्वरया चलन्तौ श्रेष्ठिनश्चलनौ तत्रैव स्तम्भितौ जातौ । धैर्यमालम्ब्य पुन विचिन्तयति—अलमल अनेन आकुलत्वेन । नून पुरुषकारजेय सर्व दु खम्, इति विभावयन् पुन अग्रत चलित । इत्थ विपादितान्तकरण कथ कथमपि प्राप्त मन्मनश्रेष्ठिन हुम्यम् ।

विषण्णवदन आगच्छन्त जिनदत्त निभाल्य मन्मनो विस्मितो जात । तत्क्षण उत्थाय ससम्भ्रम अभिमुग गत । 'स्वागतम्' इति वदन् आसनदानेन सन्तोषित । कि आगमनकारणम्' इति निस्सक पृष्ट । मधुरवचनै पुन समाश्वासित ।

विचलित-हृदयेनापि जिनदत्तेन प्रादुष्कृता मनोवेदना । मित्रवर ! किं कथयामि अकथनीय व्यतिकरम् । आपतितोऽस्मि भीषणे विपज्जाले । विहिता विविधा प्रयत्ना विफलीभूता । अन्ते बालसहचर

---

५ धीर धैयम् इर्ढंयॅ (हृ० १ १२५) ६ पुरुषकारजेयम्-पौरुषजयमित्यथ
७ विपादितान्तकरण ८ हुम्मिय-देशीय-हर्म्यमित्यर्थ ।

जाणिअ एत्थ आगओ। करीयउ[1] सामग्गिअं साहेज्जं किंचि। जहा मे आवण्ण-सत्ताए भज्जाए सत्तमासिओ गब्भ-महूसओ सुसंपन्नो हवेज्जा। तएजारिसाए[3] कए ण किमवि दुक्करं। सहि! को पविसइ कस्स वि देहली-देसं गाढकारणं विणा जाएउं। एव वयंतो सेट्ठी बाह[4]-जलाउल-लोअणो जाओ।

सुणिआण[5] जिणदत्तस्स पत्थणं किविणमणो मम्मणो विआर-णिमग्गो जाओ। किं पडिवयणं दायव्वं 'ति वीमंसणपरो संवुत्तो। 'आहारम्मि ववहारम्मि य चत्तलज्जेणं होअव्वं'ति चिंतिऊण मत्थअं धुणमाणो मम्मणो वयासी-मित्त! णिवडिओ म्हि अपेच्छिज्जमाण[10]-णीसरणमग्गे चिंताजाले। एगओ मे अज्जपभिइ पालिअमदाणव्वयं, अण्णओ परमसहयरस्स सामइयं पत्थणं। किं करेमि, कहिं वच्चेमि'ति ण णिण्णेइ मे मुज्झमाणं माणसं। जाणामि अहमवि विवय-वसंवयाणं ठिइं, तहावि असमत्थोम्हि सिणिद्ध! अस्सि विसयम्मि किंपि काउं।

तवा-विणयकंधरो जिणदत्तो पुणरवि भणइ-भायरं! णाह दाणरूवं धणं इच्छेमि, किंतु उद्धाररूवेण। जइ दाउमिच्छसि तरिहिं दरिससु उआरभावणं।

पगइ-महालुद्धो मम्मणो आयइ-पावणिज्जं धणं संकेतो पुणरवि साहेउं लग्गो-"बंधुवर! किमवरं भणीयइ", वत्थुविणिमयेण विणा किमवि दाउं अक्खमो म्हि अहं। वत्थु-

१ क्रियताम् २ आपन्नसत्त्वाया,—गर्भवत्या ३ त्वादृशानाम् ४ वाष्पजलाकुललोचन। वाष्पे होऽश्रु णि (हे० २७०) ५ श्रुत्वा 'क्त्वस्तुमत्तूणतुआणा.' (हे० २-१४६) एते क्त्वा प्रत्ययस्यादेशा. सुआणस्य रूपमिदम् १० अप्रेक्ष्यमाण

त्वा आशायाः आलम्बनं ज्ञात्वा अत्र आगतः। म्रियतां सामयिकं साहाय्यं किञ्चित्। यथा मे आपन्नसत्वायाः भार्यायाः सप्तमासिकः गर्भमहोत्सवः सुसम्पन्नः भवेत्। त्वादृशानां कृते न किमपि दुष्करम्। सखे! कः प्रविशति कस्यापि देहलीदेशं गाढकारणं विना याचितुम्। एवं वदन् श्रेष्ठी बाष्प-जलाकुल-लोचनो जातः।

श्रुत्वा जिनदत्तस्य प्रार्थनं कृपणमना मम्मनो विचार-निमग्नः जातः। 'किं प्रतिवचनं दातव्यं' इति विमर्शनपरः सवृत्तः। 'आहारे व्यवहारे च व्यक्तलज्जेन भवितव्यं' इति चिन्तयित्वा मस्तकं धुन्वन् मम्मनः अवादीत्—"मित्र! निपतितोऽस्मि अप्रेक्ष्यमाण—निःसरण-मार्गे चिन्ताजाले। एकतः मे अद्यप्रभृति पालितं अदानव्रतम्, अन्यतः परम-सहचरस्य सामयिकं प्रार्थनम्। 'किं करोमि? कुत्र व्रजामि?' इति न निर्णयति मे मूढात् मानसम्। जानामि अहमपि विपद्-वश-ंवदानां स्थितिं, तथापि असमर्थोऽस्मि स्निग्ध! अस्मिन् विषये किमपि कर्त्तुम्।"

त्रपा-विनत-कन्धरः जिनदत्तः पुनरपि भणति—"भ्रात! नाहं दानरूपं धनं इच्छामि, किन्तु उद्धार-रूपेण यदि दातुं इच्छसि तर्हि दर्शय उदार-भावनाम्।"

प्रकृति-महालुब्धो मम्मनः आयति-प्रापणीयं धनं शङ्कमानः पुनरपि कथयितुं लग्नः—"बन्धुवर! किमपरं भण्यते, वस्तुविनिमयेन विना किमपि दातुं अक्षमोऽस्मि अहम्। वस्तु-परावर्तनं यद् किमपि

-निःसरणमार्गे ७ निर्णयति ८ स्निग्ध! मित्रमित्यर्थः ९ त्रपाविनतकन्धरः १० भ्रात! 'नाम्न्यरं वा (हे० ३-४०) इति सम्बोधने वाऽरम्, यथा—हे पिअर! हे पिअ! ११ भण्यते।

परावत्तेण ज किमवि जहारिह गहेउ सक्केइ भवतो। हत ! एआरिसी विज्जइ मे जीवण-सगिणी पइण्णा।

मिलाणीहूअ-वयण-कमलेण जिणदत्तेण भणिअ–"अरे ! रक्खणारिह[1] जइ भवेज्ज वत्थुजाय तयाणि तव्विणिमयेण सति सय दायारा इमीए णयरीए। इणमेव महाकट्ठ ज णत्थि किमवि तारिस वत्थु। भाय ! तओ किंचि पुणरवि दत्तावहाणो होहि।"

"अणुवायो म्हि अहमेत्थ, किं बहुणा। हवइ मह पइण्णा-भगो। ता वच्चउ अण्णत्थ जहासुह, सति अणेगे उआरमाणसा धणिणो णयरम्मि" फुड वज्जरिअ[2] वज्जकढोरेण मम्मणेण।

कत्थ परत्थ गतव्व'ति चिंतापरो सेट्ठी अतम्मि गब्भ-गय-पुत्त-विणिमयेण दविण गिण्हेमि'त्ति कयविणिच्छयो जाओ। किंचि वीमसिऊण जिणदत्तेण दीह-णीसासेण सद्धि पयडीकय–"सट्ठी[3] ! जइ ण इच्छसि विणिमयेण विणा किमवि दाउ, तया मम भारियाए गब्भ रक्खिऊण दायव्व जहारिह धण।"

आयण्णिअ जिणदत्तस्स भणिइ तक्काल ससम्मय[4] समओ मम्मणो। साहु णिण्णीअ सहयरेण। अवच्च-विणिमयेण ज किंपि इच्छेसि त गहसु, अविलबिअ दाउमणो म्हि।

तक्खण जाओ एगो पइण्णा-लेहो[5]। जहा "जम्मणतर पुत्तो मम्मणगिहम्मि पुत्तरूवेण वुड्ढि लहिस्सइ। विणिवुत्त-बालभावो कय-सुट्ठु-विज्जाज्झयणो जया हवेज्जा तयाणि मम्मण-सेट्ठिणा सो धणमज्जेउ पवासम्मि पट्ठाविअव्वो[6]।

यथार्हं गृहीतु शक्नोति भवान् । हन्त ! एतादृशी विद्यते मे जीवन-सङ्गिनी प्रतिज्ञा ।"

म्लानीभूत-वदन-कमलेन जिनदत्तेन भणितम्—"अरे ! रक्षणार्हं यदि भवेत् वस्तुजात तदानी तद्विनिमयेन सन्ति शत दातार अस्या नगर्याम् । इदमेव महत्कष्ट यत् नास्ति किमपि तादृश वस्तु । भ्रात ! तत किञ्चित् पुनरपि दत्तावधानो भव ।"

"अनुपायोऽस्मि अहमत्र, किं बहुना ! भवति मम प्रतिज्ञा-भङ्ग । तस्माद् व्रजतु अन्यत्र यथासुखम्, सन्ति अनेके उदारमानसा धनिनो नगरे"—स्फुट कथित वज्रकठोरेण मन्मनेन ।

'कुत्र परन गन्तव्य'—इति चिन्तापर श्रेष्ठी अन्ते गर्भगतपुन-विनिमयेन द्रविण गृह्णामीति कृतनिश्चयो जात । किञ्चिद् विमृश्य जिनदत्तेन दीर्घनि श्वासेन सार्धं प्रकटीकृतम्—"सखे ! यदि न इच्छसि विनिमयेन विना किमपि दातु तदा मम भार्याया गर्भ रक्षित्वा दातव्य यथार्हं धनम् ।"

आकर्ण्य जिनदत्तस्य भणितिं तत्काल सम्मद सम्मतो मन्मन । साधु निर्णीत सहचरेण । अपत्य-विनिमयेन यत किमपि इच्छसि तद् गृहाण, अविलम्बित दातुमना अस्मि ।

तत्क्षण जात एक प्रतिज्ञालेख, यथा –"जन्मानन्तर पुत्रो मन्मन-गृहे पुत्ररूपेण वृद्धि लप्स्यते । विनिवृत्त-बालभाव कृतसुष्ठु-विद्याध्य-यनो यदा भवेत् तदानी मन्मनश्रेष्ठिना स धन अर्जयितु प्रवासे

१ रक्षणार्हं २ वज्जरिअ—कथितम् यथा—वज्जरिअ सिद्ध-सूइय उप्फालिय पिसुणियाइ साहिअय (पाइयलच्छी १४५) । ३ सखे ! ४ सहर्षं ५ प्रतिज्ञालेख ६ प्रेषणीय ।

जया सो तत्थ धणमज्जेऊण णिअं पुरं पडिवलिओ संतो सवुड्ढिअं गहिअं धणं पच्चप्पिऊण[1] णिअं पेइअं[2] गिहं गंतुमरिहो भविस्सइ" एआरिसो उभयसंमओ लेहो पंचणयरप्पमुहाणं हत्थक्खरेहिं सच्चविओ[3] गहिओ जिणदत्तेण मम्मणेण य। लब्विणिमयेण[4] पत्तं जिणदत्तेण दीनार-सहस्सं।

इओ य चिरं पडिवालेइ[5] पइ-प्पवेसं अत्थचिंतासंतत्ता भाणुमई। कहं णाइ[6] समागया अज्जउत्ता दविणं गहेऊण? किं कुण्णा[7] दारिद्देण अम्हकए[8] सव्वावि वसुंधरा? किं सव्वेहिं विसंभरिआ कयण्णुआ? समेहिं सहयरेहिं अवि पामुक्का[9] अच्छि-लज्जावि?

तक्खणं मिलाण-वयणारविंदा सणिअं सणिअं भवणं पविसमाणा पइदेवा दिट्ठोपहमोइण्णा मग्गं पेच्छंतीए ताए। झत्ति संमुहमागच्छंतीए णाए किं भूअं'ति अदिहिमंताए[10] पुच्छिअं।

विहिअ-अकरणिज्ज कज्जेण वाहिज्जमाणो[10] सेट्ठी तुण्हिक्को[11] जाओ। मइ विहिअं किच्चं माइहिअया भज्जा अणुजाणिहिइ[12] ण व 'त्ति संकाउलो जाओ। एत्थंतरम्मि पइणा जहाकयं कज्जं पियाए पुरओ जहातहं पाउक्कयं, पच्चप्पिअं पुण दीणार-सहस्सं। अयसरण्णू विणयसहावा भाणुमई 'अज्जउत्ता पमाणं'ति वयमाणा मोणावलंबिणी जाया।

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए-पुत्त-परखण-जवन्नदंसण-इड्ढिवय्याइ-भावसंजुत्ताए रयणवालकहाए पढमो ऊमागो समत्तो ॥१॥

प्रत्यापितव्य । यदा स तत्र धन अर्जयित्वा निज पुर प्रत्यावलित सन् सवृद्धिक गृहीत धन प्रत्यर्प्यं निज पैतृक गृह गन्तुमर्हो भविष्यति।" एतादृश उभय-सम्मत लेख पन्च-नगर-प्रमुखाणा हस्ताक्षरै सत्यापितो गृहीतो जिनदत्तेन मन्मनेन च । तद्-विनिमयेन प्राप्त-जिनदत्तेन दीनार-सहस्रम् ।

इतश्च चिर प्रतिपालयति पति-प्रवेश अर्थ-चिन्ता-सतप्ता भानुमती । यथ न समागता आर्यपुत्रा द्रविण गृहीत्वा ? किं स्पृष्टा दारिद्र्येण अस्मत्कृते सर्वापि वसुन्धरा ? किं सर्वं विस्मृता कृतज्ञता ? समं सहचरै अपि प्रमुक्ता अखिलज्जापि ?

तत्क्षण म्लान-वदनारविन्दा शनै शनै भवन प्रविशन्त पतिदेवा दृष्टिपथमवतीर्णा मार्ग प्रेक्षमाणाया तस्या । झगिति सम्मुख आगच्छन्त्या तया किं भूत' इति अधृतिमत्या पृष्ठम् ।

विहिताकरणीय-कार्येण बाध्यमान श्रेष्ठी तूष्णीको जात । 'मम विहित कृत्य मातृहृदया भार्या अनुज्ञास्यति न वा इति शङ्काकुलो जात । अत्रान्तरे पत्या यथाकृत कार्यं प्रियाया पुरत यथातथ प्रादुष्कृत, प्रत्यर्पित पुन दीनार-सहस्रम् । अवसरज्ञा विनयस्वभावा भानुमती 'आर्यपुत्रा प्रमाणम्' इति वदन्ती मौनावलम्बिनी जाता ।

इति श्रीचन्दनमुनि विरचिताया पुत्रप्रार्थन—यक्षदत्तान
ऋद्धिक्षयादिभावसयुक्ताया रत्नपालकथाया
प्रथम उच्छ्वास समाप्त ।

---

१ प्रत्यर्प्यं २ पैतृकम् ३ सत्यापित —प्रलोकित ४ तद्विनिमयेन ५ प्रतिपालयति ६ स्पृष्टा ७ अस्मत्कृते ८ पामुक्का-परित्यक्ता, यथा—पामुक्क, विच्छडिडय, अवहत्थिय उज्झिय, चत्त (पाइयलच्छी १३८) ९ क्तान्तिमरा घृतेर्दिहि (हे० २ १३१) १० बाध्यमान ११ तूष्णीक मौनी १२ अनुज्ञास्यति ।

२

विइओ ऊसासो



पायसो गयाणुगइआ लोआ। अणणुकूले दइवम्मि सव्वगिअम्मि[1] विवयसमयम्मि वि सुहसमय-णिव्वहणिज्ज परपरा-पइट्ठाइअ खणिअगारव-दसगं आडबरिल्लं कज्ज ण परिचाएउमिच्छति अहिमाणधणा जणा। सुवे[2] किं हविस्सइ 'त्ति ण परामुसति अज्जत[3]—कालमपेच्छमाणाणि माणध-लोअणाणि।

जिणदत्तेणावि विहिअं पिइपिआमह-गारव-गज्जिअं सत्तमासिअं गब्भमह[4]। भोइआ णाणाविह-असण-पाण-खाइम-साइमेहिं वधुजणा। सम्माणिआ जहोचिअ-सम्माण-दाणेण पुव्वजा पुज्जा। सतोसिआ पुण कुलाणुरूव विअरणेण मगलपाढका कुलगुरुणोवि।

---

१ सर्वाङ्गीणे 'मर्वाङ्गादीनस्येक' (हे० २ १५१) २ श्व एवरवरे श्व-

२

द्वितीय· उच्छ्वासः



प्रायश गतानुगतिका लोका । अननुकूले दैवे सर्वाङ्गीणे विपत्-समयेऽपि सुखसमयनिर्वहणीय परम्परा प्रतिष्ठापित क्षणिक-गौरव-दर्शक आडम्बरवत कार्यं न परित्यक्तु इच्छन्ति अभिमानधना जना । 'इव किं भविष्यति' इति न परामृशन्ति आयतिकाल अप्रे क्षमाणानि मानान्धलोचनानि ।

जिनदत्तेनापि विहित पितृ-पितामह गौरव-गर्जित सप्तमासिको गर्भमहोत्सव । भोजिता नानाविधअशन-पान खादिम-स्वादिमैर्बं-न्धुजना । सम्मानिता यथोचितसम्मान-दानेन पूर्वजा पूज्या । सन्तोपिता पुन कुलानुरूप वितरणेन मङ्गलपाठका कुलगुरवोऽपि ।

स्वे (हे० २-११४) ३ उत्तरकाल, यथा—'आयइ अज्जतकाल च' (पाइयलच्छी ६३५) ४ पु न गर्भमहोत्सव ।

अइक्कतो गब्भकालो । सुहंसुहेण पसविणी जाया भाणुमई । सव्वलक्खणसजुत्त उप्पण्ण पुत्तरयण । अव्वो ! सुण्ण घर गिहमणिणा साहिअ । अभूअपुव्वो उत्थारो[1] वट्टिओ सयणाण-मणम्मि । धण्णेण सेट्ठिणा लद्धो वसभाणू । दाणाइ-णीर-सित्तो फलिओ पुप्फिओ धम्म-कप्परुक्खो । णिभालिऊण अब्भग-मुहचद परमतुट्ठा भाणुमई । चिरपरिकप्पिओ दोहलो[2] पूरिओ विहिणा । अणेगेहिं आणदिएहिं वयसेहिं गहिअ सेट्ठित्तो पुण्णवत्त[3] ।

जाहे णाया मम्मणेण जिणदत्तस्स पुत्तुप्पत्ती, सयराह-मेव पेसिआ तत्थ णिअया किंकरा पुत्त णेउ । आगय तेहिं जिणदत्तस्स हम्मिअम्मि, साहिअ च—"मम्मणसतिआ अम्हे णवजाय सिलिंव[4] णिणेउ सपत्ता एत्थ तयादेसेण[5] ।"

तम्मग्गणं निसमिआण[6] सेट्ठी छिण्ण-हिअयो जाओ एगपए । हा हा ! अहुणेव मग्गणा ! एआरिसो अवीसभो[7] ? तहवि णिअ-भाव सगोवेमाणेण तेण दीणमुहेण उईरिअ— "भद्दा ! अज्जेव जाओ पुत्तजम्मो । अहुणापेरत ण कओ को वि खणो । ण ठविअ पुत्त-णामधिज्ज । ण भूआ पीइ-भोअण।इ विही । पत्थेह ससामि-"भो ! जहा सो चिरावेइ[8] किंचि । तइय वत्थु निच्चल तस्स समप्पिस्स णाइ कोइ सदेहो । किंतु किवाए सत्तवीस अहोरत्ते पडिवालेउ[9] सो उआरहिअयो महाणुहावो ।"

---

१ उत्साह (हि० २-४८) २ गर्भिण्या मनोरथ ३ हीरइ ज आणद, त

अतिक्रान्तो गर्भकाल । सुखसुखेन प्रसविनी जाता भानुमती। सर्वलक्षणसयुक्त उत्पन्न पुत्ररत्नम् । अव्वो (आनन्दे) शून्य गृह गृहमणिना शोभितम् । अभूतपूर्व उत्साहो वर्तित स्वजनाना मनसि । धन्येन श्रेष्ठिना लब्धो वशभानु । दानादि-नीर-सिक्त फलित पुष्पितो धर्मकल्पवृक्ष । निभालयित्वा अर्भकमुखचन्द्र परमतुष्टा भानुमती । चिरपरिकल्पितो दोहद पूरितो विधिना । अनेकै आनन्दितै वयस्यै गृहीत श्रेष्ठित पूर्णपात्रम ।

यदा ज्ञाता मन्मनेन जिनदत्तस्य पुत्रोत्पत्ति, शीघ्रमेव प्रेपिता तत्र निजका किकरा पुन नेतुम् । आगत तै जिनदत्तस्य हर्म्यं कथित च—"मन्मनसत्का वय नवजात सिसिव (बाल) नेतु सम्प्राप्ता अत्र तदादेशेन ।"

तन्मार्गण निशम्य श्रेष्ठी छिन्नहृदयो जात एकपदे । हा ! हा ! अधुनैव मार्गणम् ? एताहश अविश्रम्भ ? तथापि निज भाव सगोपयता तेन दीनमुखेन उदीरितम्—"भद्रा ! अद्यैव जात पुन जन्म ! अधुनापर्यन्त न कृत कोऽपि क्षण । न स्थापित पुत्रनामधेयम् । न भूत प्रीतिभोजनादिविधि । प्रार्थयत स्वस्वामिन भो ! यथा स चिरायते किञ्चित् । तदीय वस्तु निश्चल तस्मै समर्पयिष्यामि न कोऽपि सन्देह । किन्तु सप्तविंशति अहोरात्रान् प्रतिपालयतु स उदारहृदयो महानुभाव ।"

वत्थ पुणवत्ता ति (पाइय० ६४२) ४ शिशु ५ तदादेशेन ६ निशम्य ७ अविश्रम्भ अविश्वास ८ चिरायते ९ प्रतिपालयतु ।

पच्चावलिआ[1] भिच्चा। कहिओ वइअरो जहावत्त। अवीसत्थो मम्मणमणो चिंताउलो जाओ। मा ण गहिअ धणधय भारिया-विइओ[2] जिणदत्तो कत्थइ पलाएज्जा, तम्हा अहं पुव्वमेव सरक्खण करेमि 'त्ति चिंतिअ तक्खण हक्कारिआ[3] तेण णिअय-संतिआ सत्थपाणिणो पुरिसा। आणत्त[4] पुण तेसिं "सावहाणेहिं तुम्हेहिं जिणदत्त-भवणस्स पुरओ चिट्ठिअव्व, पेच्छिअव्व अहोणिस जहा ण किमवि अणिट्ठ सावगासं हवेज्जा। अईए णिच्छिए काले अब्भग[5] गहिअ मे समीवमागंतव्व" ति।

सत्थपाणिणो पुरिसा खिप्पामेव तत्थ आगया, आवासस्स अग्गओ सावहाण ठिआ। को णीहरइ, पविसइ' त्ति सलक्ख सोवयोग जोएउ[6] लग्गा।

विहिओ सेट्ठिणा अपुव्वो दारय-जम्म-महूसवो। अणे-गाण सुहसदेसा पत्ता। अणेगे सुवे[7] जणा तत्थ समिलिआ। कय पइट्ठाणुरूव पीइभोअणाइकिच्चं। दिण्ण जहोचिअ दाण। ठविअ पिउच्छाए[8] दारयस्स रयणवालो 'त्ति सुह णामधिज्ज। परम-पेम्म-पोसिआ कोडु बिआ गया णिअय णिअय ठाणं छाव[9] सुहासीसाहिं वद्धावेंता।

खणा व्व अलक्खिआ सत्तावीसा राइंदिआ वोलीणा। परमपिय[10]-पुत्तदरिसण-पच्चूह-कारगो पच्चूहो[11] उदय पत्तो। पच्चुट्ठिआ[12] मम्मणसतिआ पुरिसा दारग हत्थेउ[13]। हत! अज्ज अइउआर पि जिणदत्त-हिअय अईव

---

१ प्रत्यावलिता २ भार्याद्वितीय ३ आकारिता ४ आज्ञप्तम् ५ अर्भकम्-बाल ६ द्रष्टु लग्ना ७ स्व-स्वकीया ८ पितृस्वसा ९ शाव-शिशु १० परम-

प्रत्यावर्लिता भृत्या । कथितो व्यतिकरो यथावृत्तम् । अविदवन्त मन्मनमन चिन्ताकुल जातम् । मा 'ण' गृहीत्वा स्तनन्धय भार्या-द्वितीयो जिनदत्त कुत्रापि पलायेत, तस्मात् अह पूर्वमेव सरक्षण करोमि, इति चिन्तयित्वा तत्क्षण आकारिता तेन निजवत्सला शस्त्रपाणय पुरपा । आज्ञप्त पुनस्तेभ्य —"सावधानै युष्माभिर्जिन-दत्तभवनस्य पुरत स्थातव्य, प्रेक्षितव्य अर्हनिश यथा न किमपि अनिष्ट सावकाश भवेत् । अतीते निश्चिते काले अर्भक गृहीत्वा मे समीप आगन्तव्य इति ।'

शस्त्रपाणय पुरपा क्षिप्रमेव तत्र आगता, आवासस्य अग्रत साव-धान स्थिता । क नि सरति, प्रविशति इति सलक्ष्य सोपयोग पश्यन्ति । विहित श्रेष्ठिना अपूर्वो दारकजन्ममहोत्सव । अनेकेषा शुभसन्देशा प्राप्ता । अनेके स्वजना तत्र सम्मिलिता । कृत प्रतिष्ठानुरूप प्रीतिभोजनादि कृत्यम् । दत्त यथोचित दानम् । स्थापित पितृस्वसा दारकस्य 'रत्नपाल' इति शुभ नामधेयम् । परमप्रेमप्रोषिता कौटुम्बिका गता निजम निजक स्थान शाव शुभाशीभिर्वर्धापयन्त ।

क्षणवत् अलक्षित सप्तविंशति रात्रिन्दिव व्यतिक्रान्तम् । परम-प्रियपुत्रदर्शन-प्रत्यूहकारक प्रत्यूष उदय प्राप्त । प्रत्युत्थिता मन्मन-सत्का पुरपा दारक हस्तयितुम् । हन्त ! अद्य अति उदारमपि जिनदत्त-

प्रियपुत्रदर्शनप्रत्यूहकारक ११ प्रत्यूष प्रभातसमय १२ प्रत्युत्थिता
१३ हस्तयितुम् ।

किंविणत्तणमणुहवइ पुत्तं पच्चप्पिणेउं। किमवि अघडिअं संपाडिज्जइ मए 'त्ति अलक्खिज्जमाणवेअण आउल-वाउलं[1] सेट्ठिणो चित्तं। विज्जू-णिवायओ वि दुरहिसहं दारय-पच्चप्पणसद्दं णवप्पसविणो भाणुमई कहं सहिस्सइ 'त्ति हवीअ[2] किंकायव्वमूढो सेट्ठी। मा अहिआहिअ[3] ठिइं अणुहवउ तीसे मुणालकोमल हिअयं 'ति वीमंसमाणेण पइणा सत्तिअ[4]-मिउवयणेण भज्जा संबोहिआ–'सत्तिमइ! अविहाविओ[5] किर कालस्स निग्गमो। पल्ल सागराणमवि पत्तो होइ अंतिमो खणो, का वत्ता पुण संखा-सकेइअस्स?[6] समागओ सो अणिट्ठो अट्ठवीसइमो दिअहो जम्मि अम्हेच्चयो[7] णंदणो पारक्को[8] संवट्टिहिइ। धम्मिट्ठे! इणमो च्चिअ धम्मपत्तीए पच्चक्खं इंधं जं[9] पडिऊलम्मि समयम्मि वि ण धिज्जं छिज्जेइ।

"कुओ समागओ अट्ठावीसइमो वासरो अज्जतणो अज्जउत्त! कह सखावयाए[10] तुम्हं संखा-विब्भमो जाओ?" पच्चुत्तरिअ वुण्णहिअयाए भाणुमईए सच्छरिअ सखेय च।

ण लक्खिज्जइ माइहिअयाए तुमए सत्तरो गत्तरो कालो। भद्दा! ण सुमरेसि किं चंददरिसणजोग्गाए धवलाए विइआए पुत्तजम्मो जाओ, अज्ज कण्हा रित्ता चउद्दसी तिही[11] वट्टइ। पाससु, उवट्ठिआ एए मम्मणसंतिआ मणुआ पुत्तं करगयं काउं।

अव्वो! उवट्ठिआ एए मयहिअया[12] पुत्तं हत्थेउं।

---

१ आकुल-व्याकुलम् २ भूधातोर्यद् हुवादेशस्तस्य भूतार्थस्य रूपमिदम् 'सी-ही हीअ भूतार्थस्य' 'व्यञ्जनादीअ (हे० ३-१६२, १६३) हवीअ-अभवत्, अभूत्, बभूव, इत्यर्थः ३ अधिकाधिक मरणादि ४ सात्त्विक-मृदुवचनेन ५ अविभावित

हृदय 'किमपि अघटित सम्पाद्यते मया' इति अलक्ष्यमानवेदन आकुल-व्याकुल श्रेष्ठिन चित्तम् । विद्युन्निपाततोऽपि दुरधिसह दारक-प्रत्यर्पणशब्द नवप्रसविनी भानुमती कथ सहिष्यते' इति अभूत् किंकर्त्तव्यमूढ श्रेष्ठी। मा अधिकाहिता 'स्थिति अनुभवतु तस्या मृणालकोमल हृदयम्' इति विमृशता पत्या सात्विकमृदुवचनेन भार्या सम्बोधिता—"शंकितमति ! अविभावित किल कालस्य निर्गम । पल्यसागराणा अपि प्राप्तो भवति अन्तिम क्षण, का वार्ता पुन सख्यासकेतितस्य ? समागत स अनिष्ट अष्टाविंशतितमो दिवस, यस्मिन् आस्माक नन्दन परकीय सवत्स्र्यति। धर्मिष्ठे ! एतदेव धर्म-प्राप्त्या प्रत्यक्ष चिन्ह यत् प्रतिकूले समयेऽपि न धैर्यं छिद्यते।"

"कुत समागत अष्टाविंशतितमो वासर अद्यतन आर्यपुत्र ! कथ सख्यावता युष्माक सख्याविभ्रम जात ?" प्रत्युत्तरित त्रस्तहृदयया भानुमत्या साश्चर्य सखेद च।

न लक्ष्यते मातृहृदयया त्वया सत्वर गत्वर काल । भद्रे ! न स्मरसि किं चन्द्रदर्शनयोग्याया धवलाया द्वितीयाया पुनर्जन्म जात अद्य कृष्णा रिक्ता चतुर्दशी तिथि वर्तते। पश्य उपस्थिता एते मन्मनसत्का मनुजा पुत्र करगत कर्तुम्। 'अव्वो ! उपस्थिता एते मृतहृदया पुत्र हस्तयितुम् ! कथ अह स्तनन्धय परायत्त करोमि ?

६ सख्या-सङ्केतितस्य ७ आस्माक ८ परकीय ९ चिह्न १० सख्यावताम् दक्षाणाम् ११ तिथि १२ मृतहृदया

कहमहं थणंधयं परायत्तं कुणेमि ? धी धी ! कहमेआरिसमविआरिअं वाया–संधाणं कयं भवया ? एवं विलवमाणी भाणुमई तक्खणं मोहमुवगया[1]। विवण्ण-वयणकमलेण भत्तुणा नाणाउइअ-उवयारेहिं चेअणं पाविआ सा रोउं पउत्ता। हद्धी ! कहमहयं न मया मुच्छा-परिगया ? पुत्तविहूणं जीयं[2] किं ण मरणाइरित्तं। धिय ! कयंतो वि ण कहमकयंतो[3] ?

सत्था होहि भामिणी ! सव्वं भव्वं होहिइ। इहइ पइण्णा-पालणं करणिज्जं अम्हेहिं। आणसु दारयं, जहा त समप्पिऊण सवहीकयं सच्चं कुणेमो। कंपमाणकरा वहमाणवाहजला मिलायमाणहिअया दूअमाणमणा अंते भाणुमई पुत्तं पच्चप्पिणंती साहेउं पउत्ता—"भव्वा ! अत्थि एसो पुत्तो अम्हाण हिअयस्स खंडं, नयणाण जोई, किविणस्स धणं, जीवणस्स य सव्वस्सं। संति अणेगाओ आसाओ अस्सुवरि। मणयमवि मणो[4] ण इच्छेइ इमं खणमवि दूरेउं, परं किं भणीयइ, अणाचिक्खणीया[5] कहा खु भविअव्वयाए, अणुलंघणिज्जा रेहा किर देवस्स, ता एसो णिहिव्व सम्मं सुरक्खिअव्वो, कप्पतरुव्व सययं सेविअव्वो, धम्मव्व पइपलं धारेअव्वो य। किं बहुणा साहिएण,[6] जहा ण हवइ अस्स एगो वि बंको वालो तहा अणुचिट्ठिअव्वं 'ति। एवं वहुजंपमाणीए भाणुमईए रयणवालो वालो हिअयेण धणिअमालिंगिओ,[7] ससिणेहं मुहेण परिचुंबिओ, अंसुधाराहिं सिंचिओ, अणेगाहिं सुहासीसाहिं परिपोसिओ य हत्थाहत्थिं समप्पिओ।

---

१ मूर्च्छा २ जीवित ३ न कृतोऽन्तो येन स अकृतान्तः ४ मनागपि 'मनाक्

धिग् धिग् ! कथं एतादृशं अविचारितं वाचासंधानं कृतं भवता"—एवं विलपन्ती भानुमती तत्क्षणं मोहमुपगता। विवर्णवदनकमलेन भर्त्रा नाना-उचितोपचारैः चेतनं प्रापिता सा रोदितुं प्रवृत्ता। हद्धी ! कथं अहं न मृता मूर्च्छापरिगता ? पुत्र-विहीनं जीवितं किं न मरणातिरिक्तम् ? धिग् कृतान्तोऽपि न कथं अकृतान्तः ?

स्वस्था भव भामिनि ! सर्वं भव्यं भविष्यति। इह प्रतिज्ञापालनं करणीयं अस्माभिः। आनय दारकं, यथा तं समर्प्य शपथीकृतं सत्यं कुर्मः। कम्पमानकरा वहद्वाष्पजला म्लायद्हृदया दूयमानमना. अन्ते भानुमती पुत्रं प्रत्यर्पयन्ती कथयितुं प्रवृत्ता—"भव्य ! अस्ति एष पुत्रः अस्माकं हृदयस्य खण्डम्, नयनयोः ज्योतिः, कृपणस्य धनम्, जीवनस्य च सर्वस्वम्। सन्ति अनेका आशाः अस्योपरि। मनागपि मनो न इच्छति इमं क्षणमपि दूरमितुम्, परं किं भण्यते, अकथनीया कथा खलु भवितव्यतायाः, अनुल्लंघनीयारेखा किल दैवस्य। तस्मात् एष निधिवत् सम्यक् सुरक्षितव्यः, कल्पतरुवत् सततं सेवितव्यः, धर्मवत् प्रतिपलं धारयितव्यश्च। किं बहुना कथितेन, यथा न भवति अस्य एकोऽपि वङ्को वालः तथा अनुष्ठातव्यं इति।" एवं बहु जल्पन्त्या भानुमत्या रत्नपालो बालो हृदयेन गाढमालिङ्गितः सस्नेहं, मुखेन परिचुम्बितः, अश्रुधाराभिः सिक्तः, अनेकाभिः शुभाशीभिः परिपोषितश्च हस्ताहस्तिकं समर्पितः।

नवा डय च' (हे० २-१९६) तेन मणय, मणिअ, मणा ५ अकथनीया ६ वयिनेन। ७ धणिअ-गाढम् ८ हस्ताहस्तिका।

सुरपणामिश्र त सोभाल बालं हसत सत घेत्तूण झत्ति गया ते मम्मणसमीव । पयडीकुणमाणेहिं जहाकहिश्र मायराहिप्पाय तेहिं दक्खयाए समप्पिओ सो सामिस्स ।

अणेग-सामुद्द-सुलक्खण-लक्खिश्र पत्ताणुऊल-ग्गहवल भविस्सुज्जलमब्भग णिभालिऊण मम्मणो सेट्ठी उप्फुल्लो जाओ। वल्लहाए णिआए भारिआए अकम्मि देवल्लविअं पुत्त-पारिओसिअ[1] ठवमाणेण तेण पाउक्कय–"पिया ! केण उत्तो[2] सित्तो य कप्पतरू कहिं फलिओ ? केण विहाविश्र ज अमुणा वसभक्खरेण अम्हकेर गिह पज्जोइअ होहिइ ? केणावगमिज्जइ[3] अहवा सुहोदक्क भागधेश्र कया केरिसं अतक्किश्र सुह फल देइ 'त्ति। निच्छिश्र मुणअव्व जमेसो बालो अम्हेच्चयो च्चिअ, ण खलु जिणदत्तस्स दारिद्दा-हिद्दुअस्स[4]। कया सोलसवासाइ पुण्णाइं भविस्सति ? कया पुत्तो जुवाणो भुच्चा पचिट्ठिहिइ[5] ? कया पुण सवुड्ढिश्र घण विढविऊण[6] पच्चप्पिणिहिइ[7] ? सव्वमिण कप्पणा-मणोहर अब्भचित्त-सकास विज्जइ। को जीविहिइ को मरिहिइ 'त्ति को णाउमरिहिइ ? सुहवे ! ओरसमवच्चमिणं 'ति मण्णमाणी तुम इम पालसु। मा ण क्रिसमवि ऊणत्तण अस्स लालण-पालणे अणुहवसु।

चित्त ! खुद्द चुच्छ[8] किविणमवि य मम्मणस्स चित्त बालगस्स पुण्ण-गुरुआए उआर, पेमिल्ल, अणुऊल च जाय।

---

१ पुत्रपारितोषिकम् २ उप्त ३ अवगम्यते ४ दारिद्र्याभिद्रुतस्य ५ प्रस्थास्यति ६ अर्जयित्वा 'अर्जेर्विढव' (हि० ४-१०८) ७ प्रत्यर्पं

सुरार्पित त सुकुमाल बाल हसन्त सन्त गृहीत्वा झगिति गता ते मन्मनसमीपम् । प्रकटीकुर्वद्भि यथाकथित मात्रभिप्राय तं दक्षतया समर्पित स स्वामिने ।

अनेक-सामुद्र-सुलक्षणलक्षित प्राप्तानुकूल-ग्रहबल भविष्योज्ज्वल अर्भक निभालयित्वा मन्मन श्रेष्ठी उत्फुल्लो जात । वन्ध्याया निजाया भार्याया अङ्के देवार्पित पुत्रपारितोषिक स्थापयता तेन प्रादुष्कृतम्-"प्रिये ! केन उप्त सिक्तश्च कल्पतरु कुत्र फलित ? केन विभावित यत् अमुना वशभास्करेण अस्मदीय गृह प्रद्योतित भविष्यति ? केनावगम्यते अथवा शुभोदर्क भागधेय कदा कीदृश अतर्कित शुभ फल ददातीति । निश्चित ज्ञातव्य यदेष बाल आस्माक एव, न खलु जिनदत्तस्य दारिद्र्याभिद्रुतस्य । कदा षोडशवर्षाणि पूर्णानि भविष्यन्ति ? कदा पुनो युवा भूत्वा प्रस्थास्यति ? कदा पुन सवृद्धिक धन अर्जयित्वा प्रत्यर्पयिष्यति ? सर्वमिद कल्पना-मनोहर अभ्र-चित्र-सकाश विद्यते । क जीविष्यति, क मरिष्यति इति को ज्ञातु अर्हति । सुभगे ! 'औरस अपत्य इदम्' इति मन्वाना त्व इम पालय 'गा' 'ग' क्रममपि ऊनत्व अस्य लालन-पालने अनुभव ।"

चित्रम् ! क्षुद्र तुच्छ कृपणमपि च मन्मनस्य चित्त बालकस्य पुण्यगुरुतया उदार प्रेमवत् अनुकूल च जातम् । अङ्के कृत्वाउत्तानशाय

यिष्यति = अर्हति ६ तुच्छ-'तुच्छे-तश्चच्छौवा' (हि० १-२०४) तेन छुच्छ, चुच्छ, तुच्छमपि ।

अकम्मि काऊण उत्ताणसय॰ सेट्ठी णाणाविह कीड्ड कुणेइ। जहा तहा जपंतो त रमावेइ। विम्हुट्ठावर-गिहकज्जो त खधमारोविऊण जत्थ तत्थ भमाडेइ। धाईण ववत्था वि जह्नोचिआ कया। गिरि-कदर-लीणो चपगपायवो विव मम्मण-गिहम्मि सुहं सुहेएं परिवड्ढए सो। हत ! विचित्ताणि विहुणो विलसिआणि।

इओ य परहत्थगय पोअ काऊण गहिअ-रसा उच्छुलट्ठी विव, णिवडिअ-पत्त-पुप्फ-फला रुक्खावली विव, चेयणासुण्णा तणू विव भाणुमई होहिअ। अव्वो ! पच्चूसम्मि वि सव्वओ गाढंधयारो पत्थरिओ। वाहिवज्जिए वि ताए सरीरम्मि काइ असहणिज्जा अउलवेअणा उप्पडिआ॰। गहिलचित्ता इव चितेइ सा–"किं जागरूआ वि अहं पच्चक्ख सुमिणं पेच्छेमि ? किं पायडजोगपावल्लावि॰ अह मया ? अम्मो ! किं मए एआरिस महामोल्लं वत्थु हारिअ, जिणा॰-विणा सव्व विज्जमाणमवि तहाविह अविज्जमाणमिव पडिहाइ। हदि ! केण पम्हुसिअ॰ मे हिअय-सयलं, जेण विणा सयलमवि पम्हुसिअ॰ जाय। हरे ! माउउच्छग-वचिओ सो वराओ सिलिवो किं कुणमाणो हवेज्जा ? हंत ! हयविहिणा थणंधयो बालो कीस माऊआ॰-विरहिओ कओ ? केरिसी परिवालणा तस्स हविस्सइ परगिहठिअस्स मदभग्गस्स ?" एव णाणा-विकप्पजाल-परिअरिआ माया कयाइ मुच्छइ, गिलायइ, मिलायइ, अणवरय-पवहमाण-बाहजलेण भूअलं पल्ललीकरेइ॰ य। विक्खित्त-चित्ता पुण इओ तओ परिभमइ, खणमेत्तमवि ण कत्थइ सुहलवमणुहवइ। सेट्ठिणो वि तारिसी ठिई संवुत्ता, पर को सुणेइ विहि-दाव-दड्ढाणं पुक्कारं ?

श्रेष्ठी नानाविधा क्रीडा करोति। यथा तथा जल्पन् त रमयति। विस्मृताऽपरगृहकार्यं स्कन्ध आरोपयित्वा यत्र तत्र भ्रामयति तम्। धात्रीणा व्यवस्थाऽपि यथोचिता कृता। गिरिकन्दरलीन चम्पकपादप इव मन्मनगृहे सुख सुखेन परिवर्धते स। हन्त! विचित्राणि विधे-विलसितानि।

इतश्च परहस्तगत पोत कृत्वा गृहीतरसा इक्षुयष्टिरिव, निपतित-पत्रपुष्पफला वृक्षावलीव, चेतनाशून्या तनूरिव भानुमती अभूत्। अव्वो! प्रत्यूषेऽपि सर्वत गाढान्धकार प्रसृत। व्याधिवर्जितेऽपि तस्या शरीरे कापि असहनीया अतुलवेदना उत्पतिता। ग्रथिलचित्ता इव चिन्तयति सा—"किं जागरूकाऽपि अह प्रत्यक्ष स्वप्न प्रेक्षे? किं प्रकटयोगप्राबल्याऽपि अह मृता?" "अम्मो"! किं मया एतादृश महामूल्य वस्तु हारित, येन विना सर्व विद्यमानमपि तथाविध अविद्यमानमिव प्रतिभाति। हन्दि! केन प्रमुषित मे हृदयशकल, येन विना सकलमपि विस्मृत जातम्। हरे! मातृसङ्ग-वञ्चित स वराक सिलिब किं कुर्वाणो भवेत्? हन्त! हतविधिना स्तनन्धयो बाल कस्मात् मात्रा विरहित कृत? कीदृशी परिपालना तस्य भविष्यति परगृहस्थितस्य मन्दभाग्यस्य? एव नानाविकल्पजालपरि-करिता माता यदापि मूर्च्छति, ग्लायति, म्लायति, अनवरत-प्रवहमाण-बाष्पजलेन भूतल पल्वलीकरोति च। विक्षिप्तचित्ता पुन इतस्तत परिभ्रमति। क्षणमात्रमपि न कुत्रापि सुखलवमनुभवति। श्रेष्ठिनो-ऽपि तादृशी स्थिति सवृत्ता। पर क शृणोति विधिदावदग्धाना पुत्कारम्?

---

१ उत्तानशय डिम्भम् २ उत्पन्ना ३ प्रकटयोगप्राबल्यापि ४ येन ५ प्रमुषित-चोरितम् ६ विस्मृतम् ७ माऊआ मात्रा ८ पल्वलीकरोति।

विचित्तमवत्थं पत्तो जिणदत्तो संपइ 'किं कायव्वं' ति परामरिसइ[1] भज्जाए सद्धिं । दविण-विणिमयेण रक्खिओ पुत्तो परगिहम्मि' त्ति जणाववाय-भीरुओ कहं मुहं दरिसणिज्जं' ति लज्जिओ । अंतम्मि अविण्णाय-वइअरे[2] णायरजणे पच्छण्णयाए गिह-णयर-देस-परिच्चाओ कायव्वो, इअ उभय-सम्मओ निच्छओ जाओ । उत्तरत्थमणाए भाणुमईए सव्वं गिहभण्डं ववट्ठिअं कयं[3] । आवस्सयवत्थूणं एगा लहुवी पोट्टलिआ सज्जीकया । अणेगदिण-भक्खणारिहं सूंखडिआइयं[4] किमवि पाहेयं[5] पुण विणिम्मिअं । सव्वमिणं कज्जं मा परेहिं लक्खिज्जउ' त्ति बद्धकवाडं ताए अणुट्ठिअं । पुत्तविओग-विहुरो अईव पलंबो वि वासरो गिह-कज्ज-गुरुअयाए कहं कहमवि पुण्णत्तणं पत्तो । पगासपगरिस[6]-वंझा संझा संमुहीणा संपण्णा । पेरंत-कालिमाए लालिमाए थोव-कालिओ अहरराओ[7] दंसिओ । पाउक्कय[8]-लद्धावसर-सिद्धंतं धंतं[9] वित्थरिउं लग्गं । 'किं करणिज्जं अम्हेहिं'ति बिंदुआगारा तारा अणतम्मि मंदमऊहेहिं[10] आलोएउं पउत्ता । माया इव संतिप्पया राइ'त्ति जाया झडिति मउलिअ[11]-झपंणिआ डिंभा । अण्णुण्ण-संदिट्ठाइं विउत्ताइं चक्कवायाणं जुम्माइं । सक्खं लद्धलक्खा संभूआ तक्कराण मलिणा भावणा । सव्वेवि सगिहत्था[12] सगिहत्था[13] जाया जायाहिं अणुणोयमाणमाणसा । एआरिसीए तमिस्साए अणुऊलो अवसरो पलायणस्स'त्ति मुणिऊण जिणदत्तेण एगा कयण्णू दक्खा

---

१ परामृशति २ अविज्ञातव्यतिकरे ३ व्यवस्थितम् ४ 'सू ख़डो' देशीयशब्द गुर्जरदेशप्रसिद्ध. ५ पाथेयम् ६ प्रकाशप्रपंचवन्ध्या ७ अधरराग ८ प्रादुष्कृत-लब्धावसरसिद्धान्तम् ९ ध्वान्त-तिमिरम् १० मन्दमयूखे ११ मुकुलित-

विचित्रामवस्था प्राप्तो जिनदत्त सम्प्रति किंकर्त्तव्यमिति परामृशति भार्यया सार्धम्। 'द्रविण-विनिमयेन रक्षित पुत्र परगृहे' इति जनापवादभीरुक कथ मुख दर्शनीयमिति लज्जित। अन्ते अविज्ञात-व्यतिकरे नागरजने प्रच्छन्नतया गृह-नगर-देशपरित्याग कर्त्तव्य, इति उभय-सम्मतो निश्चयो जात। उत्त्रस्तमनसा भानुमत्या सर्व-गृहभाण्ड व्यवस्थित कृतम्। आवश्यकवस्तूनामेका लघ्वी पोट्टलिका सज्जीकृता। अनेकदिनभक्षणार्हं 'सू खडी' आदिक किमपि पाथेय पुन विनिर्मितम्। सर्वमिद कार्यं मा परै लक्ष्यतामिति बद्धकपाट तया अनुष्ठितम्। पुत्र-वियोगविधुर अतीव प्रलम्बोऽपि वासरो गृहकार्य-गुरुकतया कथकथमपि पूर्णत्व प्राप्त। प्रकाश-प्रकर्षवन्ध्या सन्ध्या सम्मुखीना सम्पन्ना। पर्यन्तकालिम्ना लालिम्ना स्तोककालिक अधररागो दर्शित। प्रादुष्कृत-लब्धावसरसिद्धात ध्वान्त विस्तरितु लग्नम्। किं करणीयमस्माभिरिति बिन्दुकाकारा तारा अनन्ते मन्दमयूखै आलोकितु प्रवृत्ता। माता इव शान्तिप्रदा रात्रिरिति जाता झटिति मुकुलितपक्ष्माणो झिम्पा। अन्योन्यसन्दिग्धानि विप्रयुक्तानि चक्रवाकाणा युग्मानि। साक्षात् लब्धलक्ष्या सभूता तस्कराणा मलिना भावना। सर्वेऽपि सद्गृहस्था स्वगृहस्था जाता जायाभि अनुनीयमानमानसा। 'एतादृश्या तमिस्त्राया अनुकूलोऽवसर पलायनस्य' इति ज्ञात्वा जिनदत्तेन एका कृतज्ञा दक्षा पितामही-समाना

झम्पणिका —निमीलितपक्ष्माण इत्यर्थं यथा—'झम्पणीओ पम्हाइ (पाइयलच्छी ८४६) भाषण द्वतिभाषा १२ सद्गृहस्था १३ स्व गृहस्था।

पियामहीसमाणा वीसत्था समोसिआ[1] थेरी सणियं वाहित्ता[2]। साहिओ सव्वोवि जहातहं वुत्तंतो। परिचिआ कया सव्वेहिं अज्जंतकाल-कज्जेहिं। समप्पिओ सव्वओ णिअ-हम्मियस्स सुरक्खाभारो। दिण्णं पुण दारजंतुग्घाडणयं तालिआणं गुच्छगं। अंते णिवडिऊण ताए चलणेसु गहिआ सोहद्दपुण्णा आसीसा। गहिऊण मत्थए पाहेय-पोट्टलियं भज्जा[3] बिइज्जओ 'मा कोइ णे[4] पलोएउ'त्ति सकिओ सणिअं-सणिअं सरमाणो रयणवालं वालं मणंमि सरभाणो[5] गाढंधयारम्मि विलीणो।

किं किं कप्पेइ वराओ अप्पण्णू मणुओ, किंतु दिट्ठं किंपि अदिट्ठं घडेइ। विहि-पवण-पणुल्लिआणि अब्भाणि विव णट्ठाणि हवंति जंतूण आसा-विआणाणि। हा! दुरहिगमा भाविणी परिणई इह चम्मचक्खुधारिणा मच्चेण। पेच्छंतु पच्चक्खं जिणदत्तस्स विहि-पराहूइं। काए काए णहं-विसालाए आसाए पुत्त-पत्थणा कया, तत्थ केरिसो अणअहिलसणिज्जो समयो आवडिओ। जस्स पुरओ अणेगे भिच्चा पंजलिउडा ठिआ 'को आएसो'त्ति वयणं पुण्फीकुणमाणा आसी, सो अहुणा अलक्खिओ मत्थयत्थ-पोट्टलिओ सगोविअणियत्थित्तो सहि-सहोअर-सहाय-वज्जिओ पुत्तवियोग-संखुद्दो गेहणीए सद्धिं वाहण-वेलविओ एगागी वच्चइ। कहं कहंपि तीरिआओ तेहिं णयरवीहीओ पच्छण्णयाए। णयरप्पओली जया एहिं पिट्ठओ कया, तया णं काई अणाचिक्खणिज्जा

१ प्रातिवेश्मिकी २ व्याहृता ३ भार्याद्वितीयक ४ अस्मान् ५ पश्यतु

विश्वस्ता समोपिता (प्रातिवेश्मिकी) स्थविरा शनैं व्याहृता। कथित सर्वोऽपि यथातथ वृत्तान्त । परिचिता कृता सर्वं आयतिकाल-कार्यं । समर्पित सर्वत निजहर्म्यस्य सुरक्षाभार । दत्त पुन. द्वारयन्त्रोद्घाटनक तालिकाना गुच्छकम् । अन्ते निपत्य तस्या चलनयो गृहीता सौहार्दपूर्णा आशी । गृहीत्वा मस्तके पाथेय-पोटलिका भार्याद्वितीयक 'मा कोऽपि नो प्रलोकयतु' इति शङ्कित शनै. शनै सरन् रत्नपाल बाल मनसि स्मरन् गाढान्धकारे विलीन ।

किं किं कल्पते वराक अल्पज्ञो मनुज, किन्तु दिष्ट किमपि अदृष्ट घटयति । विधिपवनप्रेरितानि अभ्राणि इव नष्टानि भवन्ति जन्तूना आशावितानानि । हा ! दुरधिगमा भाविनी परिणति इह चर्मचक्षुर्धारिणा मर्त्येन । प्रेक्षन्ता प्रत्यक्ष जिनदत्तस्य विधि परा-भूतिम् । यया यया नभोविशालया आशया पुत्र-प्रार्थनाकृता, तत्र कीदृश अनभिलपणीय समय आपतित । यस्य पुरत अनेके भृत्या प्राञ्जलिपुटा स्थिता 'क आदेश' इति वचन पुष्पीकुर्वाणा आसन्, स अधुना अलक्षित मस्तकस्थपोट्टलिक सगोपित-निजास्तित्व ससि-सहोदर-सहाय-वर्जित पुत्र-वियोगसक्षुब्ध गृहिण्या सार्धं वाहन-वञ्चित एकाकी व्रजति । यथ कथमपि तीरिता ताभ्या नगरवीथय प्रच्छन्नतया । नगरप्रतोली यदा आभ्या पृष्ठत कृता, तदा 'ण' कापि

---

६ स्मरन् ७ विधि-पवन-प्रेरितानि ८ नभोविशालया ९ वञ्चित
१० तीरिता ।

मणे लज्जा पारंचिआ[1]। ति-चउर-गाउप्पमाण पह पत्ताण-मेसिं मत्तडउदयो जाओ। "थक्किया सि[2] कोमलगी ! किमु पलबमद्धाण वच्चमाणी ? थक्कामो[3] किं वीसमण-णिमित्त कत्थइ ?" मुहु मुहु परिपुच्छइ जिणदत्तो रयणवाल-मायर।

"णूण अज्जउत्ताण मुहपकज जूरिअ[4] दीसइ, ता तुम्हे महत पहखेअं अणुहवेज्ज'त्ति मए अणुहूअ" पच्चुत्तरिअ विणयवाहिणीए वायाए भाणुमईआ।

पिये ! णाहं किंचि वि णिगम-गमणखेअ वहामि किंतु • विरमिओ अग्गओ वोत्तु सेट्ठी।

किं किं खेअ-कारण, कह 'किंतु' वज्जरिऊण विरमिओ अग्गओ वाया-विण्णासो ? किं सइ गओ जीवणाहारो पिओ पुत्तो ?" पुट्ठ बाह लुछमाणीए पत्तीए। चुक्किआसि[5] रयणमाय ! पुच्छेती तुमं। कया सो विम्हरिओ ता सयइ सइ गओ ? बाहजलाउललोयणेण पइणा एगो दीह-णीसासो मुक्को। इत्थ दपइणो परुप्पर पुत्त-विरहेण णिव्वरता[6], पइस रुह पिय पुत्त सभरेता-पहच्छेअ कुणिरे।

मग्गम्मि समागया एगा सरसी। मणोहर विजण ठाण पप्प जपइणो तत्थ वीसता जाया। अणुचिट्ठिअ तेहिं सयल पाहाइअ किच्च। पारिअ सम्म णमुक्कारसहिअ[7]। गहिओ किंचि पायरासो[8]। मज्झ-सव्वरीए पयट्टआ[9] एए सता परितता इहइ णिव्विऊण[10] किंचि आसत्था हूआ। मा

---

१ पार नीता २ श्रान्तासि ३ तिष्ठाम ४ खिन्नम् यथा—जूरिअ उत्तम्मिअ, नडिअ (पाइयलच्छी ५७५) ५ स्खलितासि ६ दुःख निवेदयन्त दुःखे

अवथनीया मन्ये लज्जा पार नीता । त्रिचतुर्गव्यूतिप्रमाण पन्थान प्राप्तायो एतयो मार्तण्डोदयो जात । "श्रान्तासि कोमलाङ्गि ! किमु प्रलम्ब अध्वान व्रजन्ती ? तिष्ठाम कि विश्रमण-निमित्त कुत्रापि ? मुहुर्मुहु परिपृच्छति जिनदत्तो रत्नपालमातरम् ।

"नून आर्यपुत्राणा मुखपङ्कज खिन्न दृश्यते, तस्मात् यूय महान्त पथखेद अनुभवथ, इति मया अनुभूतम्" प्रत्युत्तरित विनयवाहिन्या वाचा भानुमत्या ।

"प्रिये ! नाह किञ्चिदपि निगम-गमन-खेद वहामि, किन्तु "

विरमित अग्रत यमतु श्रेष्ठी ।

"कि किं खेदकारण, यथ 'किन्तु' व्याहृत्य विरमित अग्रतो वाग्-विन्यास ? कि स्मृतिगत जीवनाधार प्रिय पुत्र ?" पृष्ट वाष्प मृजन्त्या पत्न्या ।

"स्खलितासि रत्नमात ! पृच्छन्ती त्वम् । कदा स विस्मृत तस्मात् सप्रति स्मृति गत ? वाष्पजलाकुललोचनेन पत्या एको दीर्घ-नि श्वासो मुक्त । इत्थ दम्पती परस्पर पुत्रविरहेण दु ख प्रकटयन्तौ प्रतिसपथ प्रिय पुत्र स्मरन्तौ पथच्छेद कुर्वाते ।

मार्गे समागता एका सरसी । मनोहर विजन स्थान प्राप्य जम्पती तत्र विश्रान्तौ जातौ । अनुष्ठित ताभ्या सकल प्राभातिक कृत्यम् । पारित सम्यक् नमस्कार-सहितम् । गृहीत किञ्चिद् प्रातराश । मध्यशर्वर्यां चलितौ एतौ श्रान्तौ परितान्तौ इह विश्राम्य किञ्चिद् आश्वस्तौ भूतौ । 'मा पृष्ठत केऽपि श्रेष्ठिन

णिव्वर (हेम० ४ ३) ७ नोकारसी ८ प्रातराश 'जलपान सिरावण इतिभाषा ९ पयट्टआ चलिआ १० विश्राम्य विश्रमेणिव्वा० ।

मग्गओ[1] केइ सेट्ठिं मग्गमाणा[2] मग्गआ[3] आगच्छिअ गमण-विक्खेवं कुणिज्ज'त्ति पुणरवि अग्गओ चलिओ सेट्ठी। दइयं पडिअग्गेमाणी[4] भज्जा चलणाणब्भत्थचलणा[5] खलेइ उच्चा-वयम्मि पहम्मि। कयाइ तिक्ख-पाहाण-खंडेण अप्फलिआ[6] अग्गगामिं पइं सखेअं सद्देइ। चलिअं रुहिरधारं तज्जुगु-वाएण साहरइ[7] ससाहसं सेट्ठी। मज्झ-दिणयरस्स तावेण संतत्ता एग्गस्स सण्णिवेसस्स मज्झयारम्मि[8] गया एए। कस्सइ धवलमंदिरस्स वहित्ता सच्छायं सुघडं वेइयं[9] विलोइअ मज्झण्णिअं वेलं अइवाहेउं मत्थयगयं पोट्टलिअं रक्खिऊण एगओ ठिआ। अग्गे कत्थ वच्चणिज्जं, किं करणिज्जं'ति वीमंसणपरा संलविउं लग्गा।

तक्कालं चिअ वायायणेण[10] एगाए वामलोअणाए णिअ-मंदिर-वेइआए केई अणुवलक्खिआ अद्धणीणा आलवमाणा ठिय'त्ति णिहालिआ। एक्कसरिअं[11] सा तहिं[12] समागया। णयणेहिं असिणेहं दरिसमाणो वज्जकक्कसाए गिराए वज्जरिउं पउत्ता—"कहं भो! ठिआ एत्थ अपच्चभिण्णाया[13] अवि अम्हकेर-मंदिर-वेइआए? अणुवलक्खिआणं ण वयं ठाणं दाउं समत्था; तम्हा वच्चंतु, सिग्घं वच्चंतु भो! सिंचि तुम्ह उवलक्खिआणं गेहम्मि।"

"पहिआ[14] अम्हे मज्झण्ह-कालम्मि वीसमणट्ठं ठाणं क्खिअ किंचि- कालं ठिआ। भइणि! मणुओ मणुअस्स ासयं पत्थइ। वच्चिस्सामो अम्हे अवरण्हकाले अग्गओ

१ पृष्टत २ गवेषयन्त ३ मार्गका. 'मागने वाले' इतिभाषा ४ अनुव्रजन्ती वलनाऽनभ्यस्तचलना ६ आस्फालिता. ७ संवृणोति 'संवृ्णे. साहरसाहट्टो'

मार्गयन्त मार्गंवा आगत्य गमनविक्षेप कुर्यु' इति पुनरपि अग्रत चलित श्रेष्ठी। दयित अनुव्रजन्ती भार्या चलनानभ्यस्तचलना स्खलति उच्चावचे पथि। यदापि तीक्ष्ण-पाषाण खण्डेन आस्फालिता अग्रगामिन पति सखेद शब्दयति। चलिता रुधिरधारा तदयोग्योपायेन सवृणोति ससाहस श्रेष्ठी। मध्यदिनकरस्य तापेन सतप्तौ एकस्य सन्निवेशस्य मध्ये गतौ एतौ। कस्यापि धवलमन्दिरस्य वहिस्तात् सच्छाया सुघटा वेदिका विलोक्य माध्याह्निकी वेला अतिवाहयितु मस्तकगता पोट्टलिका रक्षयित्वा एकत स्थितौ। 'अग्रे कुत्र व्रजनीय, किं करणीय' इति विमर्शनपरौ सलपितु लग्नौ।

तत्कालमेव वातायनेन एकया वामलोचनया निजमन्दिर-वेदिकाया केऽपि अनुपलक्षिता अध्वनीना आलपन्त स्थिता इति निभालिता। एवकसरिअ (झगिति) सा तत्र समागता। नयनाभ्या अस्नेह दर्शयन्ती-वज्रकर्कशया गिरा कथयितु प्रवृत्ता—'कथ भो स्थिता अत्र अप्रत्य-भिज्ञाता अपि अस्मदीय-मन्दिर-वेदिकायाम् ? अनुपलक्षितेभ्यो न वय स्थान दातु समर्था। तस्माद् व्रजन्तु, शीघ्र व्रजन्तु भो ! केषाञ्चिद् युष्माक उपलक्षिताना गृहे।"

"पथिका वय मध्याह्नकाले विश्रमणार्थ स्थान प्रेक्ष्य किञ्चित्काल स्थिता। भगिनि ! मनुज मनुजस्य आश्रय प्रार्थयति। व्रजिष्यामो

(हे० ४-८३) ८ मध्ये (देशीय शब्द) ९ वेदिका 'चबूतरा' इतिभाषा १० वातायनेन ११ झषिति १२ तर्हि-तत्र १३ अप्रत्यभिज्ञाता १४ पथिका पथो णस्येकट्' (हे०२-१५२) इतिपहिओ पान्थ।

सयमेव । सपइ किवाए मण उराल किच्चा ण उट्ठाविअव्वा अम्हे" णिवेइअ सब्भावणाए सेट्ठिणा ।

"अलाहि मणुअत्तणोवएसेण ? भमति अणेगे पस्सओहरा[1] महुर जपेमाणा वेस-परिवट्टणेण लोअ पम्हुसता[2] । ता पस्सतु अवर टाण ? ण एत्थ खणमवि चिट्ठिअव्व तुब्भेहिं' सगरिह फुड पडिसिद्ध ताए ।

एव गिहसामिणीए अवमाणिआ एए झत्ति पोट्टग गहिअ अग्गओ सरिआ[3] । हत ! को पडिपुच्छेइ दरिद्द-मुद्दिअ भाग-हेयाण सुह दुह ? आवयाए णिआ अवि पारक्केरा, ता अपरिचिआण तु का कहा ? णूण ईइसो एस ससारो । एत्थ अब्भच्छाहिव्व सव्वावि चचला लीला । गाढसिणेहे वि इह अपीईए उग्गमो । दिव्वुज्जोए वि[4] अस्सि अतरहिआ तमिस्सरेहा । महुरालावम्मि वि एत्थ कडुत्तिप्पसगो । धी धी ! तहवि कह ससारीण नाणलोयणा मुद्दिआ ? परा-हवति पइपय सज्जुक्का[5] तारिच्छा अणुहवा, तहवि ण कह परिप्फुरेइ अतरग वेरग्ग ? हरे ! गाढमावरणमण्णाणस्स । पच्चक्खमवि ण कह घेप्पइ[6] मोहधिट्ठाए मईए ।

भाणुमइ समुहीकुणमाणेण सेट्ठिणा साहिअ—"भज्जे ! अणणुकूला अहा[7] अम्हेच्चया सपइ । तम्हा एआरिसा पुव्व अणणुहूआ पसगा आवडति । तहावि णाइ विमणदुम्मेणेहि होइअव्व अम्हेहिं । एत्थ हु परिक्खा णे चिरपालिअस्स धम्मस्स । अओ उड्ढ अम्हे ण वस्सइ सरण[8] वच्चिहामो[9]।

१ पस्यतोहरा २ प्रमुष्णन्त—चोरयन्त ३ चलिता ४ अन्तर्हिता—छन्ना

वय अपराह्लकाले अग्रत स्वमेव, सप्रति कृपया मन उदार कृत्वा न उत्थापनीया वयम्" निवेदित सद्भावनया श्रेष्ठिना ।

"अल मनुजत्वोपदेशेन । भ्रमन्ति अनेके पश्यतोहरा मधुर जल्पन्तो वेश-परिवर्तनेन लोक प्रमुष्णन्त । तस्मात् पश्यन्तु अपर स्थानम् । न अत्र क्षणमपि स्थातव्य युष्माभि" सगर्ह स्फुट प्रतिपिद्ध तया ।

एव गृहस्वामिन्या अपमानितौ एतौ झटिति पोट्टल गृहीत्वा अग्रत सृतौ ! हन्त । क प्रतिपृच्छति दारिद्र्य-मुद्रित-भागधेयाना दुख दु खम् । आपदि निजा अपि परकीया , तदानी अपरिचिताना तु का कथा ? नून ईदृश एव ससार । अत्र अभ्रच्छाया इव सर्वापि चञ्चला लीला । गाढस्नेहेऽपि इह अप्रीते उद्गम । दिव्योद्योतेऽपि अस्मिन् अन्तर्हिता तमिस्ररेखा । मधुरालापेऽपि अत्र कटूक्तिप्रसग । धिग् धिग् ! तथापि कथ ससारिणा ज्ञानलोचनानि मुद्रितानि । पराभवन्ति प्रतिपद सद्यस्का तादृक्षा अनुभयास्तथापि न कथ परिस्फुरति अन्तरङ्ग वैराग्यम् । अरे ! गाढ आवरण अज्ञानस्य । प्रत्यक्षमपि न कथ गह्यते मोहपृष्ट्या मत्या ।

भानुमतीसम्मुखी कुर्वता श्रेष्ठिना कथितम्—"भार्ये ! अननुकूलानि अहानि आस्माकानि सम्प्रति । तस्मात् एतादृशा पूर्व अननुभूता प्रसङ्गा आपतन्ति । तथापि न विमनोदुर्मनोभ्या भवितव्य आवाभ्याम् । अत्र 'हु' परीक्षा आवयो चिरपालितस्य धर्मस्य । अत ऊर्ध्व आवा न कस्यापि शरण व्रजिष्याव । यत्र गुणानि स्वाधीन

५ सद्यस्का ६ गृह्यते ७ दिनानि ८ आयव्यम् ९ व्रजिष्याम ।

जत्थ कत्थइ साहीण जीवण जवेहामो ! पलाइअ रित्थ[1] ण दुक्ख-मिण, पर मा गच्छउ अप्पणिअं[2] धण साहिमाणं। किं तेण ताडिअ-सिरेण साण-जीवणेण जत्थ णत्थि णाममेत्तमवि मणुअ—गुण-मुल्लकण।" अज्जउत्ता पमाण'ति कहमाणीए भाणुमईए मोणमालविअं।

सरपालिणय-वडरुक्खस्स हेट्ठं[3] अइवाहिओ णेहिं मज्झ-दिण-तत्ति[4]-समयो। अवरण्हम्मि पुणो पट्ठिआ एए दक्खिणाए दिसीए। वोलीणाए महुत्तमेत्ताए रयणीए लद्धो दपईहिं सुरक्खिओ एगो वणणिउजो। तत्थ गहिआ णेहिं पह-विस्सती। वण-फलेहिं कया उअरपुत्ती। पत्थरिआ कयली-दलाण सेज्जा। कय सयण तहिं। परतु णागच्छइ पुत्त-विरह-विद्दुआ णिद्दा। जाउ अच्छिणिमीलण लहता वि पच्चक्ख पुत्त पेक्खेता कहेंति—"पुत्त! मा रुअसु, जणणी-उच्छग-सुह-वचिओ तुमं। आसासमीविओ[5] ण सोवि समयो दविट्ठो जत्थ अम्हाण चिर विरमालिओ[6] मेलो सभावी। दुव्विहोऽय कालो वेलाविवागेण बुब्बुअ-विलायं बिलीणो होहिइ। सयं णट्ठा भविस्सति सव्वेवि पडिवक्खा सजोगा" एव कहेंता कप्पता जाव जागरूआ हवति ताव पुत्तमसक्ख करेंता सव्वमिण सिविणरूव'ति मण्णता विहिं पच्चारेंति[7]। एवं पासाइ परिवट्टमाणेहिं एएहिं जहा कहंचि रयणी उवप्प-हाय णीआ। पच्चहिअं[8] पच्चूसकालिअं आवस्सय सामाइ-आइ-किच्च सद्धाए भत्तीए अणुचिट्ठिअं दपईहिं। आवया-

---

१ धनम् २ आत्मीयम् ३ अध अधरो हेट्ठ (हेम० २-१४१) ४ मध्यन्दिन-तप्तिसमय ५ आशासमीपित ६ प्रतीक्षित। यथा—विरमालिअ विहीरिअ

जीवन यापयिष्याव । पलायित रिक्थ न दु खमिद, पर मा गच्छतु आत्मीय धन स्वाभिमानम्। कि तेन तडितशिरसा श्वान-जीवनेन यत्र नास्ति नाममात्रमपि मनुज-गुण-मूल्याङ्कनम्" । 'आर्यपुत्रा प्रमाण' इति कथयन्त्या भानुमत्या मौनमालम्बितम्।

सर पालिगत-वटवृक्षस्य अध अतिवाहित आभ्या मध्यन्दिन-तप्तिसमय । अपराह्ले पुन प्रस्थितौ एतौ दक्षिणस्या दिशि। व्यतीतायां मुहूर्तमात्राया रजन्या लब्ध दम्पतीभ्या सुरक्षित एक वन-निकुञ्ज । तत्र गृहीता आभ्या पथविश्रान्ति । वनफलै कृता उदरपूर्ति । प्रस्तृता कदली-दलाना शय्या । कृत शयन तत्र । परन्तु नागच्छति पुत्र-विरह-विद्रुता निद्रा । जातु अक्षिनिमीलन लभमानौ अपि प्रत्यक्ष पुत्र प्रेक्षमाणौ कथयत —"पुत्र! मा रोदिहि जनन्युत्सङ्ग-सुख वञ्चित त्वम्। आशा-समीपित न सोऽपि समयो दविष्ठ यत्र अस्माक चिरप्रतीक्षितो मेल सम्भावी। दुर्विधोऽय काल वेलावि-पाकेन बुद्बुद्-विलाय विलीनो भविष्यति। स्वय नष्टा भविष्यन्ति सर्वेऽपि प्रतिपक्षा सयोगा" एव कथयन्तौ कल्पयन्तौ यावद् जागरूकौ भवत तावद् पुत्र असाक्षात् कुर्वन्तौ सर्वमिद स्वप्नरूपमिति मन्वानौ विधि उपालभेते। एव पार्श्वे परिवर्तमानाभ्या आभ्या यथा कथञ्चिद् रजनी उपप्रभात नीता। प्रात्यहिक प्रत्यूष-कालिक आवश्यक सामयि-कादि-कृत्य श्रद्धया भक्त्या अनुष्ठित दम्पतीभ्याम्। आपत्-कालेऽपि

(पाइयलच्छी ९७०) ७ उपालभते उपालम्भेर्झङ्ख-पच्चारवेलवा (हे० ४ १४६)
८ उपप्रभातम् ९ प्रात्यहिकम्।

कालम्मि वि ण धम्मकज्जं विम्हरिअव्वं'ति सप्पुरिसाणं लक्खणं, अहवा अग्गिपरिक्खुत्तिण्णं सुवण्णं किं ण हवइ देदिप्पमाणं ?

उइअम्मि दिणयरे तओ चलिआ एए अग्गओ। एवं पडिदिअहं अविच्छिण्ण–पयाणेहिं लंबं वत्तणिं[१] अइक्कममाणा णाणाविहाणि कट्ठाणि खमेमाणा विविह-भीसण-वणाडवि-पव्वयाखाय-सरिआइअं कहं कहमवि उल्लंघेमाणा पुत्त-विसयम्मि वहु विकप्पेमाणा य अंतम्मि दक्खिणापह-तिलय-भूअं णाणाविह–वाणिज्ज-लद्ध-पइट्ठं रम्मं दंसणिज्जं वसंत-पुरं णामं णयरं पत्ता। कत्थ गंतव्वं, किं अणुचिट्ठिअव्वं, कहं पाणवित्ती कायव्वा य सम्मं परिचिंतिअं वीमंसिअं एएहिं। ण परस्सयीहूअं जीवणं जीविअव्वं'ति पुव्वणिच्छयाणुसारेण ण णयरम्मि गया इमे। किंतु पुरस्स बाहिं सुरम्मथलम्मि एगं उडजं[२] णिम्माय मट्टिआ-गोमयेण लिंपिअ सव्व ववत्थिअं काऊण सुहं तत्थ णिवसिआ दंपइणो। आजीविआ-णिमित्तं सेट्ठिणा आणिओ मोल्लेण एगो कुढारो। अडविऊण अडवि आणेइ कट्ठभारिअं, विक्किणेइ य णयरमज्झयारम्मि। ताए जं पत्तं हवइ तेण समयण्णू भाणुमई आयाणुरूवं ववंती संतुट्ठं गाहत्थं संचालेइ। देसंतरम्मि केणइ अणुवलक्खिआ एए सारिसेण साहारणेण कम्मुणा वि अविलिआ[३] वेलं अइ-वाहयंति।

जाला[४] आयण्णिअं मम्मणेण जं जिणदत्तो भज्जा विइओ केणावि अलक्खिओ जणरवेण लज्जिओ तुण्हिक्को

---

१ वत्तनी-मार्ग, यथा—मग्गो पथो सरणी, अध्दाण वत्तिणी पहो

न धर्मकार्यं विस्मर्तव्यम्' इति सत्पुरुषाणां लक्षणम्। अथवा अग्नि-परीक्षोत्तीर्णं सुवर्णं किं न भवति देदीप्यमानम् ?

उदिते दिनकरे ततः चलितौ एतौ अग्रतः। एवं प्रतिदिवसं अविच्छिन्न-प्रयाणैः लम्बां वर्त्तनीं अतिक्रामन्तौ नानाविधानि कष्टानि क्षममाणौ विविध-भीषण-वनाटवि-पर्वताखात-सरिदादिकं कथंकथमपि उल्लङ्घयन्तौ पुत्रविषये बहुविकल्पयन्तौ च अन्ते दक्षिणापथ-तिलक-भूतं नानाविध-वाणिज्य लब्धप्रतिष्ठं रम्यं दर्शनीयं वसन्तपुरं नाम नगरं प्राप्तौ। कुत्र गन्तव्यं, किं अनुष्ठातव्यं, कथं प्राणवृत्तिः कर्त्तव्या च सम्यक् परिचिन्तितं विमृष्टं एताभ्याम्। 'न पराश्रयीभूत जीवनं जीवितव्यं' इति पूर्वनिश्चयानुसारेण न नगरे गतौ इमौ। किन्तु पुरस्य बहिः सुरम्यस्थले एकं उटजं निर्माय मृत्तिका-गोमयेन लिम्पयित्वा सर्वं व्यवस्थितं कृत्वा सुखं तत्र न्युषितौ दम्पती। आजीविका-निमित्तं श्रेष्ठिना आनीतो मूल्येन एकः कुठारः। अटयित्वा अटवीं आनयति काष्ट-भारिकां, विक्रीणाति च नगरमध्ये। तया यत् प्राप्तं भवति तेन समयज्ञा भानुमती आयानुरूपं व्ययमाना सन्तुष्टं गार्हस्थ्यं सञ्चालयति। देशान्तरे केनाऽपि अनुपलक्षितौ एतौ तादृशेन साधा-रणेन कर्मणाऽपि अव्रीडितौ वेलां अतिवाहयतः।

यदा आवर्णितं मन्मनेन यद् जिनदत्तो भार्याद्वितीयः केनापि अलक्षितो जन-रवेण लज्जितः दुर्विधिना तर्जितः तूष्णीकं निशीथिन्यां

पयवी (पाइयलच्छी० ८३)। २ उटजम्—कुटिया इतिभाषा। ३ अव्रीडिता ४ यदा।

निसीहिणीए[1] सत्तर पलाणो[2]'त्ति' । ताला किविणस्स मणो पमोअ-मेउरो जाओ । अहह[1] सुह मे अइ सुह ! अणायास मह[3] मणोभावणा फलवई हवीअ[4] । दायव्व-दविण-वुड्ढी-भार-विखुध्दो अहमण्णो ण कयाइ पच्चावलिहिइ एत्थ वराओ जिणदत्तो । आगास[5]-कुसुमाइआ इमिआ कप्पणा जमेसो पच्चावलिओ सतो सकुसीअयं[6] दव्व उत्तमण्णाण पच्छाकरिस्सइ, तहेव पुत्त पुण एहिइ सो णिअ गेह 'ति तओ णीसदेह भूओ मे गिहप्पईवो रयणवालो बालो । दइव-किवाए कहमवि अपूरणिज्जा खई पुण्णा । दुब्भर अखाय विहिणा समतल भूअ । नूण उप्पण्णो मे महाकट्ठ-सचिआए विभूईए भविस्सतो सामी । एव कप्पणा-महुर भविस्स चिंततो णिग्घिणो वि मम्मणो करेइ अणेग-जयणाइ डिभट्ठ[1] । हणिहणि[2] वड्ढमाणो अकाओ अक साहरिज्जमाणो छावो अईव पिओ पडिभासेइ । आणिआणि अणेगाणि कीलणयाणि पोअ-मण-परितुट्ठिकारयाणि । आगरिसण-कारगेहिं वत्थेहिं चिचिल्लिओ,[3] लहू-सोवण्णिअ-वलएहिं हत्थेसु[1] समलकिओ, मोत्तिअ-मालाए कठम्मि मंडिओ, महग्घेहिं ताडकेहिं कण्णेसु पसाहिओ य एसो । मा ए नयण-दोसो होउ 'त्ति कज्जल-बिंदूहिं णिडालम्मि बाहु-जुअलम्मि य सामलिओ[1] । किं वहुणा, ण णाममेत्ता वि तुडी विज्जइ अस्स परिवालणम्मि ।

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए पुत्तजम्म-देसचाअ-वसतपुरागमणाइभावसंजुत्ताए रयणवाल-कहाए बीओ ऊसासो समत्तो ॥२॥

सत्वर पलायित इति। तदा कृपणस्य मन प्रमोद मेदुर जातम्। अहह! शुभ मे अति शुभम्! अनायास मम मनोभावना फलवती अभूत्। दातव्य-द्रविण-वृद्धिभार-विक्षुब्ध अधमर्णो न कदापि प्रत्यार लिप्यते अथ वराको जिनदत्त। आकाश-कुसुमायिता इय कल्पना यत् एष प्रत्यावलित सन् सकुसीदर द्रव्य उत्तमर्णेभ्य पश्चात् करिष्यति, सर्वथैव पुत्र पुन नेष्यति स निज गृहम् इति। तत. निस्सन्देह भूतो मे गृहप्रदीप रत्नपालो बाल। दैवकृपया कथमपि अपूरणीया क्षति पूर्णा। दुर्भर अभाव विधिना समतल भूतम्। नून उत्पन्नो म महाकष्टसञ्चितायाः विभूत्या भविष्यन् स्वामी। एव कल्पना-मधुर भविष्य चिन्तयन् निर्घृणोऽपि मन्मन करोति अनेकयत्नात् डिम्भार्थम्। अहन्यहनि वर्धमान अङ्कात् अङ्क सङ्क्रम्यमाण बालोऽतीव प्रिय प्रतिभासते। आनीतानि अनेकानि क्रीडनकानि पोतमन-परितुष्टि कारकाणि। आकर्षण-कारकै वस्त्रै विभूषित, लघुसौवर्णिक—वलयाभ्या हस्तयो समलङ्कृत, मौक्तिकमालया कण्ठे मण्डित, महार्घ्याभ्या ताडङ्काभ्या कर्णयो प्रसाधित एष। मा कस्य नयनदोषो भवतु इति कज्जल-बिन्दुभि ललाटे बाहुयुगले च श्यामलित। कि बहुना, न नाममात्राऽपि त्रुटि विद्यते अस्य परिपालने।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिताया पुत्र-जन्म-देसत्याग—
वसन्तपुरागमनादिभावसयुक्ताया रत्नपाल-
कथाया द्वितीय उच्छ्वास समाप्त

---

१ निशिथिन्याम रात्रौ २ पलायित ३ मम ४ अभूत् ५ आकाश-कुसुमायिता ६ सकुसीदम् ७ अहन्यहनि ८ विभूषित ९ श्यामलित।

३

अह तइओ ऊसासो



समत्थ[1]-जीवलोअ-तत्तिणिवारगो, णाणाविह-तरु-लया-पुप्फ-फल-गुम्म-विचित्त-तणोसहि-उप्पायगो, णिज्जल-पएसेग-जीवणाहारो, हालिएहिं अणिमिस-दिट्ठीए दिट्ठिआ[2] चिरं विहीरिओ[3] उब्भूओ पाउसिओ कालो। रोलंब-गवल-कालिआ वि णयणाहिरामा, उट्ठाविअ-धूलि उक्केरा वि णीरया, कयंधयारा वि उज्जोइअ-माणसा, चंचल-पयासा वि लक्खिअ[4]-अज्जंतुज्जलपयासा, कण्णजाह-भेअं थणंती वि अईव कण्णप्पिआ, पाईण-पवण-पेरिआ वि सज्जुक्का, उट्ठिआ अंबरम्मि कायंबिणी[5]। अज्जेव इयाणिमेव सव्वेसिं संतुट्ठिं करेमि'त्ति वरिसिउं पउत्ता धारासारेण सा। जलजलाइअं जायं सव्वओ सगयणं भूअलं। ण अम्हाणं संगहो रोअए ईईव

---

१ समस्तजीवलोकतप्तिनिवारक २ दृष्ट्या-सम्मदेनेत्यर्थ ३ प्रतीक्षित.

३

अथ तृतीय उच्छ्वास

समस्त-जीवलोक-तप्ति-निवारक: नानाविध-तरु-लता-पुष्प-फल-गुल्म-विचित्र-तृणोपच्युत्पादक, निर्जलप्रदेशैकजीवनाधार हालिकैर्-निमिषदृष्ट्या दिष्ट्या चिर प्रतीक्षित उद्भूत प्रावृषिक काल । रोलम्ब-शबल कलिकाऽपि नयनाभिरामा, उत्थापितपुलपुला रागाऽपि नीरजा, कृतान्धकाराऽपि उद्योतित-मानसा, चञ्चलप्रकाशापि लक्षिता-ऽत्युज्ज्वल-प्रकाशा, कर्णाहभेद स्तनन्ती अपि अतीव कर्णप्रिया प्राचीन-पवन-प्रेरिताऽपि सद्यस्का, उत्थिता अम्बरे कादम्बिनी। 'अद्यैव इदानीमेव सर्वथा सन्तुष्टिं करोमि' इति वर्षितु प्रवृत्ता धारासारेण सा। जलजलायित जात सर्वत सगगन भूतलम्। न अस्मभ्य सग्रहो रोचते इतीव मूसलधार मन्ये पतितु लग्ना प्रमाना।

४ लक्षित भविष्यदुज्ज्वल प्रकाशा ५ कादम्बिनी-मेघमाला।

मूसलधारं मणे पडिउं लग्गा पाणाला। अणेग-णईरूव-मुररीकयं णयरवीहीहिं। उण्णीरा संभूआ खणेण तलिमणीरा अवडा[1]। उप्पवाहा[2] जाया जलरासिं धारेउमक्खमा तुच्छा तडागा। पडिपुण्णाओ णिण्णगाओ विअड-तडाओ संजायाओ। णट्ठं तत्तीए णामहेयं। कण्णं गओ सव्वेसिं सव्वओ समयमहुरो दद्दुराण रावो। विणिद्दा जाया चिर मुच्छिआ जीवणधणं पप्प वणराई। कया किंसि-कारगेहिं किंसि-उवगरणेहिं सद्धिं बलद्द-पूआ! लक्खिअ-णक्खत्तबला गहिअ-सुह-सउणा केआराहिमुहं[3] णिग्गया एए बीअ-ववणट्ठं। अहो! सव्वंगिअं सुंदेर पत्थरिअं समंतओ।

इओ सुविहिअ पच्चूस कालिअ-धम्म-कज्जो जिणदत्तो खंधारोविअ-कुढारो चलिओ कट्ठहारगेहिं सद्धिं कट्ठभारं णेउं वणाहिमुहं, परंतु सुदुल्लहा जाया सुक्क-कट्ठ-संपत्ती तारिसे पाउस-कालम्मि। जत्थ पस्सइ तत्थेव परिहरिअ[4]-हरिअ-कुप्पासा छज्जए[5] पुढवी। सुक्का कुडिल्ला[6] वि लद्धाऽहिणव-कुंचला-ओवासए[7] रुक्खाणं ओली। कुड्डं! णत्थि ओआसो किर सुक्काणं रुक्खाणं। अत्थि णियमो जिणदत्तस्स हरिअ-रुक्खे छेउं गहिअ-दुआलस-सावग-वयेसु। बहुगविट्ठमवि ण पत्तं सुक्कं कट्ठं कत्थइ एएण। संपइ किं कायव्व'ति चिंतापरो सवुत्तो सो। रक्खिए वयम्मि ण सुरक्खिआ चिट्ठइ आजीविआ। अण्णेहिं कट्ठहारेगेहिं विसयं वज्जरिअं—"भद्दोसि तुमं ण जाणासि जं संपइ

---

१ अवटा—कूपा २ उत्प्रवाहा ३ केदाराभिमुखम् क्षेत्राभिमुखम् ४ परिधृत-हरितकुर्पासा ५ शोभते—यथा—अग्घइ, छज्जइ, रेहइ, विरायए, सोहए

अनेकनदीस्य उपरोहत नगरवीथिभि । उशीरा मम्मूना क्षणेन तलिमनीरा अवटा । उन्प्रवाहा जाता जलराशि धारयितु अक्षमा तुच्छास्तटाका । प्रतिपूर्णा निम्नगा विवटतटा सञ्जाता । नष्ट तप्तेर्नामधेयम् । वर्णं गत मर्येषा सर्वत समय मधुरो दर्दुराणा राव । विनिद्रा जाता चिर-मूर्च्छिता जीवन-घन प्राप्य वनराजो । कृता कृषिकारै धृत्युपकरणै सार्धं बलीवर्द-पूजा । लक्षित-नक्षत्र-बला गृहीत शुभमुहूर्ता केदाराभिमुख निर्गता एते बीज-वपनार्थम् । अहो ! सर्वाङ्गीण सौन्दर्य प्रस्तृत समन्तत ।

वट्टए वरिसा-समयो। णियम-परिवालणत्तो आवस्सयं उइअं च कुच्छि-परिवालणं। णत्थि आवइ-काले मज्जाद'त्ति विइआ' लोगुत्ती। ता मुंचसु, अण्णाण-पडिवण्णं सुहकाल-पालणिज्जं पइण्णं। णिवहंतु ते धम्म-णियमे जे संति धणड्ढा विउल-विभूइमंता जेसिं ण काइ विढवण-चिंता₂। तएजारिसाणं₃ कए कत्थ धम्म-मंदिर-पवेसणावयासो। ता छिंदसु, भो! छिंदसु, हरिअ-कट्ठाण णिउरंबं।"

अणुइअमुईरणं[४] तेसिं धम्मिट्ठ-सेट्ठिस्स ण रुइअं। उद्दित्त-णाण-गहिरिअं पचुत्तरिअं सेट्ठिणा—"ण मुणिअं भो! तुब्भेहिं धम्म-तत्तं। ण धम्मायरणम्मि लच्छी-पुत्ताणं धण-दरिद्दाणं वा परिविसेसो। लद्धतत्तो चुच्छोवि अचुच्छ धम्मकारगो। रहस्सवंञ्चो ईसरो वि धम्मं काउमणीसरो। णूणं आवयाए च्चिअ रेहइ[५] कसवट्ट-वट्टिअं-सुवण्णव्व धम्मो। उअर-परिवालणं तु साणो वि करेइ संमता भममाणो। तत्थ किं चोज्जं[६]? मणुअस्स एसो चिय माहप्पो जमेसो पाणेहिं पि माहप्पमप्पेइ अणुत्तरस्स धम्मस्स। सुक्किअधणाणं पत्ती वि कहं ण हविस्सइ, जयाहं अवीसामं परिस्समं करिस्सं। विमग्गिअं किं ण अग्गओ आयाहिइ? तोडिअ-वयाणं किं जीवणं जीवणं? अक्खय-पइण्णाणं दुहंपि सुहंकरं। तम्हा मए ण कयावि जहणिज्जं[७] वयं।" एवं साहेऊण एगागी णिब्भओ सेट्ठी सुक्क-कट्ठ-लद्धीए गहण-वणम्मि गओ। भिस-मण्णेसणा कया णेण, परंतु ण एगावि अचित्त-कट्ठ-लट्ठी[८] हत्थमागया इम्मस्स। तहवि अणुआसीणो रित्त-हत्थो पच्चा-वलिओ गिहंमि विलंबेण सेट्ठी?

सम्प्रति वर्तते वर्षासमय । नियम-परिपालनत आवश्यक उचितं च कुक्षि परिपालनम् । नास्ति आपत्काले मर्यादा इति विदिता लोकोक्ति । तस्मात् मुञ्च, अज्ञान-प्रतिपन्ना सुखबाल-पालनीया प्रतिज्ञाम् । निर्वहन्तु ते धर्म-नियमान् ये सन्ति धनाढ्या विपुल-विभूति-मन्त येषा न वापि अर्जन-चिन्ता । त्वादृशाना कृते कुत्र धर्म-मन्दिर-प्रवेशमावकाश । तस्मात् छिन्धि भो । छिन्धि हरित-शाखाना निकुरम्बम् ।"

अनुचित उदीरण तेषा धर्मिष्ठ-श्रेष्ठिने न रुचितम् । उद्दिप्त-ज्ञानगाम्भीर्य प्रत्युत्तरित श्रेष्ठिना—"न ज्ञात भो । युष्माभिर्धर्म-तत्त्वम् । न धर्माचरणे लक्ष्मी-पुत्राणा धन-दरिद्राणा वा परिविशेष । लब्धतत्त्व तुच्छोऽपि अतुच्छ धर्मकारक । रहस्यबन्ध्य ईश्वरोऽपि धर्मं कर्तुं अनीश्वर । नून आपदि एव राजते कषपट्टवर्तित सुवर्ण-वद् धर्मम् । उदर-परिपालन तु श्वानोऽपि करोति समन्तात् भ्रमन् । तत्र किं चोज्ज (आश्चर्यम्) ? मनुजस्य एतदेव माहात्म्य यत् एष प्राणैरपि माहात्म्यमर्पयति अनुत्तराय धर्माय । शुष्केन्धनाना प्राप्तिरपि कथ न भविष्यति यदाहं अविश्राम परिश्रम करिष्यामि । विमार्गित किं न अग्रत आयास्यति ? त्रोटित-व्रताना किं जीवन जीवनम् ? अक्षत-प्रतिज्ञाना दु खमपि शुभकरम्, तस्मात् मया न कदापि हातव्य व्रतम् । एव कथयित्वा एकाकी निर्भय श्रेष्ठी शुष्क-काष्ठ-लब्धये गहन-वने गत । भूरा अन्वेषणा कृता अनेन, परन्तु न एका पि अचित्तकाष्ठयष्टि हस्तमागता अस्य । तथापि अनुदासीनो रिक्तहस्त प्रत्यावलित गृहे विलम्बेन श्रेष्ठी ।

---

१ विदिता २ अर्जन चिन्ता ३ त्वादृशानाम् ४ अनुचितम् ५ राजत
६ आश्चर्यम् ७ हातव्यम् ८ अचित्तकाष्ठयष्टि ।

इओ पडिक्खमाणा पइदेवं भाणुमई ट्ठिआ उडज-दुवारम्मि । कहं-णागया अहुणावहि अज्जउत्ता ? किं णवीण-मरिट्ठं उप्पण्णं ? एवं चिरपडिवालेमाणीए ताए णयणपहमोइण्णो रयणवाल-पिआ । मोअ-मेउरा जाया जाया । रणरणयमावण्णाए[1] ताए उट्टंकिअं—"कहं चिराइयं अज्ज अज्जउत्तेहिं ? कहमुव्वायं[2] दीसइ भे अंगं ? कत्थ विच्छड्डिआ[3] सिरम्मि णिज्जंती[4] इंधण-भारिआ ।" एवं पेमिल्लाए सहम्मिणीए अणेगाओ पण्हाओ[5] पत्थुआओ ।

तत्त-गहिर-मुद्दाए[6] सेट्ठिणा पयडीकयं—"पिये ! अत्थि पाउस-कालो । दुल्लहं सुक्कं कट्ठं । तं ढुंढुल्लमाणेण[7] मए एत्तिल्लो[8] समयो अइवाहिओ, परंतु ण लद्धं जहेच्छिअं वत्थुं । वय-भंग-भीरुणा मए ण आणिअं सच्चित्तं कट्ठं । तो रित्तहत्थो किर पुण आगओ म्हि । रयणमायरं ! निच्चलं रक्खिअं वयं णिच्छियं रक्खा-कारगं हवइ ।"

"सम्मं चिंतणं अज्जउत्ताणं । ण तुच्छ-भंगुर-पोग्गलिअ-सुहाणं कए णं अतुच्छामरज्झत्थ-सुहाणं हाणि करेइ सुण्ण-मणुओ । सुवे परज्जु वा जं पावणिज्जं तं पाविस्सामो, का चिंता ।" णिवेइयं पियधम्माए सहम्मिणीए णिब्भयं ।

एअं खु सुधम्म-पत्तीए पच्चक्खं णिदंसणं । अहो ! एआरिसीए आवयाए वि ण एएसिं मणो चावल्लं पत्तो । विइओ दिअहो वि अलद्ध-लवसो णिग्गओ । तइअम्मि दिवसम्मि णीरंध-वणविभागे बंभममाणेण सेट्ठिणा एगाए

---

१ रणरणक-औत्सुक्यम् २ परिम्लान. ३ विच्छर्दिता-त्यक्ता ४ नीयमाना ५ प्रश्नाः. प्राकृते स्त्रीलिङ्गेऽपि, यथा—पण्हावागरण ६ तत्त्वगर्भितमुद्रया ।

इत प्रतीक्षमाणा पतिदेव भानुमती स्थिता उटज-द्वारे। कथ नागता अधुनावधि आर्यपुत्रा ? किं नवीन अरिष्ट उत्पन्नम् ? एव चिर-प्रतिपालयन्त्या तस्या नयनपथ अवतीर्णो रत्नपालपिता। मोदमेदुरा जाता जाया। रणरणक आपन्नया तया उद्दङ्कितम्—"कथ चिरायित अद्य आर्यपुत्र ? कथ उद्वात दृश्यते युष्माक आननम् ? कुत्र विच्छर्दिता शिरसि नीयमाना इन्धनभारिका।" एव प्रेमपरया सधर्मिण्या अनेके प्रश्ना प्रस्तुता।

तत्र गम्भीर-मुद्रया श्रेष्ठिना प्रकटीकृतम्—"प्रिये ! अस्ति प्रावृट्काल। दुर्लभ शुष्क काष्ठम्। तद् गवेषयता मया इयान् समयोऽतिवाहित, परन्तु न लब्ध यथेष्ट वस्तु। व्रत-भङ्ग-भीरुणा मया न आनीत सचित्त काष्ठम्। तत रिक्तहस्त किल पुन आगतोऽस्मि रत्नमात। निश्चल रक्षित व्रत निश्चित रक्षाकारक भवति।

"सम्यक् चिन्तन आर्यपुत्राणाम्। न तुच्छ-भङ्गुर-पौद्गलिक-सुखाना कृते अतुच्छामराध्यात्मसुखाना हानि करोति गुरुमनुज। श्व परेद्यु वा यत् प्रापणीय तत् प्राप्स्याम, का चिन्ता ?" निवेदित प्रिय-धर्मिण्या सधर्मिण्या निर्भयम्।

एतत् खलु धर्म-प्राप्ते प्रत्यक्ष निदर्शनम्। अहो ! एतादृश्या आपदि अपि न एतयो मन. चापल्य प्राप्तम्। द्वितीय दिवसोऽपि अलब्ध लक्ष्यो निर्गत। तृतीये दिवसे नीरन्ध्र-वन-विभागे परिभ्रम्य-

---

७ गवेषयता—'गवेषेर्ढुण्ढुल्ल-ढण्ढोल-गमेस घत्ता' (हे० ४-१८९) ८ इयान् 'इद किमश्चडेत्तिअ डेत्तिल्ल डेद्दहा' (हे० २ १५७) ९ गुरुमनुज।

गिरिकंदरीए दिव्व-णियम-प्पहावेण अमरचंदणस्स संघाओ दिट्ठो। णिभालिऊण जहेच्छिअं दव्वं पसण्णमणो सेट्ठिओ जाओ, किंतु विहि-दोसेण दक्खेणावि एइणा[1] ण लक्खिअं हरिचंदणं'ति। धी धी धी! विवरीए विहिम्मि चेअणावि चुक्किअ[2]-केअणा संपज्जइ। संदाणिओ दढो तस्स भारो तक्कालं। मत्थयम्मि काऊणं णयर-दिसं पच्चावलिओ। णयर परिसरम्मि एज्जंतस्स धुत्त-सिरोमणी धणदत्तो उप्फुल्ल-वयण-कमलो वि कलुसिअंतक्करणो अकम्हा संमुहमागओ। महमहिअं[3] कट्ठभारमवगंतूण अच्चंतं विक्खापण्णो[4] सो। अहो! अस्स अयाणगस्स सिरंसि अमरचंदणं कुओ आगयं? अहवा घुणक्खरोयणाओ[5] एत्थ संगओ। किं वा ण लद्धो बालिस[6]-बंभणेण चिंतामणी? जाउ पयडो वि कोउहल्ल-तप्परा हवइ। गिण्हेमि किर अस्स मूढयाए अतुल्लं लाहं। पच्चक्खमवि गंधुग्गिरणं[7] जेण ण लक्खिज्जइ तेण मूढेण चंदण-सब्भावोवि णूणमलक्खिओ हवेज्जा। इअ विचिंतिऊण-उसलिअ[8]-रोमकूओ धुत्तताए सप्पेमं जिणदत्तं वाहरिउं पउत्तो—"भायरं! किं विक्केअणिज्जमिंधणमिणमो? जइ अत्थि? तरिहि जहोचिअ-मुल्लमग्गणं कायव्वं। सप्पुरिसाण एसा च्चिय पणाली जं ते ण मुहेण मिच्छा जंपणं कुव्वंति। एगहुत्तं कहिअं ण उण परावत्तंति। मुहागिईए तुमं पि 'भद्दपुरिस'त्ति लक्खिज्जसि। ता जहेच्छं मोल्लमाविक्करणिज्जं। अहमवि ण तं परावत्तिस्सं समुद्दअं।" आयण्णिअ

---

१ एतेन २ स्खलितचेतना 'चुक्कादेश.' ३ प्रस्फुटद्-गन्धम् ४ वीक्षापन्न.—

माणेन श्रेष्ठिना एकस्या गिरिकन्दरायां दिव्य-नियम-प्रभावेण अमरचन्दनस्य सङ्घात दृष्ट । निभालयित्वा यथेष्ट द्रव्य प्रसन्नमना श्रेष्ठिवय जात किन्तु विधि-दोषेण दक्षेणापि एतेन न लक्षित हरिचन्दनम् इति । धिग् ! धिग् ! विपरीते विधौ चेतनापि स्खलित-चेतना सम्पद्यते । सन्दानितो दृढस्तस्य भार तत्कालम् । मस्तके कृत्वा नगरदिश प्रत्यावलित । नगरपरिसरे आयत तस्य धूर्त-शिरोमणि धनदत्त उत्फुल्लवदन कमलोऽपि कलुषितान्त करण अकस्मात् सम्मुखमागत । महमहिअ (प्रस्फुटद्गन्ध) काष्ठभार अवगम्य अत्यन्त वीक्षापन्न स । अव्वो ! अस्य अज्ञानकस्य शिरसि अमरचन्दन कुत आगतम् ? अथवा घुणाक्षरीयन्यायोऽत्र सञ्जात । किं वा न लब्धो बालिश-ब्राह्मणेन चिन्तामणि ? जातु प्रकृतिरपि कुतूहल-तत्परा-भवति । गृह्णामि किल अस्य मूढतायां अतुल्य लाभम् । प्रत्यक्षमपि गन्धोद्गीर्णं येन न लक्ष्यते तेन मूढेन चन्दन-सद्भावोऽपि नून अलक्षित भवेत् । इति विचिन्त्य उल्लसित-रोमकूप धूर्ततया सप्रेम जिनदत्त व्याहर्तुं-प्रवृत्त —"भ्रात ! किं विक्रेतव्य इन्धनमिदम् ? यदि अस्ति तर्हि यथोचित-मूल्य मार्गण कर्त्तव्यम् । सत्पुरुषाणां एषा एव प्रणाली यत् ते न मुखेन मिथ्या जल्पन कुर्वन्ति । एकवार कथित न पुन परावर्तन्ते । मुखाकृत्या त्वमपि 'भद्रपुरुष' इति लक्ष्यसे । तस्मात् यथेष्ट मूल्य आविष्करणीयम् । अहमपि न तत् परावर्त-

---

विस्मय गत ५ घुणाक्षरीयन्याय ६ मूर्खब्राह्मणेन ७ गन्धोद्गिरणम् ८ उल्लसित-रोमकूप ।

मुणिज्जमाण-सब्भ-पुरिसस्स वग्गु[1]-भणिइं उज्जुहिअयो अलद्ध-वंचणा-रहस्सो णिआसयेण परासयमंकेमाणो सेट्ठी आणंदिओ जाओ, साहेउं च पउत्तो—"सुकई ! सुट्ठु वागरणं भवओ, णाहं काहं[2] मुहा पलावं। णूणं विवकेअणिज्जो मए कट्ठभारो। अण्णहा कहमम्हारिसाणं चलइ गिहत्थासमो ? णिच्चं णव-खणिअ-कूवस्स णीरं पिएमो अम्हे। णो भवारिसाणं पिव कोसपरिवड्ढणावसरो अम्हारिसाण। भारिआए ताव मोल्लं केवलमड्ढीइज्जाणयमेत्तं[3]। ण इओ अइरित्तं ण उण ऊणयं जइ घेतव्वं तरिहि......।"

अलक्खियामरचंदणेदंपज्जस्स[4] रिजुमइणो जिणदत्तस्स भारहिं णिसमिऊण पयारण-कुसलो सो हट्ठतुट्ठो जाओ। "साहु साहु भो भद्द ! समुइअं मोल्लं तुमए मग्गिअं, मए वि एद्दहमेत्तमेवाणुमिअं"। महाकढिणायासस्स तुम्हारिसाणं जहत्थं मुल्लंकणं कायव्वमम्हारिसेहिं; इअरहा सेअ-बिंदु-सित्तो कओ परिस्समो अवमणिज्जइ। हंदि ! केरिसमंधयारं ! जे सयं[5] परिस्समेंता, ससरीर-सुहमवि अवगणेंता, सीआतवाइ-किलेसं सहेंता, दुहिआ पिवासिआ अलद्धावासा अणासाइअ-विज्जाब्भासावसरा लुक्का[6] तहा णगिणा अवेक्खि[7]-ज्जंति, दुगु[8]ञ्छिज्जंति य। तओ विवरीआ पर-परिस्सम-लाहलोलुहा णाणा-कुडिल-कला-कलाव-कोविआ हिअय-विहूणा मणुअ-धम्मवंझा धणकुवेरा विसालावासा वत्थालंकार-विहूसिआ णाणावाहण-परिइण्णा पिचंडिला अलसा चिट्ठंति,

---

१ वल्गुभणितिम् २ करिष्ये ३ अढाई आना ४ अलक्षितामरचन्दनैदम्प-

यिष्यामि समुचितम्" । आकर्ण्य ज्ञायमान-सभ्यपुरुषस्य वल्गुभणितिं ऋजुहृदयोऽलब्ध-वञ्चना-रहस्यो निजाशयेन पराशय अङ्कयन् श्रेष्ठी आनन्दितो जात, कथयितु च प्रवृत्त — "सुकृतिन्! सुष्ठु व्याकरण भवत । नाह करिष्ये मुधाप्रलापम् । नून विक्रेतव्य मया काष्ठभार । अन्यथा कथ अस्मादृशाना चलति गृहस्थाश्रम ? नित्य नव-खनित-कूपस्य नीर पिबामोवयम् । नो भवादृशानामिव कोश-परिवर्धना-वसरोऽस्मादृशानाम् । भारिकायास्तावत् मूल्य केवल सार्धद्वयाण-कमात्रम् । न इतोऽतिरिक्त न पुन ऊनक, यदि गृहीतव्य तर्हि .. ।

अलक्षितामरचन्दनैदम्पर्यस्य ऋजुमते जिनदत्तस्य भारती निशम्य प्रतारण-कुशल सहृष्ट-तुष्ट जात । साधु साधु भो भद्र! समुचित मूल्य त्वया मार्गितम्, मयापि एतावन्मात्रमेव अनुमितम् । महाकठिना-यासस्य त्वादृशाना यथेष्ट मूल्याङ्कन कर्त्तव्य अस्मादृशै, इतरथा स्वेद-बिन्दु-सिक्त कृत परिश्रम अवमन्यते । हन्दि! कीदृश अन्धकारम् ? यत् सतत परिश्राम्यन्त स्वशरीरसुखमपि अवगणयन्त , शीततापादिक्ले श सहमाना, क्षुधिता पिपासिता अलब्धावारा अनासादित-विद्याभ्यासावसरा रुग्णा तथा नग्ना उपेक्ष्यन्ते, जुगुप्स्यन्ते च । तत विपरीता पर-परिश्रम-लाभ-लोलुभा नाना-कुटिल-कला-कलाप-कोविदा हृदय-विहीना मनुज-धर्म-वन्ध्या धनकुबेरा विशालावासा वस्त्रालङ्कार-विभूषिता नाना-वाहन-परिकीर्णा पिचण्डिला अलसा

यस्य-अज्ञातहरिचन्दनरहस्यस्य इत्यर्थ ५ एतावन्मात्रम् ६ सततम् ७ रुग्णा ८ उपेक्ष्यन्ते ।

मोयंति, कीलंति, जं किमवि जंपेमाणा य पगब्भंति"'। पिसुणिअं धणदत्तेण।

चित्तं! धुत्तसेहराणं अलक्खणिज्जा वंचणप्पणाली। वयणेसु अण्ण, अण्णं पुण विआरेसु। तेसिं महुरं जंपणमवि विस-मीसिअं। तेसिं हसिरा आगिई वि कसाय-कलुसा विगिई। तेसिं सम्माण-दाणं पि अलक्खिअ-मायाविआणं। खणं पि तेसिं संगई, पचक्ख दुग्गई। अहवा किमेआरिसं कज्ज-मकरणिज्जं जं ण समायरेइ दुज्जणो जणो? अलं तेसिं कहाहिं।

पुणरवि वंचगेण महुलित्त-खग्ग-धारा-समाए सरस्सईए पवचिअं—"ता सोम्म! एहि मए सद्धिं मह-गिहपेरंतं, देमि तिण्णि आणयाणि तुह। अत्थि मणुअ-दिट्ठीए तुममवि भायरो मे, किं बहु-प्पलावेण?

केरिसो किवालु'त्ति कप्पेतो भद्दो जिणदत्तो तमणुगओ। छूढो कट्ठभारो। गहिआणि वारमाणेणावि तेण पसज्झ दिज्जमाणाणि तिण्णि आणयाणि। "ण अओ उड्ढ तुमए कत्थइ भमिअव्व कट्ठभार विक्केउ पइदिणं। अहमेव निच्छिअ-मोल्लेण गहिस्स त। किं किं ण जुज्जइ जेट्ठासमीए गिहम्मि, कट्ठ तु पुण णिच्च वावारणिज्ज वत्थु'' सतयंतेण साहिअं तेण।

एगो च्चिय थिरो गाहगो संवुत्तो'त्ति जिणदत्तो जत्थ-तत्थ भमण-सतत्थो मोमुइओ जाओ। किं रहस्स'ति तहवि

तिष्ठन्ति, मोदन्ते, क्रीडन्ति, यत् किमपि-जल्पन्तश्च प्रगल्भन्ते।" पिशुनित धनदत्तेन।

चित्रम् ! धूर्त-शेखराणा अलक्षणीया वञ्चन-प्रणाली। वचनेषु अन्यत् अन्यत् पुन विचारेषु। तेषा मधुरजल्पनमपि विष-मिश्रितम् ! तेषा हसिरी (हसनशीला) आकृतिरपि कषाय-कलुषा विकृति। तेषा सम्मान-दानमपि अलक्षित-मायावितानम्। क्षणमपि तेषा सङ्गति प्रत्यक्ष दुर्गति। अथवा कि एतादृश कार्य अकरणीय यत् न समाचरति दुर्जनो जन ? अल तेषा कथाभि।

पुनरपि वञ्चकेन मधु-लिप्त-खड्गधारा-समया सरस्वत्या प्रपञ्चितम्—"तस्मात् सौम्य ! एहि मया सार्धं मम गृहपर्यन्त, ददामि त्रीणि आणकानि तुभ्यम्। अस्ति मनुजदृष्ट्या त्वमपि भ्राता मे किं बहुप्रलापेन ?"

'कीदृश कृपालु' इति कल्पयन् भद्रो जिनदत्त तमनुगत। क्षिप्त काष्ठभार। गृहीतानि वारयतापि तेन प्रसह्य दीयमानानि त्रीणि आणकानि। "न अत ऊर्ध्वं त्वया कुत्रापि भ्रमितव्य काष्ठभार किन्तु प्रतिदिनम्। अहमेव निश्चित-मूल्येन ग्रहीष्यामि तम्। किं किं न युज्यते ज्येष्ठाश्रमिणा गृहे, काष्ठ तु पुनर्नित्य व्यापारणीय वस्तु" सान्त्वयता कथित धनदत्तेन।

'एष एव स्थिर ग्राहक सवृत्त' इति जिनदत्त यत्र तत्र भ्रमण-सन्तप्त मोमुदित जात। किं रहस्यमिति तथापि न लक्षित

---

१ प्रगल्भन्ते २ सरस्वत्या ३ क्षिप्त 'भृश-क्षिप्तयो छूढी' (हे० २-१२७) ४ प्रसह्य ५ सान्त्वयता।

ण लक्खिअ णेण पजलेण[1]। इत्थ णिअय सेट्ठी महा-मुल्लिल्ल हरिचंदणभार साहारएाकड्ढमोल्लेण अल्लिवइ धुत्तस्स धणदत्तस्स। सो वि अस्स रहस्सस्स मा कोवि कोविओ[2] होउ'त्ति गुत्तत्त्वेण गहिऊण सगोवेइ। अणुऊलं वार पप्प अण्णत्थ पट्ठविअ अउलो लाहो गहणिज्जो 'त्ति णिच्छिअ वयणेण। किंतु पडिफलिअ कइअव केरिस पडिभय कज्जलिअं परिणाम दक्खवेइ 'त्ति ण णाय तेण माया-विणा।

जिणदत्तस्सेव सुहेण उअर-णिव्वाहो हवइ। पत्त-मुद्दाए सतुट्ठा भाणुमई साणद विवइ-कालमुल्लघेइ। पुव्वावत्थासरण जाहे जाहे हवेज्जा, ताहे ताहे णिअ-घडिअ-पाव-परिणइ चिंतेमाणा इमे मणं पसाअंति। धम्मो चिअ एग सरएा'त्ति सरेंता ण मिच्छा सोगपरा जायंति। पर ण एआरिस दिएा, जामो, मुहुत्त वा वच्चइ जम्मि पिअ-पुत्तस्स सई ण सज्जुक्का होइ। तत्थगय उअत पावेउ पडिपल हिअयमुत्तम्मिअ[3] चिट्ठइ, पर दविट्ठ-देसतरम्मि ण मणावि[4] चिरजीविणो पुत्तस्स पउत्ती पत्ता सिआ।

[1] [illegible]केन २ कोविद ३ उत्तातम् खिन्नमित्यर्थ ४ मनागपि।

अनेन प्राञ्जलेन। इत्थं नियतं श्रेष्ठी महामूल्यवन्तं हरिचन्दनभारं साधारण-काष्ठ-मूल्येन अर्पयति धूर्ताय धनदत्ताय। सोऽपि 'अस्य रहस्यस्य मा कोऽपि कोविदः भवतु' इति गुप्तरूपेण गृहीत्वा सगोपयति, अनुकूलं वारं प्राप्य अन्यत्र प्रस्थाप्य अतुलो लाभो ग्रहणीयः' इति निश्चितं वञ्चकेन। किन्तु प्रतिफलितं यत्तव कीदृशं प्रतिभयकज्जलितं परिणामं दर्शयति इति न ज्ञातं तेन मायाविना।

जिनदत्तस्य एव सुखेन उदर-निर्वाहो भवति। प्राप्त मुद्रया सन्तुष्टा भानुमती सानन्दं विपत्कालं उल्लङ्घयति। पूर्वावस्थास्मरणं यदा कदा भवेत् तदा तदा निज-घटित-पाप-परिणतिं चिन्तयन्तौ इमौ मनः प्रसादयतः। 'धर्मः एव एकः शरणम्' इति स्मरन्तौ न मिथ्याशोककर्षरौ जायेते। परं न एतादृशं दिनं, यामं, मुहूर्तं वा व्रजति यस्मिन् प्रियपुत्रस्य स्मृतिर्न सजस्का भवति। तद्गतं उदन्तं प्राप्तुं हृदयं उत्तान्तं तिष्ठति, परम् दविष्ठदेशान्तरे न मनागपि चिरञ्जीविनः पुत्रस्य प्रवृत्तिः प्राप्ता स्यात्।

इओ य अइसुहेण लालिओ पालिओ रयणवालो बालो चंकमणक्खमो जाओ। सवएहि सद्धिं अणेगाहिं डिंभकीडाहिं कीलेंतो, खणेण रूसेंतो, हसेंतो, रुएंतो, भूअलम्मि आलोट्टेंतो सयज्झ[1]-छावेहिं विथक्केंतो[2], किंविणस्स हिअयं कोआसावेइ, पसाहेइ, आणंदाणंदिअं च कुणइ। अणेगाहिं आहिवाहीहिं सुरक्खिओ संगोविओ पुत्तो अट्ठवासिओ जाओ। पट्ठविओ मम्मणेणं पढणणिमित्तं पाढसालाए अणुहविणो गुरुणो समीवं। विणय-विवेग-संपण्णो एसो चवलमेहाए विज्जाज्झयणं कुणेंतो णाणाविज्जा-पारं गओ जाओ। इंगिआगारमाराहेमाणो अज्झावयस्स परमं पसायं पत्तो। विज्जा-भार-गरुओ वि लाघव-गुणेहिं सव्वत्थ सिलाहणिज्जो मुणिओ। मम्मणेणावि गिह-कज्जम्मि, आयाणप्पयाणम्मि[3], आवण-वावारम्मि य परिचिओ, संसत्तो च कओ। दुआलस्सवासिओ वि परिणय-वयो इव कज्ज-कुसलो संवुत्तो। आवणम्मि चिट्ठमाणो, वावारं कुणमाणो, महुरं ववहरमाणो य सव्वेसिं अईव चक्खुस्सो[4] लग्गइ। अणेगे गाहगा तु इमिणा वत्तालावेण संतुट्ठा तत्थ चिट्ठन्ति। बालोवि केरिसो दक्खो' त्ति भिसं पसंसेमाणा उरेण उवऊढंता पुलइआ हवंति।

---

१ प्रातिवेशिमकबालैः, यथा—'सयज्झो, समोसिओ' (पाइयलच्छी ७६६)

इतश्च अति सुखेन लालित पालित रत्नपाल बाल चङ्क्रमण-क्षमो जात । सवयोभि सार्ध अनेकाभि डिम्भ-क्रीडाभि क्रीडन् क्षणेन हृष्यन्, हसन्, रुदन् भूतले आलुण्ठन् सयज्ञ-शावै (प्राति-वेश्मिक बालै) वितिष्ठन् कृपणस्य हृदय विकासयति, प्रसादयति, आनन्दानन्दित च करोति । अनेकै आधि-व्याधिभि सुरक्षित सङ्गोपित पुत्र अष्टवार्षिक जात । प्रस्थापित मन्मनेन पठन-निमित्त पाठशालाया अनुभविनो गुरो समीपम् । विनय-विवेक-सम्पन्न एव चपलमेधया विद्याध्ययन कुर्वन् नानाविद्यापारङ्गतो जात । इङ्गिताकार आराधयन् अध्यापकस्य परम प्रसाद प्राप्त । मम्म-विद्याभारगुरुकोऽपि लाघवगुणै सर्वत्र श्लाघनीय ज्ञात । मम्म-नेनापि गृहकार्ये आदान-प्रदाने आपण व्यापरे च परिचित ससक्तश्च कृत । द्वादशवार्षिकोऽपि परिणतवया इव कार्यकुशल सवृत्त । आपणे तिष्ठन्, व्यापार कुर्वन्, मधुर व्यवहरन् च सर्वदा अतीव चक्षुष्य लगति । अनेके ग्राहका तु अनेन वार्तालापेन सन्तुष्टा तत्र तिष्ठन्ति । 'बालोऽपि कीदृशो दक्ष' इति भृश प्रशसन्त उरसा

---

२ वितिष्ठन् ३ आदानप्रदाने ४ चक्षुष्य -सुभग ।

परं इत्तोप्पं[1] विविह-गिह-कज्ज-कुसलेणावि ण णायं 'कोई' इअ रहस्सं णेण। मम्मणेणावि वीसुं एआरिसमणुऊलं वायावरणं जणिअं जेण मणयमवि ण अस्स कयावि अयम्मि विसयम्मि माणसं संदिद्धं हवइ। मम्मणो चिअ मे पिया, मम्मण-भज्जा चिअ मह जम्मदायिगा जणणि'त्ति जाणाइ सो, ण दिट्ठो कोइ कयाइ विवज्जासो[2]। परं, परं णिगूहिअमवि तुस-रासिम्मि छण्णं फुलिंगव्व रहस्सं जया कया बाहिरमागच्छइ। जमत्थि मत्थि चिय, तस्स णत्थित्तं कहं हवइ'त्ति णिच्छिअं तत्तं।

गओ एगया रयणवालो अहमणण्स्स[3] गिहम्मि वुड्ढिं गयं धणं पुण आणेउं। ण पच्चप्पिउं खमो सो ठिइ-वसंवओ। बालत्तणओ[4] अविण्णाय-परत्थ[5]-पारतंतो कय[6]-कयग्गहो तत्थेव ठिओ। णाहमज्ज अगहिअ-सवुड्ढिरित्थो रित्तहत्थो पच्चावलिस्सं। अणेगहुत्तं समागओहमिह धणमाणेउं, परंतु तुमं णिरंतरं किमवि किमवि मिसमायाय मं परावत्तेसि। हद्धी! केरिसी जणाण णोई जाया? जया गहणिज्जं धणं तयाणि तु महुरमहुर-वयणेहिं वयंति। 'तुम्हे किर अम्ह संरक्खया पालया जीवण-दाण-दायग'त्ति लालप्पमाणा अबीअं सोअण्णं पयडयंति। संपण्णे कज्जे, करायत्ते अत्थे य ण कोइ संबंधो'त्ति दूरओ णीसरंति। दायगेण वाहित्ता[7] रत्तयणणा जं किमवि पच्चुत्तरंता उत्तेजिआ हवंति। हंत! आगओ केरिसो विचित्तो दूसमो! जगोहिं गहिअं दायव्वं'ति विम्हुट्ठं, परंतु णाहं विच्छड्ढिस्सं समप्पिअं ईसिं वि।

---

१ एतत्प्रभृति, यथा इत्तोप्पं एअप्पभिइ।(पाइयलच्छी-४४८) २ विपर्यास.

उपगूहन्त पुलकिता भवन्ति। पर इत्तोप्प (इत प्रभृति) विविध-गृहकार्यकुशलेनापि न ज्ञात 'कोऽहम्' इति रहस्य अनेन। मन्मने-नापि किञ्चित् एतादृश अनुकूल वातावरण जनित येन मनागपि न अस्य कदापि अस्मिन् विषये मानस सदिग्ध भवति। 'मन्मन एव मे पिता, मन्मन-भार्या एव मम जन्मदायिका जननी' इति जानाति स। न दृष्ट कोऽपि कदापि विपर्यास। पर परम-निगूहितमपि तुषराशौ छन्न स्फुलिङ्गवत् रहस्य यदा कदा वहि आगच्छति। यदस्ति तदस्ति एव, तस्य नास्तित्व कथ भवति इति निश्चित तत्त्वम्।

गत एकदा रत्नपाल अधमर्णस्य गृहे वृद्धि गत धन पुन आनेतुम्। न प्रत्यर्पयितु क्षम स स्थिति-वशवद। बालत्वात् अविज्ञातपरार्थ-पारतन्त्र्य कृत-कदाग्रह तत्रैव स्थित। नाह अद्य अगृहीत-सवृद्धि-रिक्थो रिक्तहस्त प्रत्यावलिष्ये। अनेकवार समागतोऽह इह धनना-नेतुम्, परन्तु त्व निरन्तर किमपि किमपि मिषमादाय मा परावर्तयसे। हा! धिक्! कीदृशी जनाना नीतिर्जाता। यदा ग्रहणीय धन तदानी तु मधुरमधुर-वचनैर्वदन्ति। 'यूय किल अस्माक सरक्षका, पालका, जीवनदानदायका' इति लालप्यमाना अद्वितीय सौजन्य प्रकटयन्ति। सम्पन्ने कार्ये, करायत्ते अर्थे च न कोऽपि सम्बन्ध इति दूरत. निस्सरन्ति। दायकेन व्याहृता रक्तनयना यत् किमपि प्रत्युत्तरन्त उत्तेजिता भवन्ति। हन्त! आगत कीदृश विचित्रो दुषम, जनै गृहीत दातव्यम्' इति विस्मृतम्। परन्तु नाह त्यक्ष्यामि समर्पित

---

३ अधमर्णस्य ग्राहकस्येत्यर्थ ४ बालत्वात् ५ अविज्ञातपरार्थ पारतन्त्र्य
६ कृतकदाग्रह ७ व्याहृता।

अज्ज तु पडिण्णायं मए अगहिअ-धणेण ण जहिअव्वं ठाणमिणं। इअ साहेऊण तत्थेव निच्चलं ठिओ रयणवालो रइअ[1]-पल्हथिओ।

सगरिहं सुणिऊण तस्स थुडंकिअयं[2] वयणं परोवि कोव-कंपिआहरो जाओ। हरे! दुद्धगंधिअमुहो[3] वि जं किमवि अवलवइ जंबुल्लो[4]। जाणामि अहमवि अस्स अवंजणिज्जं[5] वईअं। पगब्भो ण जाणेइ चत्त-सगिहस्स ठिइं। जंभणंभणो[6] कहं ण लज्जए णीइं उवदिसेंतो। ता विसयं करेमि अस्स पुरओ मायरपिअराणं दुहदं वुत्तंतं। इअ चिंतेऊण कोह-कासाइअ-नेत्तो सो सगरिहं वोत्तुमाढत्तो— "अरे धट्ठ! तुण्हिक्को होहि तुण्हिक्को। मा मोरउल्ला पगब्भं[7] दंससु। ण मुणेसि महामुक्ख! मायर-पिअराणं पवास-कारणं तुह जम्मो'त्ति। कीअ-दास! कीस तुमं एआरिसं धिट्ठिमं दक्खवेसि, किमप्पिअं ते बप्पेण[8] मे दव्वं? ओसर[9] ओसर वप्पुडा[10]! इओ आयण्णेउं[11] णिअं कज्जलिअं अईअं। जम्मंध! कहं गव्विल्लो हविअ[12] भमसि? णाहं तुज्झं किमवि दाहं। णत्थि णाम कोइ तुज्झ अहिआरो मग्गणट्ठं[13] इह।" एवं समुह-विकूणिअं अहमण्णस्स कक्कस-वयणतीरेहिं ताडिओ मम्माहओ "अमुणिअ-सप्पच्चारण"[14]-हिअयो संकिओ कलुस-समावण्णो असमंजसं दसं च पत्तो। वहमेसो पच्चारेइ गरिहेइ य मं अवियारिअ-वक्कपाहाण-पक्खेवेण? कीस एएण 'कीअदासो'त्ति दूसिओ

---

१ रचितपर्यस्तिक. 'पालथी मारके' इतिभाषा २ रोषतप्तवचनम्, यथा—रोसेण उण्हिवयं वयण ज थुडंकिअय (पाइयलच्छी ६५१) ३ दुग्धगन्धिकमुख —बालकः ४ बववादी (दे०) ५ अव्यञ्जनीयम् ६ स्वच्छन्द-

इयदपि । अद्य तु प्रतिज्ञात मया अगृहीतधनेन न हातव्य स्थानमिदम् ।
इति कथयित्वा तत्रैव निश्चल स्थित रत्नपाल रचित-पर्यस्तिक ।

सगर्हं श्रुत्वा तस्य थुडुङ्किअय (रोषयुक्त) वचन परोऽपि कोपकम्पिताधर जात । अरे ! दुग्धगन्धिकमुखोऽपि यत् किमपि अपलपति 'जम्बुल्ल ' (वाचाल) । जानामि अहमपि अस्य अव्यञ्ज-नीय व्यतीतम् । प्रगल्भो न जानाति व्यक्त-स्वगृहस्य स्थितिम् । 'जम्भणम्भणो' (स्वच्छन्दभाषी) कथ न लज्जते नीति उपदिशन् । तस्मात् विशद करोमि अस्य पुरतो मातृ-पित्रो दु खद वृत्तान्तम् । इति चिन्तयित्वा कोपकषायितनेन स सगर्हं वक्तु आरब्ध —"अरे ! धृष्ट ! तूष्णीको भव तूष्णीक । मा मुधा प्रागल्भ्य दर्शय । न जानासि महामूर्ख ! मातृ-पित्रो प्रवासकारण तव जन्म इति । क्रीतदास ! कस्मात् त्व एतादृश धृष्टत्व दर्शयसि, किं अर्पित ते बप्पेन (पित्रा) महा द्रव्यम् । अपसर ! अपसर ! वराक ! ('वापडा' इति भाषायाम्) इत आकर्णयितु निज कज्जलित अतीतम् । जन्मान्ध ! कथ गर्वितो भूत्वा भ्रमसि ? नाह तुभ्य किमपि दास्यामि । नास्ति नाम कोऽपि तव अधिकारो मार्गणार्थ इह ।" इत्थ समुखविकूणित अधमर्णस्य कर्कश-वचमतीरैस्ताडितो मर्माहत अज्ञात तदुपालम्भ-हृदय शङ्कित कलुष-समापन्नश्च असमञ्जसा दशा प्राप्त । कथ एष उपालभते गर्हत च मा अविचारित-वाक्य पाषाण-प्रक्षेपेण । कस्मात् एतेन 'क्रीतदास '

भाषी ७ प्रागल्भ्य ८ पित्रा 'बाप इतिभाषा (टि०) ९ अपसर १० 'वापडा इतिभाषा (टि०) ११ हविअ भूत्वा १२ अज्ञात-तदुपालम्भहृदय ।

कलंकिओऽहय । किमण्णे मे जन्मदायगा मायर-पिअरा ? किं ण मम्मणो मे तत्तिओ[1] पिआ । अव्वो ! ण गुज्झ जाव विसयीकुणेमि ताव ण मए किं पि पच्चुत्तरिअव्व । इअ णिच्छिआण सयराहमेव तओ उट्ठिओ णाणा-विगप्प-पेखोलिअ-माणसो तुण्हिमासेवमाणो तत्त-गवेसण-तप्परो चलिओ । मग्गम्मि आवणिओ[2] एगो थेरो आवणम्मि ठिओ दिट्ठि-पह गओ । विमण-दुम्मणो सो अईअ रहस्स पयडी-कारेउकामो तस्स ससीममागओ ।

हिम[3]-पुलुट्ठमरविंद विव मिलायमाणमुहमिम रयणवालं लक्खिअ किं कारण'ति गवेसणापरो सो पुच्छेउं लग्गो–"वच्छ ! कीस तुम दीससि अज्ज गहिर-चिंता-विहलो ? णिच्च पफुल्ल तुह वयण सयपत्तं कहमज्ज हिरयं विलिअ मे पडिहाइ ? भण, सिग्घ भण, जहा ते दुह-पडिआर करेमि किंचि ।"

दीह उसिण नीससतेण रयणेण सूइओ सव्वो वि जहावत्त वुत्तंतो । कहमह तेण णिब्भच्छिओ 'कीअदास'त्ति सद्देण । किं रहस्स विज्जए एत्थ ? को एआरिसो गुज्झो वइअरो ? जिण्णासेमि ताय ! सव्वमिण जहातह ।

आयण्णिअ रयणवालस्स पुच्छण सेराणणो जाओ सो परिणयवयो । अणूहअमईअ पच्चक्ख परिप्फुरिअ तस्स । अवत्तव्व गुज्झमिएए दरफुडिआहरो वि मूअल्लिओ ठिओ ।

---

[1] तात्त्विक [2] आपणिक—'दूकानदार' इतिभाषा [3] हिमप्लुष्टम्

इति दूषित कलङ्कित अहम् ? किमन्यौ मे जन्मदायकौ मातरपितरौ ? किं न मन्मनो मे तात्त्विक पिता ? अव्वो ! न गुह्य यावद् विशदीकरोमि तावत् न मया किमपि प्रत्युत्तरितव्यम् । इति निश्चित्य शीघ्रमेव तत उत्थित नाना-विकल्प-प्रेङ्खोलितमानस तूष्णीमासेवमानस्तत्त्व-गवेषण-तत्परश्चलित । मार्गे आपणिक एक स्थविर आपणे स्थितो दृष्टि-पथ गत । विमनोदुर्मना , स अतीत रहस्य प्रकटीकारयितुकाम तस्य ससीम आगत ।

हिम-प्लुष्टमरविन्दमिव म्लायन्मुख इम रत्नपाल लक्षयित्वा 'कि कारणम्' इति गवेषणापर स प्रष्टु लग्न —"वत्स ! कस्मात् त्व दृश्यसे अद्य गभीर-चिन्ता-विह्वल ? नित्य प्रफुल्ल तव वदन शत पत्र कथ अद्य त्रस्त व्रीडित मम प्रतिभाति ? भण, शीघ्र भण, यथा तव दु ख-प्रतीकार करोमि किञ्चित् ।"

दीर्घं उष्ण नि श्वसता रत्नेन सूचित सर्वोऽपि यथावृत्त वृत्तान्त । कथ अह तेन निर्भर्त्सित 'क्रीतदास' इति शब्देन ? किं रहस्य विद्यते अत्र ? क एतादृश गुह्य व्यतिकर । जिज्ञासामि तात ! सर्वमिद यथातथम् ।

आकर्ण्य रत्नपालस्य पृच्छन स्मेरानन जात स परिणतवया । अनुभूत अतीत प्रत्यक्ष परिस्फुरित तस्य । अवक्तव्य गुह्यमिद ईषत्स्फुटिताधरोऽपि मूकायित स्थित ।

हिमदग्धमित्यर्थं । ४ त्रस्तम् त्रस्तस्य हित्थतट्ठो (हे० २ १३६) ५ निर्भर्त्सित ६ ईषत्स्फुटिताधर 'दराग्र्धाऽल्पे (हे० २ ११५) ७ मूक

पडिवय-सुणणेगतप्पर विलबासह विलोइअ वालमुह अंते थेरेण सदक्खिण्ण मणय रहस्सुग्घाडण कय—"पुत्त ! विचित्तोऽय महारण्णरूवो ससारो । किमघडिअं ण घडइ एत्थ जतूणं । ताव चिअ मणुओ उत्तप्पो[1] हवइ जाव तिणा ण अईअ पच्चक्ख कीरइ । अज्ज ! सव्वावि दिट्ठिपहमागच्छन्ती जगस्स लीला ण मायण्हि आइरित्ता[2] । केवलमासा णह-संकासा[3] । भद्द ! अलाहि रहस्स-प्पफोडणेण । खलइ मे रसणा ते इइवुत्त पयडोकाउ । तहा वि अत्थि ते तिव्वा जिण्णासा, तो कहेमि किंचि तवाऽविण्णायं पुव्वचरिअं । सुणसु, आसि णयर-जणमाणणिज्जो अड्ढो ते पिया जिणदत्तो । पियवया दाणसीला भाणुमई सक्ख लच्छी ते जणणी । आसी जया तुम गब्भम्मि तयाणिं जाओ अकम्हा आवइतडी[4]-णिवाओ तुह सामिद्धोए उवरिं । सुमिणविलाय विलोणा सव्वावि वस-परपरा-सचिआ लच्छो । जाव दविण-विणिमयेण मम्मण-गिहम्मि तुम रक्खिऊण रयणीए अलक्खिआ अणत्थ पलाणा ते जणणी-जणया । एव कहमाणो सो थेरो वाह-जलाउल लोयणो सवुत्तो । आसी तुह पिआ मे परमो मित्तो । ण एआरिसो सुअणो मए दिट्ठो अण्णजणो पुत्त ! सपई ण जाणेमि कत्थ ते जवेंति विवआ-काल । तुज्झ विरह-दुव्वला । कुल भाणुआ ! अत्थि तुम्हकेर परम किच्चमिण ज लिहिआणुसार णिय-हत्थेण पहूअ धण विढविअ, रिणमुत्तो हविअ, पिअराण च गवेसण काऊण, तेहिं सध्दिं णिअ घरं गच्छेज्जा । सोम्म ! सो च्चिअ आणदणो

---

१ उद्धता २ मृगतृष्णातिरिक्ता यथा—मायण्हिआ, मला (पाइयलच्छी ७४२) ३ नभोतुल्या ४ आपत्तडिन्निपात ।

प्रतिवच श्रवणैकतत्पर विलम्बासह विलोक्य बालमुख अन्ते स्थविरेण सदाक्षिण्य मनाग् रहस्योद्घाटन कृतम्—"पुत्र! विचित्रोऽय महार्णवरूप ससार । कि अघटित न घटते अत्र जन्तूनाम् ? तावदेव मनुज उद्धतो भवति यावत् तेन न अतीत प्रत्यक्ष क्रियते। आर्य! सर्वापि दृष्टिपथ आगच्छन्ती जगतो लीला न मृगतृष्णातिरिक्ता। केवल आशा नभ-सङ्काशा। भद्र! अलाहि रहस्य-प्रस्फोटनेन। स्खलति मे रसना तव इतिवृत्त प्रकटीकर्तुं म्। तथापि अस्ति ते तीव्रा जिज्ञासा तदा कथयामि किञ्चित् तव अविज्ञात पूर्व-चरितम्। शृणु! आसीत् नगरजनमाननीय आढ्यस्ते पिता जिनदत्त । प्रियवदा दानशीला भानुमती साक्षात् लक्ष्मीस्ते जननी। आसीत् यदा त्व गर्भे तदानी जातोऽकस्मात् आपत्तडित्पातस्तव समृद्धे उपरि। स्वप्न-विलाय विलीना सर्वापि वश-परम्परा-सञ्चिता लक्ष्मी । यावद् द्रविण-विनिमयेन मन्मन गृहे त्वा रक्षित्वा रजन्या अलक्षितौ अन्यत्र पलायितौ ते जननी-जनकौ। एव कथयन् स स्थविर वाष्पजलाकुल-नयन सवृत्त । आसीत् तव पिता मे परम मित्रम्। न एतादृश सुजन मया दृष्ट अन्यजन । पुत्र! सम्प्रति न जानामि कुत्र तौ यापयत विपत्काल तव विरह-दुर्बलौ। कुलमानो! अस्ति त्वदीय परम कृत्य इद यद् लिखितानुसार निजहस्तेन प्रभूत धन अर्जयित्वा ऋणमुक्तो भूत्वा पित्रो गवेषणा कृत्वा तौ सार्धं निज गृह गच्छे।

णंदणो जो वंसुद्धार-कारगो अम्मापिऊणं सुहजणओ पुव्व-जाणं च विच्छोलिअ[1] णामधेयो घिप्पइ[2]। उअ[3], ण खेएण किमवि भविस्सइ, भविस्सइ किर महंतेण पुरिसत्थेण सव्वं। अत्थि मे कप्पणा, तुमं अवस्सं सुण्णं गिहं हरिअ-भरिअं काहिसि, इअ साहेऊण सहिअयो वुड्ढो वीसत्थ-दिट्ठीए पुत्तं रयणं पलोएउं लग्गो।

असुअ-पुव्वं कण्णकंटगाइअं णिअमईअमुअंतं मुणिऊण रयणवालो चित्तलिहिअव्व मंतकीलिअव्व थद्धो, उव्विग्गो, विम्हिओ, रोमंचिओ य जाओ। हरे ! इत्तोप्पं ण विइआ मए अप्पणओ पउत्ती। हंदि ! (सत्यं !) पिसुणिअं तेण अहमण्णेण। वेव्वे ! (विषादे !) अहं कीअदासोम्हि। अव्वो ! (पश्चात्तापे !) दलइ मे हिअयं अम्मा-पिऊणं तारिसी ठिई। थू ! णिलज्जेण मे जीवणेण, जस्स जम्मो वि सव्व-विद्धंसकारगो ! खु ! किं मए एआरिसं कलु-समायरिअं ! ऊ ! केण ण विण्णायं मे कुलंगारचरिअं ! अम्मो ! कहमेआरिसं जायं ! अइ[4] ! दुहिआ विज्जंति मे परम-सिलाहणिज्जा पुज्जा पिअरा। अहह ! जइ हं गब्भाओ पडंतो, ता पिअराण ण तारिसी ठिई हुंती। णवरि[5] किं कायव्वं मए ? अलाहि मोरउल्ला बहु-चिंतणेण इण्हि। अप्पणो[6] सव्वं सुहं भावि पुरिसत्थेण, इच्चाइ-बहुविगप्प-विलोडिअ-हिअय-सागरो थेरं पणमिऊण एक्कसरिअं तओ पचलिओ। कत्थइ रइमलभमाणो गिहमागओ। एगम्मि

१ धौतनामधेय।—यथा विच्छोलिय धोअं (पाइयलच्छी ६२१) २ दीव्यते

अह तइओ ऊसासो

सौम्य !"स एव आनन्दनो नन्दन य वशोद्धारयारक मातापितृणा सुखजनक पूर्वजाना च विक्षालित-नामधेय दीप्यते । पश्य, न खेदेन किमपि भविष्यति, भविष्यति किल महापुरुषार्थेन सर्वम् । अस्ति मे कल्पना त्व अवश्य शून्य गृह हरित भरित करिष्यसि इति कथयित्वा सहृदयो वृद्धो विश्वस्त-दृष्ट्या पुन रत्न प्रलोकितु लग्न ।

अश्रुतपूर्व कणकण्टकायित निज अतीत उदन्त श्रुत्वा रत्नपाल-श्चित्रलिखितवत् मन्त्रकीलितवत् स्तब्ध , उद्विग्न , विस्मित , रोमाञ्चितश्च जात । हरे! इत प्रभृति न विदिता मया आत्मीया प्रवृत्ति । हन्दि । (सत्यम्) पिशुनित तेन अधमर्णेन । वेव्वे (विषादे) कीतदासोऽस्मि । अव्वो ! (पश्चात्तापे) दलयति मे हृदय मातापित्रो तादृशी स्थिति । थू ! निर्लज्जेन मे जीवनेन यस्य जन्मापि सर्वविध्वसकारकम् । धु ! कि मया एतादृश कलुष आचरितम् ? ऊ ! केन न विज्ञात मे कुलाङ्गारचरितम् । अम्मो ! कथ एतादृश जातम् ? अइ ! (सम्भावने) दु खितौ विद्येते मे परमश्लाघनीयौ पूज्यौ पितरौ । अहह ! यदि अह गर्भात् अपतिष्यम् तर्हि पित्रो न तादृशी स्थिति अभविष्यत् । णवरि (आनन्तर्ये) कि कर्तव्य मया ? अलाहि मुधा बहुचिन्तनेन इदानीम् । स्वय सर्व शुभ भावि पुरुषार्थेन, इत्यादि बहुविकल्प-विलोडित-हृदय-सागर स्थविर प्रणम्य झगिति तत प्रचलित ।

---

३ उअ पश्य इत्यर्थे (हे० २-२११) ४ अइ सभावने (हे० २ २०५) ५ आनन्तर्ये
६ स्वय ।

अणात्थुअम्मि[1] भूअलम्मि बाहुल्ल[2]-कवोल-णिमिअ-वामहत्थो भूमिं खणंतो णीरवं ठिओ ।

इओ य मम्मणो वि मज्झण्ह-जम्मण-वेलं जाणिऊण मा वुभुक्खिओ चिरं चिट्ठउ रयणवालो पुत्तो'त्ति सत्तरं हम्मि-[3] अमागओ । परं ण णिअच्छिओ णयण-चंदो नंदो । किमे-अप्पभिइ ण पच्चावलिओ रिणमाणेउं गओ सो ? "भज्जे ! किं णागओ अहुणावहि तुह कोड-कोड्डाकारगो ? कहं तुमं पुत्त-चिंता-निरवेक्खा कज्जलग्गा चिट्ठसि ?" उट्टंकिअ उच्च सरं मम्मणेण ।

"इआणिमेव आगच्छमाणो ईसिं मे लोअण-पहं पत्तो, पच्छा कहिं ठिओ'त्ति ण लक्खिओ मए चवल-चरिओ सो" णिवेइअ सच्छरिअ भज्जाए ।

कत्थ लुक्किओ एसो'त्ति अह उवरिं अणुसंधाउं लग्गो मम्मणो झत्ति विम्हअ-खेअ-मिस्साए दिट्ठीए ।

सुसिअ[4]-मुहसरोजो वहमाण-आहधारो अणुड्ढीकय-कंधरो धरणि-वट्टम्मि ठिओ किवणेण पेक्खिओ पुत्तो ।

अव्वो ! किमिणं, किमिणं ? केण वाम-विहिणा तुमं दूमिओ पुत्त ! रुअमाणो चिट्ठसि ? केण मयंधलेण ते अवराहो कओ ? कस्स अप्पिअं जीविअं जो तं[5] अवमण्णइ ? णिच्चं हसतमुहो तुमं किणो विमणदुम्मणो ? किं ण लद्धं तए जहेच्छिअं वत्थुं ? किमज्ज सप्पुर[6]-सहावाए तुह माउआ अहरिओ[7] ? किमहवा रिणमदाउकामेण थद्धेण

1 अनारृते = भाश्वादं कपोल-न्यस्तवामहस्त ३ (दे०) । ४ शुष्कमुख-सरोजः ५ त्वाम् ६ दःखयामायया ७ अपरित -तिरस्कृत. ।

कुत्रापि रतिं अलभमानः गृहं आगतः। एकस्मिन् अनास्तृते भूतले वाष्पार्द्र-कपोल-न्यस्त-वामहस्तः भूमिं खनन् नीरवः स्थितः।

इतश्च मन्मनोऽपि मध्याह्नजेमनवेला ज्ञात्वा मा बुभुक्षितः चिरं तिष्ठतु रत्नपालः पुत्रः इति सत्वरं हर्म्यं आगतः। परं न निरीक्षितो नयनचन्द्रो नन्दः। किं एतत्प्रभृति न प्रत्यावलितः ऋणं आनेतुं गतः सः? 'भार्ये! किं नागतः अद्यनावधि तव क्रोड-क्रीडा-कारकः? कथं त्वं पुत्र-चिन्ता-निरपेक्षा कार्यलग्ना तिष्ठसि?" उद्‌टङ्कितं उच्चस्वरं मन्मनेन।

'इदानीमेव आगच्छन् ईषद् मे लोचनपथं प्राप्तः, पश्चात् कुत्र स्थितः इति न लक्षितो मया चपलचरितः सः' निवेदितं साश्चर्यं भार्यया।

'पुत्रः निलीनः एषः इति अथ उपरि अनुसन्धातुं लग्नः मन्मनः झटिति विस्मय-खेद-मिश्रया दृष्ट्या।

शुष्क-मुख-सरोजः वहद्‌वाष्पधारः अनुर्ध्वीकृत-कन्धरः धरणि-पृष्ठे स्थितः कृपणेन प्रेक्षितः पुत्रः।

अव्वो! किमिदं, किमिदम्? केन वाम-विधिना त्वं दूनः पुत्र! रुदन् तिष्ठसि? केन मदान्धेन तव अपराधः कृतः? यस्य अप्रियं जीवितं यस्त्वां अवमन्यते? नित्यं हसन्मुखः त्वं किणो (प्रश्ने) विमनोदुर्मनाः?

किं न लब्धं त्वया यथेष्टं वस्तु? किं अद्य खप्पुर-स्वभावया (रुक्षस्वभावया) तव मात्रा अर्धरितः? किमथवा ऋणं अदातुकामेन

तुमं पराहूओ ? भणसु, वच्छ ! भणसु जहावित्तं[1] वुत्तंतं, पुच्छेइ ते वाउलो जणओ सयराहमेव तप्पडिआरं काउ-कामो । एवमस्सासमाणेण मम्मणेण बाहाहि साहरिअ उट्ठाविओ पुत्तो कोडीकओ । मत्थयं जिग्घंतो णयणजलुल्लं लवणं लुं छिउं[2] लग्गो ।

एवं मम्मणेण परिपुच्छिओ सग्गहं जहाभूअं वइअरं पयडीकाउं पेरिओ सगग्गरक्खरं रयणवालो फुडमकासी जहाणायं रहस्सं—"अत्थि[3] खु तत्थभवता भवंता पिअर-समाणा मे सेट्ठिप्पवरा, पर ण मे जणगा जणगा वत्थुत्तो । बुज्झिअं मए अज्ज सव्वंपि गुज्झं । अत्थि सिणेहंकुर-घणाघणो महामणो पयडसत्तो जिणदत्तो मे पुज्जो पिआ । पच्चक्खं पेम-णई भाणुमई मे जम्मदायिणी जणणी । हंत, हंत ! दरिद्द-दवदड्ढा मोत्तूण मं अत्थ-परावत्तेणं भे गिहम्मि, अण्णाया कत्थइ पवसिआ[4] । संपइ जइ मे जणणी-जणया आगम्म कहेति "आगच्छ पुत्त !" तक्खणं अविलंबं तेहिं सद्धिं वच्चामि णीसंदेहं णिअं गिहं । हद्धी ! किं पर-गिह-ठिइसुहं सुहं ? तुडिअमुडजमवि णिअं णिअं, धवलगिहं पि पारक्कं पारक्केरं ।" एवं भणंतो सो सारस्सरं परिदेविउं पउत्तो ।

अविहाविअं, अवितक्किअं, अपच्चासिअं च सुणिआण रयणवयणं मम्मणेण अणुहूआ काइ असहणिज्जा अउला विअणा । तिव्वगइं पत्ता हिअयगई । विप्फारिअं जायं

१ यथावृत्तं २ मार्ष्टुम् ३ अत्थिस्त्यादिना (१४८) इति सूत्रेण बहुवचनेऽपि 'अत्थि' आदेशः ४ प्रोषिता ।

स्तब्धेन केन पराभूत. ? भण वत्स ! भण यथावृत्त वृत्तान्तम्, पृच्छति तव व्याकुलो जनक शीघ्रमेव तत्प्रतीकार कर्तुंकाम । एव आतुरतया मन्मनेन बाहुभ्या सहृदय उत्थापित पुत्र क्रोडीकृत. । मस्तक जिघ्रन् नयनजलार्द्र वपन मार्ष्टुं लग्न: ।

एव मन्मनेन परिपृष्ट साग्रह यथाभूत व्यतिकर प्रकटयितु प्रेरित सगद्गदाक्षर रत्नपाल स्फुट अकथयीत् यथाजातम् रहस्यम्— "सन्ति खलु तत्रभवन्तो भवन्त पितृ-समाना मे श्रेष्ठिप्रवरा, पर न मे जनका वस्तुत । बुद्ध मया अद्य सर्वमपि गुह्यम् । अस्ति स्नेहाङ्कुर-घनाघन महामना प्रकटसत्त्व जिनदत्त मे पूज्य पिता । प्रत्यक्ष प्रेमनदी भानुमती मे जन्म-दायिनी जननी । हन्त ! हन्त ! दारिद्र्य-दवदग्धा भुक्त्वा मा अर्थ-परावर्तनेन युष्माक गृहे, अज्ञाना: कुत्रापि प्रोषिता । सम्प्रति मे जननीजनको आगम्य कथयत— 'आगच्छपुत्र' तत्क्षण अविलम्ब तै सार्धं व्रजामि नि सन्देह निज गृहम् । हद्धी ! कि परगृह-स्थिति-सुख सुखम् ? त्रुटित उटजमपि निज निजम्, धवलगृहमपि परकीय परकीयम् ।" एव भणन् स तारस्वर परिदेवितु प्रवृत्त ।

अविभावित, अवितर्कित, अप्रत्याशित च श्रुत्वा रत्ननयनम् मन्मनेन अनुभूता कापि असहनीया अतुला वेदना । तीव्रगति प्राप्ता हृदयगति । विस्फारित जात नेत्र-युगलम् । चिरसस्थाना जाता

नेत्त-जुअलं । चिर-संखाया[1] आसा हिम-पिंडलिया इव तरलिआ जाया ! ऊ ! को पोरच्छ[2]-पुरच्छिमो अस्स मिनिओ मे जन्म-जम्मंतर-पडिवक्खो ? हा ! एु खलेण सुघडिओ सुमंडिओ वंस-पासाओ अणट्ठं भूमिसाकओ । पिसुण ! किं ते हत्थम्मि आगयं मे कप्पणा[3]-कप्पतरु-कप्पणेण ? वत ! विचित्तो मुहमुहाणं[4] सहावो जमकारणं ते पर-दुहेण सुहिआ, परणासेण य तुट्ठा दुट्ठा । अरे ! निरट्ठया जाया सव्वावि अस्स लालणा पालणा । उअ, हवइ किं पर-पुत्तेण वासिअं गिहं ? एवं बहु विकप्पंतो सो मम्मणो कमवि उवायं गवेसंतो वोत्तुं पउत्तो—"पुत्त ! केण तुमं पर-सुह-दुब्बलेण खलेण मुहा भुल्लविओ, निरट्ठयमासंकं च पाविओ सि ? को जिणदत्तो ? का भाणुमई ? केण दुहिलेण घडिआणि कवोल-कप्पिआणि अमूइं णामधिज्जाणि ? ता मा भुल्लिरो भवसु, सिग्घं चलसु, कुणसु य सहभोअणं । उअ, हवइ सीअला णाणावंजण-संजुआ सरसा रसवई । पडिक्खइ तुह माया जायमपासंती गहिल्लीभूआ ।"

अलाहि सेट्ठिप्पवर ! जहत्थमत्थूवरि कवड-पडासेवेण बहुजायमिणमो जमज्जप्पभिइ रविपओहं संतमसम्मि । संपइ पज्जलिओ मे णाणण्णईवो । अहवा विभाया[1] मे भंति-सामिणी[2] अण्णाण-जामिणी । पुव्वं कायव्वा मह पवास-गमण-ववत्था, पच्छा गहिस्समहं किंपि भोअणं । हंत ! जइ मए एसो वुत्तंतो पुव्वं जाणिओ हुंतो तो किमंतं सुंदरं हुंतं ?" णीसंकं वंजिअं वालेणावि रयणवालेण ।

---

१ [illegible] (हि० ४—१५) २ पोरच्छ [illegible]
पीरस्त्य, प्रथम, पुरोभ्वर [illegible] ३ कल्पना-कल्पतरु-कल्पनेन, [illegible]

हिम-पिण्डलिका इव तरलिता जाता। ऊ ! व पोरच्छ-पौरस्त्य (धूर्तशेखर)अस्य मिलितो मे जन्मजन्मान्तरप्रतिपक्ष ? हा ! खलु खलेन सुघटित सुमण्डितो वश-प्रासाद अनर्थं भूमिसात् कृत । पिशुन ! किं ते हस्ते आगत मे कल्पना-कल्पतरु-कल्पनेन ? बत ! बत ! विचित्रो मधुमुग्धाना (पिशुनाना) स्वभावो यत् अकारण ते परदु खेन सुखिता परनाशेन च तुष्टा दुष्टा । अरे ! निरर्थका जाता सर्वापि अस्य लालना पालना । उत ! भवति किं पर-पुत्रेण वासित गृहम् ? एव बहु विकल्पयन् स मन्मन कमपि उपाय गवेषयन् वक्त् प्रवृत्त — "पुत्र ! केन त्व परसुख-दुर्बलेन खलेन मुधा भ्रमितो निरर्थक आशङ्का च प्रापित असि ? को जिनदत्त ? का भानुमती ? केन दुहिनेन घटितानि कपोल कल्पितानि अमूनि नामधेयानि ? वत्स मा भ्रान्तिभाग् भव, शीघ्र चल, कुरु च सहभोजनम्। पश्य, भवति शीतला नाना-व्यञ्जन-सयुक्ता सरसा रसवती। प्रतीक्षते तव माता जात अपश्यन्ती ग्रथिलीभूता।

अलाहि श्रेष्ठिप्रवर ! यथार्थ-वस्तूपरि कपट पटाक्षेपेण । बहु जात इद यत् अद्यप्रभृति रक्षितोऽहं सन्तमसे। सम्प्रति प्रज्वलित मे ज्ञानप्रदीप । अथवा विभाता मे भ्रान्ति-स्वामिनी अज्ञान-यामिनी। पूर्वं कर्तव्या मम प्रवासगमन-व्यवस्था । पश्चात् ग्रहीष्यामि अह किमपि भोजनम्। हन्त ! यदि मया एष वृत्तान्त पूर्वं ज्ञात अभविष्यत् तदा नियत् सुन्दर अभविष्यत्।" नि शब्द व्यञ्जित बाले-नापि रत्नपालेन।

छेदनमित्यर्थं ४ मुहुर्मुह पिशुन खेपाम् ५ मुल्लविओ भ्रमित, 'भ्रम मिट पिट्ट फुड-फुट्ट घुम्म भुल्ला (हे० ४-१७७) ६ विभाता विभात प्रभात प्राप्तेत्यर्थं ७ भ्रान्ति-स्वामिनी भ्रान्तिमयीत्यर्थं ।

"हा ! केण सद्देण विवरीअं पाढिओ एसो दइयाए ! चित्तं ! अस्स सहावम्मि केरिसी रुक्खिमा समागया ! अच्चंतं लज्जिरो अप्पभासी वि अज्ज केरिसो वायालो थूलवयो य जाओ । धी धी धी ! उप्फालेण[1] सव्वमवि णिप्फलं कयं । असज्झोयं रोओ । पच्चक्खं णिरासा इमस्स आसा" अवसिअं मम्मणेण ।

"काहं सव्वमवि पवंधं सयराहमेव पुत्त ! अहुणा तु भोअणं घेत्तव्वं ।" कहमाणेणमेवं सेट्ठिणा उट्ठाविओ पुत्तो 'भोअणट्ठं' ।अणासाइअ-रसा सरसा वि रसवई कहं कहमवि आसाइआ एएहिं । एत्थंतरम्मि आहूआ मम्मणेण णिअसंतिआ वाणिज्जकुसला पुरिसा । साहिअं सव्वंपि करणिज्जं । सज्जीकयं जाणवत्तं[3] । एत्थ सुलभेण भंडेण भरिअं तं । पसत्थ-तिह-करण-जोग-संजुआ सुहमुहुत्ता पत्थाण-वेला णिच्छिआ । आगए तम्मि समये सव्वेसिं सम्मुहं मविणयं जणय-धाणीअ मम्मणं पणमतेण रयणेण सूइअ—'मज्झ कएणं कयं पिउपायस्स रिणं मोयावेउं गच्छामि अहमज्ज देसंतरं। एवइअकाल अहमेत्थ परमाणदेण ठिओ, ओरस-पोअव्व परम सिणेहेण लालिओ पालिओ सव्वगिअं सुहं च पत्तो । एएसिं महाणुहावाणं अज्जवि तारिसी पीई । तहवि मए कत्तव्वं पालणिज्जं'ति पवासेमि संाइ । जाणवत्तम्मि जं भंडं विपरोअं तं सव्वं सेट्ठिणो विज्जइ, ण किंचिवि मह । देसतरं गंतूण भंडं विक्किअ जं लाह लहिस्सं तेण पिउपायेण गहिअं सकुसीअं धणं तहा जाणवत्तगयं पि दव्वं पच्चप्पिणिस्सं ।

---

1 उप्फालेण-मच्छरिणा यथा—पोरच्छो, पिसुणो, मच्छरी, खलो, मुहमुहो

"हा ! केन शठेन विपरीत पाठित एष दृढतया । चित्र ! अस्य स्वभावे कीदृशी रूक्षता समागता । अत्यन्तलज्जालु अल्पभाषी अपि अद्य कीदृशो वाचाल स्थूलवचाश्च जात । धिग् ! धिग ! उप्पालेन (मत्सरिणा) सर्वमपि निष्फल कृतम् । असाध्योऽय रोग । प्रत्यक्ष निराशा अस्य आशा ' अवसित मन्मनेन ।

"करिष्यामि सर्वमेव प्रबन्ध शीघ्रमेव पुत्र ! अधुना तु भोजन गृहीतव्यम् ।" कथयता एव श्रेष्ठिना उत्थापित पुत्रो भोजनार्थम् । अनासादितरसा सरसा अपि रसवती कथ कथमपि आसादिता एताभ्याम् । अत्रान्तरे आहूता मन्मनेन निजसत्का वाणिज्य-कुशला पुरुषा । कथित सर्वमपि करणीय कार्यम् । सज्जीकृत यानपात्रम् । अत्र सुलभेन भण्डेन भरित तद् । प्रशस्त तिथि करण-योग-मुहूर्ता शुभमुहूर्ता प्रस्थानवेला निश्चिता । आगते तस्मिन् समये सर्वेषा सम्मुख सविनय जनक-स्थानीय मन्मन प्रणमता रत्नेन सूचितम्— "मम कृते कृत पितृपादस्य ऋण मोचयितु गच्छामि अह अद्य देशान्तरम् । एतावत्काल अहमत्र परमानन्देन स्थित , औरसपोतवद् परमस्नेहेन लालित पालित सर्वाङ्गीण सुख प्राप्त । एतेषा महानुभावाना अद्यापि तादृशी प्रीति । तथापि 'मया कर्तव्य पालनीयम्' इति प्रवसामि सम्प्रति । यानपात्रे यद् भण्ड विक्रेय तद् सर्व श्रेष्ठिन विद्यते, न किञ्चिदपि मम । देशान्तर गत्वा भण्ड विक्रीय यल्लाभ लप्स्ये तेन पितृ-पादस्य गृहीत सकुसीद धन तथा यानपात्र-गतमपि द्रव्य प्रत्यर्पयिष्यामि । प्रस्थानकालिक पारितोषिक यद्-

१ उप्पालो (पा० १२३) २ गृहीतव्यम् ३ यानपात्रम्-यान इत्यर्थं । ४ सकुसीदम्—'ब्याज सहित' इति भाषा ।

पट्टाण-कालिअ पारिओसिअं[१] जं किंचिवि सेट्ठि-सगासाओ पाविस्सं, तस्स लाहं गहिस्सं स्यमेवाहं, ण पच्छा करिस्सं तं सेट्ठिणो पुण। इअ आयण्णिअ कयज्ज[२]-सेहरो मम्मणो किमप्पेमि'त्ति ससयं पत्तो। अंतम्मि अईव तुच्छत्तणं दक्ख-वेंतेण दढमुट्ठिणा अप्पिया 'मेमुंदी' णामिआ एगा तक्का-लिआ खुद्दा मुद्दा पारिओसिअ-रूवेण। सव्वेंसि पासगाणं मणेसु अईव हीणत्तं पत्तो सो किविणो इमिणा अइतुच्छ-दाणेण। धिअ! दढमुट्ठिणो णिग्घिणं हिअयं णिल्लज्जं दाणं, चिरपोसिअेण पुत्तेणावि केरिसो ववहारो? तहवि समय-ण्णूणा रयणेण साणंदं गहिआ सा, मत्थयत्थं काऊण सुरक्खिअं रक्खिआ। भवंताणं किवाओ बहुलाह-कारणं भविस्सइ मे णूणं दाणमिणं लघिट्ठं लक्खिज्जमाणमवि। अहवा सण्हमवि णग्गोह-बीअं ण किं महाविस्थार-कारगं होइ?

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए पाउसागमामरचंदणपत्ती-
धणदत्त-विप्पतारण-पुत्तपरिवड्ढण-णिअपरिण्णा-
णाइभावेहिं भाविआए रयणवालकहाए
तइओ ऊमासो समत्तो

१ पारितोषिकम्-इनाम 'बीस' इतिभाषा २ कदर्यशेखर—कृपणप्रमुख।

किञ्चिदपि श्रेष्ठि-सकाशात् प्राप्स्यामि तस्य लाभ ग्रहीष्यामि स्वयमेव अहम्, न पश्चात् करिष्यामि तत् श्रेष्ठिन पुन । इति आकर्ण्य कदर्यशेखर मन्मन 'कि अर्पयामि' इति सशय प्राप्त । अन्ते अतीव तुच्छत्व दर्शयता दृढमुष्टिना अर्पिता 'मेमुंदी' नामिकी एका तात्कालिकी क्षुद्रा मुद्रा पारितोषिक-रूपेण । सर्वेषा दर्शकाना मनसि अतीव हीनत्व प्राप्त स कृपण अनेन अतितुच्छ दानेन । धिग् ! दृढमुष्टे निर्घृण हृदयम्, निर्लज्ज दानम्, चिरपोषितेन पुत्रेणापि कीदृशो व्यवहार ? तथापि समयज्ञेन रत्नेन सानन्द गृहीता सा । मस्तकस्थ कृत्वा सुरक्षिता रक्षिता । भवता कृपात बहुलाभ-कारण भविष्यति मे नून दानमिद लघिष्ठ लक्ष्यमाणमपि । अथवा सूक्ष्ममपि न्यग्रोध बीज न किं महाविस्तार-कारक भवति ?

इति श्री चन्दनमुनिविरचितायां प्रावृडागमासर
चन्दनप्राप्ति-धनदत्तविप्रतारण-पुत्रपरिवर्धन-
निजपरिज्ञानादिभावैर्भावितायां
रत्नपालकथायां तृतीय
उच्छ्वास समाप्त

४

चोत्थो ऊसासो



अत्थि एसो तेलुक्क-विइओ पयडीए णिअमो ज जारिसो सुहाऽसुहा जस्स भावणा तारिसो च्चिअ परिणामो पुरस्सरो होइ । णिच्च आम[1] सरेमाणा हवंति आमयाविणो तहा आरुग्ग कप्पंता अरोआ । ण तेहिं कयाइ उच्चय पयं पाविज्जइ जेसिं मणम्मि णिच्च अणासा, दुब्बल, अण्णोवि अ अवोसासो परिप्फुरइ । "गयगया अम्हारिसाण दिअहा । सपइ तु जहासहं चि कालो जवणिज्जो अम्हेहिं । आगमिस्सइ अम्हाणमवि कोइ अणुलोमोऽवसरो तयाणि चिंतिस्सामो किमवि णाउ" इत्थ जे पडिसमयं णिअय वेअन्ल[2] मणुहवंति ण ते पत्तजणा इत्थद कयत्था, फलिअ-मणोरहा, णाणारगुमिणा य होउमरिहंति । घट्टंति जेसिमुआरा विआरा, गुरु-

---

१ रोगम् २ अनात्मध्यम् ।

४

चतुर्थं उच्छ्वासः



अस्ति एष त्रैलोक्य-विदितः प्रकृत्याः नियमः यत् यादृशी शुभाशुभा यस्य भावना तादृश एव परिणामः पुरस्सरो भवति। नित्यं आमं स्मरन्तः भवन्ति आमयाविनः तथा आरोग्यं कल्पन्तः अरोगाः। न तैः कदापि उच्चैः पदं प्राप्यते येषां मनसि नित्यं अनाशा, दौर्बल्यं, आत्मनोऽपि च अविश्वासः परिस्फुरति। "गतगता अस्मादृशानां दिवसाः। सम्प्रति तु यथाकथञ्चित् कालः यापनीयः अस्माभिः। आगमिष्यति अस्माकमपि कोऽपि अनुलोमोऽवसरस्तदानीं चिन्तयिष्यामः किमपि कर्तुम्" इत्थं ये प्रतिसमयं निजकं वैकल्यं अनुभवन्ति, न ते पञ्चजनाः कुत्रापि कृतार्था, फलित-मनोरथाः, साकार-स्वप्नाश्च भवितुं अर्हन्ति। वर्तन्ते येषां उदारा विचाराः, शुभङ्करा कल्पना,

करा कप्पणा, सव्वगिग्र हिग्र, अकलुस च चित्त, तेसिं सव्वत्थ सुह सुह समुहीए । आवइ-समयम्मि वि ण सुक्कइ[1] तेसिं आसा-ओज्झरो[2] । भयाणय-निसीहम्मि त्रि य दिट्ठि पह गच्छइ दिणमुह । मिलइ सयमेव विट्टिअ-सुहासय-वित्थारो अचिंतिओ परेसिमत्थारो[3] । तम्हा अत्थि उच्छाहो किर सव्व-सभलयाए मूल, कप्पणाण कप्परुक्खो, कामाण कामकुभो, चिंतिआण चिंतामणी पुण ।

वड्ढमाणंतरग उच्छाहो अणेगवयसेहिं परिवारिओ, गुरुजणासीसाहिं आसासिओ, मगल-पाढगेहिं माघहेहिं थुणिओ, सम्मुह सयमुवट्ठिएहिं सुह-सउणेहिं वड्ढाविओ, अणुऊल-वायावरणेहिं चोइओ य रयणवालो मम्मण-गिहाओ णिग्गओ । मज्झेपहं मत्थय-ठविअ-पुप्फकरंडिआ अहिमुहमाच्छंती मिलिआ एगा पुप्फच्चिणिआ[4] । बहु-सुह पट्ठिआण'त्ति रयणेण तक्काल गहिआ पुप्फ करंडिआ[5] दाऊण तीसे मम्मणप्पिअ सहमुद्दादाण । ताए[6] दाडिमस्स धायईए य सज्जुक्काणि सुरहिआणि पुप्फाणि आसी । सुहाणि'त्ति सुरक्खिआणि ताणि विवेगिणा रयणेण । परमेट्ठि-पचगं सरंतो अणेग[*]-वाणोत्तरेहिं सद्धि गुरु-जणे पणमतो जाव आरुहइ पवहण ताव एगेण अणुहविणा थेरेण आगम्म सूइअ "पुत्त ! जहेच्छ वच्चसु, लहसु पुण्णं लाह, परंतु मा वच्चसु कालकूड-णामग दीव । जओ तत्थ गतारा विप्पलभिज्जंति तत्थगय-धुत्तसेहरेहिं ।" 'हता' इअ भहतेण रयणेण पडिवण्ण

१ गुप्पइ (अवर्धत०) २ आशानिर्झर यथा—ओज्झर निर्झर जाण (गा० ६५७) ३ माहिज्ज अत्थाओ (पाइय०) माहात्म्यविस्तारः ४ 'मालण' इति

सर्वाङ्गीण हित, अवलुप च चित्त, तेपा सर्वत्र सुग्न मुग्न सम्मुग्नीनम्। आपत्-समयेऽपि न शुष्यति तेपा आशा-निर्झर। भयानानिशीथेऽपि च दृष्टिपथ गच्छति दिनमुखम्। मिलति स्वयमेव विहित-शुभाशय-विस्तार अचिन्तित परेपा अत्थार (साहाय्यम्)। तस्मात् अस्ति उत्साह वित्त सर्वसफलताया मूलम्, कल्पनाना वरपवृक्ष, कामाना कामकुम्भ चिन्तिताना चिन्तामणि पुन।

वर्धमानान्तरङ्गोत्साह अनेकवयस्यं परिवारित, गुरुजनाशीभि आश्वासित, मङ्गलपाठकंर्मागधं स्तुत, सम्मुख स्वयमुपस्थितं शुभ-शकुनं वर्धापित:, अनुकूलवातावरणं चोदित (प्रेरित) ना रत्नपाल: मन्मनगृहात् निर्गत। मध्येपथ मस्तकस्थापितपुष्पकरण्डिका अभिमुख आगच्छन्ती मिलिता एका पुष्पचायिनी। 'बहु शुभ प्रस्थितानाम्' इति रत्नेन तत्काल गृहीता पुष्प-करण्डिका दत्वा तस्यै मन्मनार्पित लघुमुद्रादानम्। तस्यां दाडिमस्य धातकयाश्च सद्यम्लानि सुरभितानि पुष्पाणि आसन्। 'शुभानि' इति सुरक्षितानि तानि विवेकिना रत्नेन। परमेष्ठिपञ्चक स्मरन् अनेक बाणोत्तरं ('मुनीम' इति भाषायाम्) सार्धं गुरुजनस्य प्रणमन् यावद् आरोहति प्रवहण तावदत्र अनुभ-विना स्थविरेण आगम्य सूचितम्—'पुत्र! यथेच्छ व्रज, लभस्व पूर्ण लाभम् परन्तु मा व्रज कालकूटक-नामक द्वीपम्। यत्र तत्र गन्तारो विप्रलभ्यन्ते तत्रगतधूर्तंदासरं'। हन्ता (अभ्युपगम) इति कथयता रत्नेन प्रतिपन्न तस्य वचनम्। विमुक्ता लङ्गरका ('लगर'

भाषा। यथा—पुप्फञ्चिलिआआ पुप्फनाइओ (पाइय० २१९) ५ फूलाक टोकरी ६ तीस। ७ बाणोत्तर 'गुमस्ता मुनीम' इतिभाषा (दे०)।

तस्स वयणं । विमुत्ता णंगरआ । वायाणुऊलं पूरिओ सिअ-पडो । चालिअं वोहित्थं णिज्जामगेहिं । जहा-जहा तमग्गओ परिवड्ढिअं तहा-तहा अथग्घ-जलरासि-मज्झगयं उवरि आगासं परिओ णीरं णीरमेव नयण-पहमोअरिअं । किं सव्वावि धरा जलमइया जलजलागारा संवुत्ता । अव्वो ! दंसणिज्जा ठिई तत्त-दंसगेहिं पारावारस्स । मा सोमुल्लंघणं होउ'त्ति मणे संकिआओ मिव अग्गओ सरमाणीओ वि वीईओ पुणो पच्छा ओसप्पंति[1] । ण महंतएहिं सत्तिप्पदंसणं कायव्वं'त्ति मणे महासामत्थसाली खणेण जीवलोगं पव्वा-लेउं[2] खमोवि समुद्दो समेरो चिट्ठइ । तम्हा 'सायरवर-गंभीर'त्ति आगमिएहिं तित्थगराणं कए तारिसी उवमा उवदोइआ । विअरणेण ण दाए-सुंडाणं धणहाणी भवेज्ज'त्ति सुण्णाइं महापयोहरोअराणि सययं भरमाणो वि णरित्तिमं पत्तो म्हि'त्ति दंसयंतो मणे सो उल्लोल-कल्लोलेहिं रेहइ । तेहिं य पत्तव्वाणि महग्घ-रयणाणि मुत्ताहलाणि अ जे अमीआ णिण्ण-जलमज्जणप्पवेसणपरा हत्थगयप्पाणा सिआ य धीवरा, ण उण दरिअ-हिअयेहिं णवर पुलिण-चंकमणप्प-वणेहिं'ति दसेंतो इय विइण्ण[3]-सण्ह-संख-सुत्ति-उक्केर-वित्थिण्णेण तडेण अग्घइ । एवं कव्व-कप्पणा-परो भणुमई-सुओ मज्झेसमुद्दं सकुसलं वच्चइ ।

जं जं चिंतेइ अण्णणू मणुओ तं तं सव्वं तारिसं होइ'त्ति ण णिच्छिओ णिअमो । अव्वो ! मणुअ-चिंतिअं जइ

---

१ अपसरन्ति २ पल्लावेउं—प्लावयितुम् प्लावेरोव्वालपव्वालौ (हे० ४-४१) ३ विकीर्णशंखशम्बूकशुक्तिनिकरविस्तीर्णेन ।

इति भाषायाम्) वातानुकूलं पूरितः सितपटः । चालितं बोहित्थं (नौका इति भाषायाम्) निर्यामकैः । यथा यथा तद् अग्रतः परिवर्धितं तथा तथा अस्ताघ-जलराशि-मध्यगतं उपरि आकाशं परितो नी नीरमेव नयनपथं अवतरितम् । किं सर्वापि धरा जलमयी अतलजला-धारा संवृत्ता ? अहो ! दर्शनीया स्थितिः तत्त्वदर्शकैः पारावारस्य । 'मा सीमोल्लङ्घनं भवतु' इति मन्ये शङ्किता इव अग्रतः सरन्त्योऽपि वीचयः पुनः पश्चात् अवसर्पन्ति । 'न महद्भिः दर्शितप्रदर्शनं कर्तव्यम्' इति मन्ये महासामर्थ्यशाली क्षणेन जीवलोकं प्लावयितुं क्षमोऽपि समुद्रः समर्यादः तिष्ठति । तस्मात् 'सागरवरगम्भीरा.' इति आगमिकं तीर्थंकराणां कृते तादृशी उपमा उपढौकिता । 'वितरेण न दान-शौण्डानां धनहानिर्भवेत्' इति शून्यानि महापयो-धरोदराणि सततं बिभ्रद् अपि न रिक्ततां प्राप्तोऽस्मि' इतिदर्शयन् मन्ये उत्तालकल्लोलैः राजते । तैः खलु प्राप्तव्यानि महार्घ्य-रत्नानि मुक्ताफलानि च ये अभीता निम्न-जलमध्य-प्रवेशनपरा हस्तगत-प्राणास्युश्च धीवराः, न पुनः दरिद्रहृदयं केवलं पुलिन-चङ्क्रमण-प्रवणं इति दर्शयन् इव विकीर्णश्लक्ष्ण-शङ्ख-शुक्त्युत्कर-विस्तीर्णेन तटेन राजते । एवं काव्य-कल्पनापरः भानुमतीसुतः मध्ये-समुद्रं सकुशलं व्रजति ।

यद् यद् चिन्तयति अल्पज्ञः मनुजः तद् तद् सर्वं सत्यं भवतीति न निश्चितः नियमः । अहो ! मनुजचिन्तितं यदि सर्वं साकारं सम्पद्यते, तदा एकेन खलु क्षणेन विसंस्थुलं जायते जगतीत्रयम्,

सव्वं सागारं संपज्जइ-तया एगेणं खलु खणेण विसंठुलं जायइ जगई-कज्जं। अत्थवत्था होइ च अदिट्ठा ववत्था। विचित्तं रहस्सं विज्जए एत्थ। लक्खंति केइ अलक्ख-लक्खणसहा महामेहाविणो जणा।

अयंडं सव्वरीए पज्जोइआ विज्जू। उट्ठिआ मुइरा[2]। कण्णं गओ थणिअ-सद्दो। पज्झरिउं[3] पउत्ता बहला जल-धारा। पत्थरिअं गाढं धयारं। वाओ सवेगं झंझा-पहंजणो। संगोविअमवि जाणवत्तं सतंतमिव अकलिअ-ककुहं[4] विहिपेरिअं मणे धावेउं लग्गं इओ तओ। तत्था सव्वेवि जणा तत्था एजमाणंतक्करणा किंकायव्व-विमुहा सुमरिअ-णिअ-णिअ-इट्ठ-देवा संजाया। कण्णधारेहिं अईव पयट्टिअं पोअं रोद्धुं, तहवि पडिऊल-पवणेण पणुल्लिअं[5] भावि-वसंवयं तं एगं अलक्खिअं दीवं पत्तं। पहाया रयणी। संता वुट्ठी। उवत्तडं संदाणिअं[6] जाणवत्तं। उग्गओ दिणयरो। कोऽयं दीवो'त्ति जागरिआ पवला जिण्णासा। पवहणाओ उत्तरिओ रयण-वालो जाव पय-ण्णासं कुणइ पुलिणम्मि ताव सम्मुह-मागच्छंतो एगो मणूओ लोअण-मग्गं गओ। वाहित्तो सो समीवमागओ। पुट्ठं रयणवालेण को एसो पएसो'त्ति। जाणाविअं तेण तक्कालं। "कुमार! अत्थि एसो कालकूडा-ऽहिआणो दीवो। एत्थ नाणा-णियडी-भेअ-कुसलो[7] पइदिण मायरिअ-दंभचरिओ सव्व-धुत्तसेहरो 'कसिणायणो' णामं णिवई। एगेगओ अहिअयरा धुत्तप्पहाणा महुरालावा

१ अभ्रवर्षितम् २ मुदिरा.—मेघा. ३ क्षरितुम् 'क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआ (है० ८-१७३) ४ अवनिमार्ग ५ प्रेरितम् (प्र०

चौरयो ऊसासो अस्तव्यस्ता भवति च अदृष्टा व्यवस्था। विचित्र रहस्य विद्यते अत्र। लक्षयन्ति केऽपि अलक्ष्यलक्षणसहाः महामेधाविनो जनाः।

अकाण्ड शर्वर्यां प्रद्योतिता विद्युत्। उत्थिताः मुदिराः। कर्णं गत स्तनित-शब्दः। क्षरितु प्रवृत्ता वहला जलधारा। प्रसृत गाढान्धकारम्। वातः सवेग झञ्झा-प्रभञ्जन। सङ्क्षोपितमपि यानपात्र स्वतन्त्रमिव अचलित-चक्षुष् विधि-प्रेरित मन्ये धावितु लग्न-मितस्ततः। तत्स्थाः सर्वेऽपि जना त्रस्ताः एजमानान्तः करणाः किंकर्तव्य-विमुखाः स्मृत-निज-निजेष्टदेवाः सजाताः। कर्णधारैः अतीव प्रयतित पोत रोद्दुम्, तथापि प्रतिकूल-पवनेन प्रेरित भावि-वशावद तद् एक अलक्षित द्वीप प्राप्तम्। प्रभाता रजनी। शान्ता वृष्टि। उपतट सन्दानित यानपात्रम्। उद्गत दिनकरः। 'कोऽय द्वीप' इति जागरिता प्रबला जिज्ञासा। प्रवहणात् उत्तरितो रत्नपालः यावद् पदन्यास कुरुते पुलिने तावत् सम्मुख आगच्छन् एको मनुजः लोचन-मार्गं गतः। व्याहृतः स समीप आगतः। पृष्टः रत्नपालेन-'कः एष प्रदेशः' इति। ज्ञापित तेन तत्कालम्-"कुमार! अस्ति एष कालकूटाभिधानः द्वीपः। अत्र नाना-निकृति-भेद-कुशलः प्रतिदिन आचरित-दम्भचरितः सर्व-धूर्त-शेखर 'कृष्णायन' नाम नृपति। एकैकतः अधिकतराः धूर्त-प्रधानाः मधुरालापाः सत्यापिताक्षूण-यथार्थ-व्यवहाराः

शुद् इत्यस्य रूपम् ६ सन्दानितम्-बद्धमित्यर्थः ७ नानानिकृतिभेदकुशलः (निकृतिर्दम्भचर्या)।

सच्चविआऽक्खूण[1]-जहत्थ-ववहारा अत्तत्था सव्वेवि पउरा। विहि-वसओ कोइ भद्दो संजत्तिओ[2] समागच्छइ एत्थ, सो गिद्धेहिं मय-कलेवरमिव खंडखंडिओ, विप्पलंभिओ, महा-दारिद्दं पाविओ य होइ। मए सद्धिं वि एआरिसी भिसं णिअडीमइआ घडणा घडिआ।

जहा-भरिअ-भंडो जाणवत्तेण पारावारं पारं कुणमाणो पडिऊलपहंजण-पणुल्लिओ दुव्विहि-वसंवओ एत्थ कालकूड-दीवम्मि समावडिओ। अमुणिअ-वंचण-प्पवंचेण मए विहा-विअं जमत्थि मह पासे एग महामुल्लिल्लं रयण-करंडग णिच्चं कुसंका-कुलाए पलंबाए तरंगमालिणो जत्ताए तस्स समीवे रक्खणं ण खेमंकरं, तम्हा वच्चेमि मज्झेणयरं प-लोएमि अ कमवि पुण्णं णीइमंतं विक्खाय-सच्च-हरिअदं तं ठावेउं थावण-रूवेण (णासरूवेण) तस्स समीव, जहा पच्चावलेंतो णेण मग्गेण पुणो सुरक्खिअं पाएज्जा णिअं णिहिं। इअ विचिंतिअ गहिअ-रयण-करंडिओ पट्टणं पत्तो, को तारिसो सच्चवाइ-सेहरो'त्ति अणुसंधाउं लग्गो। एव्वं पयासुअं मं पलोइअ थय-धण्णाइ विक्कयकारगो कोइ आव-णिओ पुव्वसंगओ मिव 'सागयं-सागयं' साहेतो सेराणणो सम्मुहमागओ, सबाहुक्खेवं मिलेतो सो कुसलं च पुच्छेउं पउत्तो। कमवि भद्दं पुरिसं णच्चाहं तयावणम्मि गओ, उच्चासणम्मि णिवेसिओ य तेण सद्धिं सप्पेसं संलविउ-माढत्तो। सव्वं धवलं धवलं दुद्धं'ति विसासिरेण मए णिअ-वत्थूरक्खणट्ठं सग्गहं पत्थिओ सो, दंसिअं महग्घं वत्थुमवि।

मणसा तं रक्खिउं अईव तप्परोवि सो अलवलवसहो[3] सं

---

१ सत्यापिताक्षूण—यथार्थव्यवहाराः २ सायान्त्रिम—पोतवणिक्।

अन्यथाः सर्वेऽपि पौराः। विधिवशतः कोऽपि भद्रः सायान्त्रिकः समागच्छति अत्र, स गृद्धैः मृतकलेवरमिव खण्डखण्डित विप्रलब्धः, महादारिद्र्य प्रापितश्च भवति। मया सार्धं अपि एतादृशी भृशं निकृतिमयी घटना घटिता।

यथा-भरितभण्डो यानपात्रेण पारावार पार कुर्वन् प्रतिकूल-प्रभञ्जन-प्रेरितः दुर्विधिवशवदोऽत्र कालकूटद्वीपे समापतितः। अज्ञात-वञ्चना-प्रपञ्चेन मया विभावित यद् अस्ति मम पार्श्वे एक महामूल्यवत् रत्न-करण्डकम्। नित्य कुशङ्काकुलाया प्रलम्बाया तरङ्गमालिन. यात्राया तस्य समीपे रक्षण न क्षेमकरम्, तस्माद् व्रजामि मध्येनगर विलोके च कमपि पूर्णं नीतिमन्त विख्यात सत्यहरिश्चन्द्र तत् स्थापयितु स्थापनरूपेण (न्यासरूपेण) तस्य समीपम्, यथा प्रत्यावलमान. अनेन मार्गेण पुन. सुरक्षित प्राप्नुया निज निधिम्। इति विचिन्त्य गृहीत-रत्नकरण्डिक गत्तन प्राप्तः, कस्तादृश. सत्यवादिशेखरः इति अनुसन्धातु लग्न। नव्य प्रवासिन मा प्रलोक्य घृतधान्यादिविक्रयकारक कोऽपि आपणिक पूर्वसङ्गत. इव 'स्वागत-स्वागतम्' कथयन् स्मेरानन सम्मुखमागत सबाहुक्षेप मिलन् स कुशल च प्रष्टु प्रवृत्त। कमपि भद्र पुरुष ज्ञात्वा अह तदापणे गतः, उच्चासने निवेशितश्च तेन सार्धं स प्रेम सलपितु आरब्ध.। 'सर्वं धवल धवल दुग्धम्' इति विश्वसता मया निजवस्तु-रक्षणार्थं साग्रह प्रार्थित सः, दर्शितं च महार्घ्यं वस्त्वपि।

मनसा तद् रक्षितु अतीव तत्परोऽपि स अलवलवसह. (धूर्त-

३ अलवलवसहो—धूर्तवृषभः।

अणण्णं सच्चवाइं दक्खवेंतो सच्च-धवलिआए ललिआए गिराए वोत्तुमारद्धो—"बंधुप्पवर! किं कहिअं भवंतेण थावण-रक्खणट्टं ण उण उईरणिज्जमिणं। मए पुव्वमेव सवहीकयमुवहि-रक्खणं। नूणं भद्द-सहावेण सव्वं जगं भद्द'ंति मुणमाणेण मए रक्खिओ कस्सइ महाणुहावस्स णासो, परंतु अइ कडुओ तप्परिणामो जहा कहंचि पार पाविओ। तओ पच्छा ण कयाइ तारिच्छं कच्च कायव्वं'ति परिण्णायं मए। तओ किंवाए अण्णत्थ गंतव्वं णास-विण्णास-वडियाए, णाहं कहमवि सीकाहमिणं।"

उक्किट्ठं तस्स सच्च-णिट्ठं दिट्ठिं अणुहविअ एत्थेव रित्थं रक्खेमि'त्ति अह अणुरोहं काउं पउत्तो। तम्मि समयम्मि एगा बालिआ घयं किणेउमागया। वंचग-वसहेण तेण पुणरवि मं पभावेउं एगा णियडी फुडीकया। जहा गहिअं एगगुणं दव्वं, तव्विणिमए दिण्णं बिउणं घयं। सप्पि गहिअ गया कण्णा। विम्हिएण मए तक्कालमुड्डंकिअं—"अहो! वाणिओ सि तुमं जं जाणासि वाणिय-वित्तिमवि! हरे! दव्वगहणाहिंतो अल्लविअं बिगुणं अज्जं, कहमण वज्जमिणं कज्जं जं वणिअ-णाम-दूसग मूढया-विअंभिअं च। णाए पणालीए कहं तुह विवणी णीवि सुरक्खिअं रक्खिउं खमा।"

"सम्मं वितक्किअं तुमए। हीरणमणुट्ठवइ मे मणो पड्डुत्तरं दाउं। परं किं कहेमि, अत्थि मे एआरिसो दाण-सीलो सहावो, वावारेवि ण सो पम्हुट्ठो हवइ। कहं कज्जं चलइ'त्ति ण मे रसणा वंजिउं पहुप्पइ। अज्ज! णत्थि किं

शिरोमणि) स्व अनन्य-सत्यनादिन दर्शयन् सत्य-ध्वनितया नलितया गिरा वक्तु आरब्ध.—"बन्धुप्रवर ! किं कथित भवता स्थापन-रक्षणार्थम् ? न पुन उदीरणीयमिदम्। मया पूर्वमेव शपथीकृत उपधि-रक्षणम्। नून भद्रस्वभावेन सर्व जगत् भद्र इति जानानेन मया रक्षित कस्यापि महानुभावस्य न्यास, परन्तु अति कष्टात् तत्परिणाम यथाकथञ्चित् पार प्रापित । तत पश्चात् न कदापि तादृश कृत्य कर्तव्यमिति प्रतिज्ञात मया। तत कृपया अन्यत्र गन्तव्य न्यास-विन्यास-प्रतिज्ञया, नाह कथमपि स्वीकरिष्ये इदम्।

उत्कृष्टा तस्य सत्यनिष्ठा दृष्टि अनुभूय 'अन्वेव रक्षय रक्षामि' इति अह अनुरोध कर्तुं प्रवृत्त । तस्मिन् समये एका बालिका घृत क्रेतु आगता। वञ्चनवृषभेण तेन मा प्रभावयितु एका निकृति स्फुटीकृता। यथा गृहीत एकगुण द्रव्य तद्विनिमये दत्त द्विगुण घृतम्। सर्पि गृहीत्वा गता कन्या । निस्मितेन मया तत्काल उट्टङ्कितम्– अहो ! वाणिजोऽसित्व यद् न जानासि वाणिजवृत्तिमपि। अरे ! द्रव्यग्रहणात् अर्पित द्विगुण आज्य, कथ अनवद्यमिद कार्य यद वणिग्नामदूषक मूढतानिजृम्भित च। अनया प्रणाल्या कथ तव विपणि नीवी सुरक्षिता रक्षितु क्षमा ?

"सत्य वितर्कित त्वया। ह्रीरणा (लज्जा) अनुभवति मे मन प्रत्युत्तर दातुम्। पर किं कथयामि अस्ति मे एतादृश दानशील स्वभाव , व्यापारेऽपि यो न विस्मृतो भवति। 'कथ कार्य चलति' इति न मे रसना व्यञ्जयितु प्रभवति। आर्य ! नास्ति किं सर्वंकषति-

सव्वक्खइ-पूरगो सव्व-सत्तिमंतो सव्वेसिं जोग-क्खेम-कुसलो पहू ?" पुण्ण-सद्धा-पुव्वअं णिद्धेइअ तेण ।

इओ घयं गहिऊण सा कण्णा णिअ ठाणं पत्ता ? ताए पिअरेण घयं विलोएऊण सच्छेरं पुट्ठं—"पुत्तिआ ! कहं मुल्लाणुसारेण दुउणं घयं दीसइ । ण तारिसो कोइ अण्णो धुत्त-सिरोमणी विज्जए णयरम्मि । तेण कहं एआरिसं कयं ? एत्थ किमवि रहस्सं विज्जइ । किं कोइ पवासुओ तत्थ उवविट्ठो आसि ?"

पुत्तिआए भणिअं—"आम, एगो अणुवलक्खिओ कोइ णरो तत्थ किमवि वत्थु रक्खेउकामो असइ अणुरोहं कुणमाणो आसि ।" सच्च तव्वंचणट्ठं किर तेण एसा णिअडी पयडीकया । कण्णे ! सत्तरं वच्चसु घयं पच्चप्पिणेउं, पुणरवि जहा हं कहेमि तहा पयडीकुणसु उन्चसरं । सप्पि गहिऊण बालिआ झत्ति हट्टं पत्ता, मिसाणाणणीहूअ साहेउं च पउत्ता—"आवणिअ ! वहमेअं अणुइअं कयं ? कहं विगुणं सप्पि समप्पिअं ? तं पेक्खिअ मह पिआ अईव कुविओ जाओ । अहमवि मुक्ख'त्ति सद्देण अक्कोसिआ, णिरणुक्कोसं ताडिआ य ।" तत्त सिवपतेण उईरिअं—"भद्दे ! ण्णधणा वयं'ति ण चिंतणिज्जं किमवि । णेआउग्गेण समालं-सित्तेण भोअणेण सतुट्ठा सुहं जीवणं जवेमो । णायवद्धिआ एगा ववड्डिआवि रोट्टी-तुल्ला । अण्णायचिआ पुट्ठिसा कोडी वि ण णे कज्ज-साहणी, तम्हा पच्छा णसु तुह अहिअं अत्थि घयं" एवं कहंतेण तीए घयायणं पुरओ रक्खिअं, अहरित्तं पच्चप्पिऊण तवसणं च ठ्ठविलिअं तीए । मए चिंतिअं—हन्त ! बालिआए पिय-

पूरव सर्वशक्तिमान् सर्वेपा योगक्षेमकुशल प्रभु ?" पूर्णश्रद्धापूर्वक निवेदित तेन।

इतो घृत गृहीत्वा सा कन्या निज स्थान प्राप्ता। तस्या पित्रा घृत विलोक्य साश्चर्य पृष्ठम्—"पुत्रिके! कथ मूल्यानुसारेण द्विगुण घृत दृश्यते? न तादृश कोऽपि अन्य धूर्तशिरोमणि विद्यते नगरे, तेन कथ एतादृश कृतम्? अत्र किमपि रहस्य विद्यते। किं कोऽपि प्रवासी तत्र उपस्थित आसीत्?

पुत्रिकया भणित—"आम्, एव अनुपलक्षित कोऽपि नर तत्र किमपि वस्तु रक्षितुकाम असकृत् अनुरोध कुर्वन् आसीत्।" सत्य तदवञ्चनार्थं किल तेन एपा निकृति प्रकटीकृता। वत्से! सत्वर व्रज घृत प्रत्यर्पयितुम्, पुनरपि यथाह कथयामि तथा प्रकटीकुरु उच्चस्वरम्। सर्पि गृहीत्वा बालिका झगिति हट्ट प्राप्ता, म्लानानना-भूय कथयितु प्रवृत्ता—"आपणिक! कथ एतद् अनुचित कृतम्? कथ द्विगुण सर्पि समर्पितम्? तत् प्रेक्ष्य मम पिता अतीव कुपितो जात। अहमपि 'मूर्खा' इति शब्देन आकृष्टा, निरनुक्रोश ताडिता च। तस्य शिक्षयता उदीरितम् "भद्रे! 'अल्पधना वयम्' इति न चिन्तनीय किमपि। नैयायिकेन समजल-सिक्तेन भोजनेन सतुष्टा सुख जीवन यापयाम। न्यायार्जिता एका कपर्दिका अपि कोटितुल्या, अन्याय-सञ्चिता कुटिला कोटिरपि न अस्माक कार्यसाधनी, तस्मात् पश्चात् कुरु त्व अहित अधिक घृतम्।" एव कथयन्त्या तया घृतभाजन पुरत रक्षितम्, अतिरिक्त प्रत्यर्प्य तत्क्षण प्रतिवलित तया। मया विमृष्टम्-हन्त! बालिकाया पित्रा नून महासत्यवादिना भवितव्यम्। अतिरिक्त आगतमपि घृत येन न रक्षितम्। अहा! कीदृशी विशुद्धा नीति, विमल चिन्तनम् धार्मिकी निष्ठा च? यदि अस्या पितु समीप

रेण णूणं महासच्चवाइणा हो अव्वं । अइरित्तं आगय पि घय जेण ण रक्खिअ, अहा ! केरिसो विसुद्धा णोई, विमलं चिंतण, धम्मिआ णिट्ठा य ? जइ इमोसे पिउणो समीव अह रक्खेमि णिअं घण, तया ण किंचिवि आयईए भय सभाव-णिज्ज 'त्ति णिच्छिअ तओ तक्खण धण गहिअ कण्णाए अणुपय चलिओ । आवणिअस्स णावा मणे मज्झेसमुद्द वुड्डा । पिट्ठओ तेण बहु सबोहिअ, परन्तु मए किमवि ण पडिवण्ण । अयं धुत्त-सेहर'त्ति फुड अणुहवमाणो तग्गिह पत्तो । तेणा-वि ससमाण कुसलपण्हाओ पुट्ठाओ । अत्थि काइ मह जुग्गा सेव्व'त्ति साणुणय जिण्णासिअ । मए वि दव्व-दसणेण सद्धि णिआहिप्पाओ सूइओ । गुरुमुल्लिल्ल रित्य पेक्खिअ सो तग्गहणट्ठ अतक्करणम्मि अईव आउरो जाओ, पर उवरिल्ल-भावेण पुव्व-वाणिअव्व पडिरोह-पडिओ हूओ । जहा-जहा तेण पडिसिद्ध तहा-तहा मए तत्थेव रक्खणट्ठ पसज्झ चिट्ठा विहिआ । तयतराले एगो विप्पो भिक्खमडेतो 'सत्थि कल्लाण'त्ति उच्चारेंतो तस्स णिहलण[1] पविट्ठो । भूदेवस्म पत्थ-मिय तदुल देहि'त्ति गह-वइणा भज्जा आणत्ता । ससमाए भारिआए विप्पस्स दाण दिण्ण । दाण गहिअ चलिओ वाडवो चिंतेउ लग्गो—'चोज्ज ! किमिण नवीण जाय, एत्थ एआरिसी दाणसीलया ! मुट्ठिमिअ चुण्ण-मवि दुल्लह जत्थ । किंविणिमा-कक्कसा भज्जा ण उच्छि-ट्ठेण हत्थेण साण हक्कारेइ । पेमए कुणतो वि धण्णाण-कणे चव्वए, तत्थ मालीए दाण ! अत्थि कोइ यचणा-

---

१ गृहम् ।

अह रक्षामि निज धन तदा न किञ्चिदपि आयतौ भय सम्भावनीय-मिति निश्चित्य तत तत्क्षण धन गृहीत्वा कन्याया अनुपद चलित । आपणिकस्य नौर्मध्ये मध्येसमुद्र ब्रुडिता । पृष्ठत तेन बहु सम्बोधितम्, परन्तु मया किमपि न प्रतिपन्नम् । 'अय धूर्तशेखर' इति स्फुट अनुभवन् तद्गृह प्राप्त । तेनापि ससम्मान कुशल-प्रश्ना पृष्टा । 'अस्ति कापि मम योग्या सेवा' इति सानुनय जिज्ञासितम् । मयाऽपि द्रव्य-दर्शनेन सार्ध निजाभिप्राय सूचित । गुरुमूल्यवत् रिक्थ प्रेक्ष्य स तद्ग्रहणार्थं अन्त करणे अतीव आतुरो जात । पर उपरितन-भावेन तु पूर्ववाणिजवत् प्रतिषेध-पण्डितो भूत । यथा-यथा तेन प्रतिषिद्ध तथा तथा मया तत्रैव रक्षणार्थं प्रसह्य चेष्टा विहिता । तदन्तरालेऽपि एको विप्रो भिक्षा अटन् 'स्वस्ति, कल्याणम्' इति उच्चरन् तस्य निहेलन (सदन) प्रविष्ट । 'भूदेवाय प्रस्थमित तन्दुल देहि' इति गृहपतिना भार्या आज्ञप्ता । ससम्मान भार्यया विप्राय दान दत्तम् । दान गृहीत्वा चलितो वाडव चिन्तयितु लग्न —"चोज्ज ! (आश्चर्यम्) किमिद नवीन जातम्, अत्र एतादृशी दानशीलता ! मुष्टि-मित चूर्णमपि दुर्लभ यत्र । कृपणतावर्षंशा भार्या न उच्छिष्टेन हस्तेन श्वान निषेधति । पेषण कुर्वती अपि धान्यकणान् चर्वति, तत्र शालीना दानम् ! अस्ति कोऽपि वञ्चना-प्रपञ्च । अनुसन्धान-तत्परस्य

पवचो । अणुसधाण-तप्परस्स तस्स पच्छा अवलोअमाणस्स अह दिट्ठिमग्गमोइण्णो । हत ! अस्स पवासुअस्स पतारणट्ठ एसा वयण्णया । कह ण घेतव्वो मएवि अस्स अवसरस्स लाहो ? इअ णिच्छिअ तक्खण सो णिअमुद्धवेढणम्मि एग लहु तण सणिवेसिअ पच्छा वलिओ, दीणाणणो भुच्चा साहेउ पउत्तो–"हद्धी ! महतो अवराहो, अभूअपुव्वो मतू, अखमणिज्जा य मे तुडी जाया । भाय ! अच्चत दुहिओम्हि ! हा ! जाहे ह दाण गहेउ णिण्णकघरो भूओ तयाणि अणाभोगेण एग छड्डिआए तण मह उण्हीसम्मि सलग्ग । किचि अग्गओ वच्चमाणस्स मह करो तण सजुत्तो जाओ । तक्खणमह कपिअ-कलेवरो सवुत्तो । हा हा ! अण्णाणयाए किमिण अघडिअ घडिअ ! अज्जप्पभिइ ण मए कस्सइ अदिण्णादाण गहिअ, अज्जपइण्णा भग्गो हवीअ । ण मुल्लिल्ल तए'ति किमदिण्णादाणमिअ एव जइ लहुमवराह ण किमवि त्ति उवक्खेज्जा, तयाणि अणग्गल-वित्तीओ हुतो सुवण्णावहरण-मवि ण दोस दुट्ठु मणेज्जा । अव्वो ? वभणस्स सव्वो वि किरिआ-कलाओ विलुत्तो हवेज्जा । अम्हाण भिक्खागाए कए णवर भिक्खाए च्चिअ अहिआरो । भिक्खाए तुट्ठा अम्हे परमाणदिणो पइपल । अम्हाक सगहेण धणस्स कि पओ-अण", इअ वाकुणतो तण हत्थोहत्थि पच्चप्पिणिअ पच्चा-वलिओ । तस्स अवीअ सच्च-णिट्ठ वागरण सुणिअ अह अईव पभाविओ जाओ । अहो ! केरिसा विप्पोऽय अलो-लुहो, णीइ-कुसलो, दढधम्मो य महप्पा विज्जए, जइ ह इमस्स धण समप्पेमि, तया ण वाइ अवहरण सका समुट्ठिआ सिआ, एव विमसिअ एक्कवए तओ धण गहिअ पचलिओ,

तस्य पश्चात् अवलोकमानस्य मह दृष्टिमार्गमवतीर्णं । हन्त । अस्य प्रवासिन प्रतारणार्थ एषा वन्दान्यता। कथ गृहीतव्य मयाऽपि अवसरस्य लाभ ? इति निश्चित्य तत्क्षण स निजमूर्धवेष्टने एक लघु तृण सनिवेश्य पश्चाद् वलित, दीनाननो भूत्वा कथयितु प्रवृत्त —"हद्धी ! महान् अपराध, अभूतपूर्व मन्तु, अक्षमणीया च मे न्‌टिर्जाता। भ्रात ! अत्यन्त-दु खितोऽस्मि । हा। यदा अह दान गृहीतु निम्नकन्धरो भूत, तदानी अनाभोगेन एक छदिकाया तृण मम उष्णीषे सलग्नम्। किञ्चिद् अग्रतो व्रजतो मम कर तृणसयुक्तो जात । तत्क्षण अह कम्पित-कलेवर सवृत्त । हा हा। अज्ञानतया किमिद अघटित घटितम् ? अद्यप्रभृति न मया कस्यापि अदत्तादान गृहीतम्। अद्य प्रतिज्ञाभङ्ग अभूत्। 'न मूल्यवत् तृणम्' इति किमदत्तावानमिदम् ? एव यदि लघु अपराध न किमपि इति उपेक्षे तदानी अनर्गलवृत्तिको भवन् सुवर्णावहरणमपि न दोप-दुष्ट मन्येय। अव्वो ! ब्राह्मणस्य सर्वोऽपि क्रियाकलाप विलुप्तो भवेत्। अस्माक भिक्षुकाणा कृते केवल भिक्षाया एव अधिकार । भिक्षासन्तुष्टा वय परमानन्दिन प्रतिपलम्। अस्माक सग्रहेण धनस्य किं प्रयोजनम् ? इति व्याकुर्वन् तृण हस्ताहस्ति प्रत्यर्प्य प्रत्यावलित । तस्य अद्वितीय सत्य-निष्ठ व्याकरण श्रुत्वा अह अतीव प्रभावितो जात । अहो ! कीदृश विप्र अय अलोलुभ, नीतिकुशल, दृढधर्मश्च महात्मा विद्यते। यदि अह अस्मै धन समर्पयामि तदा न कापि अपहरणशङ्का समुत्थिता स्यात्, एव विमृश्य एकपदे ततो धन

पुव्व-धुत्तेण वारिओ वि अह ण तत्थ ट्ठिओ । तमणुवच्चतो तस्स णिलय पविट्ठो । तेणाह अइ महुर-ववहारेण ववहरिओ । मएवि णिअ दव्व दसिअ रक्खणट्ठ अग्गहो कओ परतु तेण धुत्तेण फुड अणिच्छा दक्खविआ । तयाणिमेव इक्को जोई भिक्खट्ठमागओ सख पुरेउ लग्गो । त पेक्खिअ सो अईव उप्फुलो जाओ । सभत्ति वदणा कया । धण्ण भागहेय'ति वएतेण पायसभिक्खाए तस्स झोलिआ पूरिआ । अण्णाइ पि बहूइ सुमहुर-भोज्जाइ समप्पिआइ । गुरु-झोलिओ मोमुइओ जोई गुरु ससीम पत्तो । कमवि णवीण रसड्ढ भिक्ख णिहालिअ जरडो[1] गुरू विम्हय पत्तो । अज्ज को एरिसो सज्जुक्को दायारो णयरम्मि उप्पण्णो, जेण एरिच्छा पगाम-रसा रसवई भिक्खाए दिण्णा । पडिदिअह तु तुम सुक्क, रुक्ख, अत, पत च भोअणजाय आणिएसि, ण कयाइ एआरिस मणुण्ण भोअण लब्भसि, किं तत्थ कोई णवीणो भद्दो धणड्ढो जणो ट्ठिओ आसी ? अवस्स रहस्स विज्जए एत्थ किमवि । सीसेण 'ह ता' कहतेण पडिवण्ण । गुरुणा उप्पालिअ—"सीस ! झोलिअ गहिअ तत्थेव गतु तुरसु । मह पवचिअ पयडीकुणमाणो अचुच्छ-साहल्ल लहसु ।" गुरुणो पमाण'ति वयतो तुरतो सीसो सझोलिओ तत्थेव पुणरागम्म सखेअ वोत्तुमाढत्तो—"भत्त ! अज्ज मए अणट्ठो उवालभो गुरस्स पत्तो, जयाहं भिक्ख णेऊण गुरुवकठ गओ । तुह दिण्ण सरस भिक्ख पेक्खिअ विरत्तो गुरू रत्तो जाओ । आविलिज्जाए वायाए पच्चारेउ पउत्तो—"मूढ ! वप्पए किं

१ जरण्डो वृद्ध ।

गृहीत्वा प्रचलितः। पूर्वधूर्तेन वारितोऽपि अहं न तत्र स्थित.। त अनुव्रजन् तस्य निलय प्रविष्टः।

तेन अह अतिमधुर-व्यवहारेण व्यवहृतः। मयापि निजं द्रव्य दर्शयित्वा रक्षणार्थं आग्रहः कृतः, परन्तु तेन धूर्तेन स्फुटं अनिच्छा दर्शिता। तदानीमेव एको योगी भिक्षार्थं आगत शङ्ख पूरयितु लग्न.। त प्रेक्ष्य स अतीव उत्फुल्लो जात.। सभक्तिवन्दना कृता। धन्य भागधेय इति वदन् पायस-भिक्षया तस्य झोलिका पूरिता। अन्यानि अपि बहूनि सुमधुर-भोज्यानि समर्पितानि। गुरुझोलिको मोमुदितो योगी गुरु-पार्श्वम प्राप्त.। कामपि नवीना रसाढ्या भिक्षा निभाल्य जरण्ड (वृद्ध) गुरु विस्मय प्राप्त.। अद्य न एतादृश सद्यस्क दाता नगरे उत्पन्न., येन ईदृशा प्रकामरसा रसवती भिक्षाया दत्ता? प्रतिदिवस तु त्व शुष्क रुक्ष अन्त प्रान्त च भोजनजात आनयसि। न कदापि एतादृश मनोज्ञ भोजन लभसे। किं तत्र कोऽपि नवीनो भद्रो धनाढ्यो जन स्थित आसीत्? अवश्य रहस्य विद्यते अत्र किमपि।

शिष्येण 'हन्ता' कथयता प्रतिपन्नम्। गुरुणा कथितम्—"शिष्य! झोलिका गृहीत्वा तत्रैव गन्तु त्वरस्व। मम प्रपञ्चित प्रकटीकुर्वन् अतुच्छसाफल्य लभस्व। 'गुरव प्रमाणम्' इति वदन् त्वरमाणः शिष्यः सझोलिकः तत्रैव पुनरागम्य सखेद वक्तु आरब्ध.—"भक्त! अद्य मया अनर्थः उपालम्भो गुरोः प्राप्त। यदाह भिक्षा नीत्वा गुरूपकण्ठ गतः। तव दत्तां सरसा भिक्षा प्रेक्ष्य विरक्तो गुरु रक्तो जातः। क्रुद्धया वाचा उपालब्धु प्रवृत्तः—"मूढ! कल्पते किं साधूना

साहूणं एआरिसी भिक्खा ? णवरं तएणं भुंजेतो वि थक्करो कामेण पगामं पराहूओ हवए तया सरसं भुंजेतो जोई कहं बंभचेरवसंवओ। मिच्छा कहणमिणं जं रस-लोलुहो वि जोइ'त्ति ? किं पओअणं अम्हाकं णाणा-रस-वंजण-जुएण भोअणेण ? अम्हेहि तु सुक्खं रुक्खं भोअव्वं, विजणे वणे चिट्ठिअव्वं, तुह-जत्ता च कायव्वा। णूणं ण हवइ कयाइ तवस्सा-विहूणा समला साहुणा" एवं कहिअ तत्थेव णाणगाइअ छड्डिअ पच्छाचलिओ सो। तं सुणिअ अहं तु उत्तंभिओ, विम्हिओ, तग्गुण-रंजिओ य जाओ। अहो ? केरिसं वेरग्गं, अब्भुआ णिप्पिवासिआ, विचित्ता य विरत्तो ! जोगं कं मए तत्थेव दव्वं अप्पिअव्वं। अलाहि विकप्पेण। तारासं त अणुसरंतो पुरस्स बहिआ सवणम्मि सहं तस्स दंसणं गयं। विरत्ति-विसग्गिओ पत्ताणओ जाओ। मए वि णाण-गुरुसट्टं विणत्तो सो। अम्हाकं किं पओअणं'ति बहु-णिसिद्धं तेण। अंते अइ अग्गहेण तेण गोसय सह पत्थएं। एत्थ ण किंमवि भय'ति लोचितो समुद्दम्मि अगओ चलिओ।

एतादृशी शिक्षा ? केवल तृण भुञ्जान अपि बर्बर कामेन प्रकाम पराभूतो भवति, तदा सरस भुञ्जानो योगी कथ ब्रह्मचर्य-वशवद ? मिथ्या कथनमिदम् यत् रसलोलुपोऽपि योगी । कि प्रयोजन अस्माक नाना रस-व्यञ्जन-युतेन भोजनेन ? अस्माभिस्तु शुष्क रुक्ष भोक्तव्य, विजने वने स्थातव्य, तीर्थ-यात्रा च कर्तव्या । नून न भवति कदापि तपस्याविहीना कापि सफला साधना' एव कथयित्वा तत्रैव पायसादिक भुक्त्वा पश्चात् चलित । तत् श्रुत्वा अह तु उदश्मित विस्मितस्तद्गुणरञ्जितश्च जात । अहो ! कीदृश वैराग्यम् ? अद्भुता निष्पिपासिता, विचित्रा च विरक्ति । निस्सङ्क मया तत्रैव द्रव्य अर्पितव्यम् । अल विकल्पेन । तत्काल त अनुसरन् पुरस्य बहि मठे महन्तस्य दर्शन कृतम् । विरक्ति-विकसितो वार्तालापो जात । मयापि न्याससुरक्षणार्थं विज्ञप्त स । 'अस्माक कि प्रयोजनम् इति बहुनिषिद्ध तेन । अन्ते अति आग्रहेण तेन स्वीकृत मम प्रार्थनम् । अत्र न किमपि भयमिति निश्चिन्त समुद्र अग्रतश्चलित ।

पृष्ठत महाद्रव्य-लोलुभन महन्तेन सर्वेऽपि शिष्या पृथक्त्व प्रापिता । मठ प्रतोल्या मुखमपि परावर्तितम् । सर्वेऽपि वृक्षा छिन्ना । निज एव अक्षि अपि स्फोटितम् । सर्वाऽपि लीला अन्यादृशी एव कृता ।

किञ्चित् कालानन्तर यदा अह पश्चात् सुरक्षित न्यास गृहीतुकाम तत्र समागत, तदा न किमपि उपलक्षित प्राप्तम् । न महन्तन वार्ताऽपि विहिता । 'विस्मृतोऽसि त्व न अत्र स्वप्नेऽपि एतादृशी घटना घटिता' स्फुट निषिद्ध तेन ।

फुडं णिसिद्धं तेण। कुमार! तओ प्पभिइ अहं जत्थ तत्थ भमेमि, परंतु ण कोइ मह पउत्तिं सुणेइ। अत्थु, इण मेव कहणस्स तप्पज्जं[1], जं तए अईव कुसलत्तेण वट्टिअव्वं, अण्णहा ण कुसलं'ति मंतव्वं। संखेवेण एवं णिवेइऊण मा कोइ मं पासउ'त्ति तक्खणं पलाणो सो।

संभरिआ रयणेण अणुहविणो थेरस्स सद्दा। हंत! अमुणिअं विहि-विलसिअं अणहिलसिअं ठाणमागअं। संपइ किं कायव्वं'ति चिंताउरो जाओ कुमारो।

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए णयराओ पट्ठाण-
कालकूडदीवागमण-णियडोघडणासवणाइ-
भावेहिं रेहिआए रयणवाल-
कहाए चउत्थो ऊसासो
समत्तो

---

1 तात्पर्यम्।

कुमार ! ततः प्रभृति अहं यत्र तत्र भ्रमामि, परन्तु न कोऽपि मम प्रवृत्ति शृणोति। अस्तु, इदमेव कथनस्य तात्पर्यं यत् त्वया अतीव कुशलत्वेन वर्तितव्यम् अन्यथा न कुशलमिति मन्तव्यम् । सक्षेपेण एव निवेद्य 'मा कोऽपि मा पश्यतु' इति तत्क्षण पलायित सः।

सस्मृता रत्नेन अनुभविन. स्थविरस्य शब्दाः ? हन्त ! अज्ञान विधि-विलसित अनभिलषित स्थान आगतम्। सम्प्रति किं कर्तव्यमिति चिन्तातुर' जातः कुमार ।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचिताया नगरात् प्रस्थान-
कालकूटद्वीपागमन-निकृतिघटनाश्रवणादिभावैं
शोभिताया रत्नपाल-कथाया चतुर्थ
उच्छ्वास समाप्तः

५

अह पंचमो ऊसासो



अहो ! पोग्गलिआ सव्वावि भव्वा परिणई पुण्णकम्म-पणुल्लिआ। पुण्णबंघोवि ण हवेज्ज विणा सुहजोगं। 'जत्थ सुहजोगो तत्थ णिअमेण णिज्जरे 'त्ति पवेइअं आगमिएहिं। णिज्जरा वि ण तवमंतरेण। तवो वि पयडं धम्मगो। तम्हा धम्मो च्चिअ सव्व-सुहमूल'त्ति विणिच्छिअ तत्त।

इओ अ दुवे अस्सारूढा रायकेरा पुरिसा णिअ-क्कुहं[1] धावेता रयसेण लक्खिआ। 'के एए' इअ सचित्तं जायमाणस। केण पओअणेण इमे समीवयंति म'त्ति कोउहल्ला-उलो जाओ अप्पा। झडित्ति सविह पत्ता एए पुच्छेउ लग्गा सहिलासमित्थ—"कुमार-सिट्ठ! सति किं तुह समीवं दाडिमस्स धायईए य पसूणाणि। जुज्जति ताणि महालुक्खस्स'

१ महारण्णस्स

५

अथ पञ्चम उच्छ्वासः

●

अहो ! पौद्गलिकी सर्वापि भव्या परिणति पुण्यकर्मप्रेरिता । पुण्य-बन्धोऽपि न भवेत् विना शुभयोगम् । 'यत्र शुभयोग तत्र नियमेन निर्जरा' इति प्रवेदित आगमिकै । निर्जराऽपि न तपोऽन्तरेण । तपोऽपि प्रघट धर्माङ्गम् । तस्माद् धर्म एव सर्व-सुख-मूलम्' इति विनिश्चित तत्त्वम् ।

इतश्च द्वौ अश्वारूढौ राजकीयौ पुरुषौ निजककुभ धावन्तौ रत्नेन लक्षितौ । 'कौ एतौ' इति शङ्कित जात मानसम् । केन प्रयोजनेन इमौ समीपयत माम् इति कुतूहलाकुल जात आत्मा । झटिति सविध प्राप्तौ एतौ प्रष्टु लग्नौ साभिलाषमित्थम्—'कुमार-श्रेष्ठ ! सन्ति कि तव समीप दाडिमस्य धातक्याश्च प्रसूनानि ? युज्यन्ते

णरणाहस्स तिगिच्छा-णिमित्तं । जइ संति ता अवस्सं दायव्वाणि तुमए । एसो महामुल्लोऽवसरो ण चुक्कणिज्जो समयण्णुणा" एवं कहेंता पच्चुत्तरं पडिक्खंता तुण्हिक्का ठिआ ।

अहो ! धुत्ताणं अकलणिज्जा कला । अलक्खणिज्जा विज्जा । अणवगंतव्वं तत्तं । कहं णायं एहिं दाडिम-धायई-पुप्फाणं गुज्झं ? विचित्तो किर परप्पयारण-विज्जाए पढमिल्लो पयासो 'ति ससंको जाओ कुमारो । अहवा हवेज्ज अंधवट्टकीयमिणं[1] । दक्खयाए देमि अस्स पच्चुत्तरं जहा ण विणट्ठं होइ सामइअं किच्चं । किंचि चिंतेऊण सूइअं रयणेण—"संभवेज्ज रोयाणं भीसणमक्कमो । पडिकिरिआ वि तेसिं णाणोसहोवयार-सज्झा । पुप्फाणं हेउणो तुम्हाणमुट्टंकणा वि णाणुइआ, तहावि अपरिचिआ अम्हे इहच्च[2]-मणुएहिं । तो कहं पच्चेमो जं तुम्हकेरं मग्गणं जहत्थं 'ति । जइ अप्पणो रायमंती एत्थ आगंतूणं समीचीण-आए पयडेइ वइअरं, कुणेइ [illegible] वीसत्थं णे मणं, पूणं जहच्छिअ-वत्थूवलद्धी भाविणि 'त्ति संभावणिज्जं ।

णिसमिऊण रयणवालस्स जुत्तिजुत्तं वयणं उप्फुल्ला संजाया ते दंडवासिआ[3] । एक्कसरिअं महामच्चं पट्ठवेमो तं घेत्तुं 'ति कहमाणा सहसा धाविआ ते णयर-दिसं । णाणाविह-कप्पणापरो विहिण्णयरो कुमरो[4] तत्थेव ठिओ अदिस्सं भविस्सं गवेसंतो ।

---

१ अन्धवर्तकीयम्-अर्जित किमपि यदा अदृष्टपतित भवति तदा

तानि महारणस्य नरनाथस्य चिकित्सा-निमित्तम् । यदि सन्ति तदा अवश्य दातव्यानि त्वया । एष महामूल्य अवसरो न भ क्षितव्य समयज्ञेन" एव कथयन्तौ प्रत्युत्तर प्रतीक्षमाणौ तूष्णीकौ स्थितौ ।

अहो [1] धूर्तानां अकलनीया कला । अलक्षणीया विद्या । अनवगन्तव्य तत्त्वम् । कथ ज्ञात एताभ्या दाडिम-धातकी-पुष्पाणां गुह्यम् ? विचित्र किल पर-प्रतारण विद्याया प्राथमिक प्रयास इति सशङ्को जात कुमार । अथवा भवेद् अन्धवर्तकीयमिदम् । दक्षतया ददामि अस्य प्रत्युत्तर यथा न विनष्ट भवति सामयिक कृत्यम् । किञ्चित् चिन्तयित्वा सूचित रत्नेन—'सम्भवेत् रोगाणा भीषणमाक्रम । प्रतिक्रियाऽपि तेषा नानौषधोपचार साध्या । पुष्पाणा हेतो युष्माक उद्दण्डनाऽपि नानुचिता । तथापि अपरिचितौ वय इहत्य-मनुजै । तत कथ प्रतीमो यत् युष्माक मार्गेण यथार्थमिति । यदि स्वय राजमन्त्री अत्र आगत्य समीचीनतया प्रकटयति व्यतिकर, कुरुते च विश्वस्त अस्माक मन । नून यथेप्सित-वस्तूपलब्धि भाविनी इति सम्भावनीयम् ।

निशम्य रत्नपालस्य युक्तियुक्त वचन उत्फुल्लौ सञ्जातौ तौ दण्डपाशिकौ । शीघ्र महामात्य प्रस्थापयाव तद् गृहीतुम् इति कथयन्तौ सहसा धावितौ तौ नगर-दिशाम् । नाना-विध कल्पनापरो विधिप्रवर कुमारस्तत्रैव स्थित अदृश्य भविष्य गवेषयन् ।

न्याय प्रवर्तते । यथाऽन्धेन करौ प्रलम्बायितौ, सहसा वर्तकः पक्षी कराभ्या गृहीतस्तेन । २ इहत्यमनुजै । ३ दण्डपाशिक सिपाई (इतिभाषा) ४ कुमार ।

कइवाह[1] सव्भ-णयर-महत्तएहिं सम अचिरमागओ सविह मेअस्स सइवो[2] णयणेहिं अमय वासेतो। जाया जय-जिणिंदाइविही[3]। पुट्ठ कुसल। कुओ समागमण 'ति पुच्छा पुण। दिहि-प्पहाणेण पहाणेण परिचिओ कओ इमो णिवइणो दूसहच्छि-विअणाए। कया णाणोवयारा, पर ण भूओ आमोवसमो, पच्चुल्ल परिवड्ढिआ पीला। आगओ कोइ एगो अणहविं-तल्लजो अगयकारो। कयं णियाए। लद्धा जहत्था ठिई। पत्थुअ भेसज, परंतु तं दाडिम-धायई-सुमेहिं सद्धि पउंजइ 'त्ति तेसिं मग्गणा कया। विहि-वसओ कत्थइ ण मिलिओ भिस ढढुल्लमाणाणमवि णे तेसिं सजोगो। आउरस्स खणमेत्तमवि दूसह विसढ च, तहावि असक्के णिरुवाए किं काउं सक्क। अतक्किअ सवण-सुहमागअ ज कोइ सजत्तिओ समुद्द-तडम्मि उत्थभिओ[4]। पीडिआण मणेसु सव्वओ परिप्फुरइ काइ आसालहरी। सभवेज्ज आगतुगस्स सगोव त वत्थु। तम्हा आगया अम्हेच्चया मणुआ। अहमवि तयट्ठमेव उवट्ठिओम्हि। गहउ जहेच्छिअ मुल्ल, दायव्व जीवण-दायग अमुल्ल त। णत्थि मुल्लिल्ल वत्थु किंतु मुल्लिलो समयो। ता जइ अत्थि त साणुग्ग-हमविलबेण विअरउ भवतो। णीसदेह णीरोओ एवो सुहामइ-हेऊ भविस्सइ भवतस्स। विगयकइअव[5] आयण्णिअ अमच्च-भारइ पच्चइअ[6] जाय रयणस्सतक्करणए। महतं चुड्डमणि जमद तुच्छमवि वत्थु अतुच्छ-लाह-कारण हवेज्ज

१ कतिपयगव्य-नयरमहत्त्वं २ सचिव ३ प्राकृते विधिमन्दरस्त्रीलिङ्गे पि

कतिपय-सम्य-नगर-महरैं सम अचिर आगत सविध एतम्य सचिव नयनाभ्या अमृत वर्षयन्। जातो जयजिनेन्द्रादिविधि। पृष्ठ कुशलम्। युत समागमनम् इति पृच्छा पुन ? धृति-प्रधानेन प्रधानेन परिचित कृतोऽय नृपते दु महाक्षिवेदनया। कृता नानोपचारा, पर न भूत आमोपशम, प्रत्युत परिवर्धिता पीडा। आगत कोऽपि एप अनुभवि-तल्लजोऽगदङ्कार। कृत निदानम्। लब्धा यथार्था स्थिति। प्रस्तुत भैपज, परन्तु तद् दाडिम-धातकी-सुमै सार्धं प्रयुज्यते इति तेपा मार्गणा कृता। विधिवशात, कुत्रापि न मिलित भृश गवेपयता अपि अस्माक तेपा सयोग। आतुरस्य क्षणमात्रमपि दु सह विपम च, तथापि अशक्ये निरुपाये किं वक्तुं शक्यम्? अतर्कित श्रवणकुहरमागत यत् कोऽपि सायान्त्रिक समुद्रतटे उत्थम्भित। पीडितानां मन सु सर्वंत परिस्फुरति कापि आशा-लहरी। सम्भवेत् आगन्तुकस्य समीप तद् वस्तु। तस्माद् आगता आस्माका मनुजा। अहमपि तदर्थमेव उपस्थितोऽस्मि। गृण्हातु यथेप्सित मूल्य, दातव्य जीवनदायक अमूल्य तत्। नास्ति मूल्यवद् वस्तु किन्तु मूल्यवान् समय। तस्माद् यदि अस्ति तव सानुग्रह अविलम्बेन वितरतु भवान्।• नि सन्देह नीरोगो नृप शुभायति-हेतुर्भविष्यति भवत। विगत-कैतव आकर्ण्य अमात्यभारती प्रत्ययित जात रत्नस्य अन्त करणम्। महद् आश्चर्यमिद यत् अतितुच्छमपि वस्तु अतुच्छ-लाभकारण

प्रयोग। यथा-सव्वाहि नयविहीहिं ४ उत्थम्भित — रुका हुआ (इतिभाषा)
५ विगतकैतवम् ६ प्रत्ययितम्।

विहिणिओइअ । अहवा विमल भागहेय कह, कया, कत्थ पडिफलेइ 'त्ति अगम्म गुज्झ । देमि अणायासमाणीआणि ताणि णिरट्ठ परिट्ठविअव्वाणि मे सुमाणि । इअ वीमसिअ कुमारेण सहोदज्ज[1] महुरमालविअ—"अत्थि मतिप्पवर ! तुम्हेहिं अइ अण्णेसिअ त वत्थु अणायासमागय मे सद्धि । इओ किमहिअ भव्व ज मामग वत्थु णयरणाहस्स कज्जमेइ। कह जहेच्छिअ मोल्ल गेज्झ त्ति साहिअ। मोल्ल तु भवारिसाण किवच्छि विकूणिअमेव[2] अम्हारिसाण । पडिवालेतु खण भवता जहा अहमवि तुम्हेहिं सम पुप्फोवढोअण-णिहेण[3] णिवइ-दसण-लाह गिण्हिउ सक्केमि ।"

बहुवर, दुत्ति[4] होह सज्जा तुम्हे । विरमालेइ रणरण-येण णरवई तत्थ । अयमागच्छेमि 'त्ति भणतो रयणवालो तक्काल परिहिअ-णिव-सहोइअ-णेवत्थो, धारिअ-णाणा-विहालकारो, गहिअ-उवईकरणारिह-विसिट्ठ-वत्थुणिचओ, सुसज्जिअ-पुप्फकरडिओ, अणेगेहिं णिअ-मणुएहिं परिवालिओ य अमच्चेण साग णिवइ-दंसणट्ठ णिग्गओ । णिवेणावि लद्धा इमिआ पउत्ती जमेगो बालो पोअ-वाणिओ गहिअ ताणि पुप्फाणि म सवध काउमागच्छेइ 'त्ति । अदिहिं पत्तो णिवो पेक्खइ तस्स मग्ग ताव मतिणा सद्धि उसलिअ-रोमकूओ उवणओ जिणदत्त-सुओ । कय सविणय णिवइणो अहिणदण । जाया ओवयारिआ वत्ता । पाहुडीकय अण्ण महग्घ वत्थु पुप्फाणि पुण । हट्ठो जाओ णिवो ।

---

१ सहोदर्यम् २ इयाणिविकूणितमेव । ३ पुष्पोपढौकनमिषेण ४ सत्वरं

भवेत् विधि-नियोजितम् । अथवा विमल भागधेय क्य, यदा, कुत्र, प्रतिफलति इति अगम्य गुह्यम् । ददामि अनायास आनीतानि तानि निरर्थं परिष्ठापितव्यानि मे सुमानि । इति विमृश्य कुमारेण सहोदार्य मधुर आलपितम्—"अस्ति मन्त्रिप्रवर ! युष्माभि अति अन्वेषित तद् वस्तु अनायास आगत मया सार्धम् । इत किं अधिक भव्य यद् मामक वस्तु नगरनाथस्य कार्यमेति । कथ यथेप्सित मूल्य ग्राह्यमिति कथितम् ? मूल्य तु भवादृशाना कृपाक्षिविकूणितमेव अस्मादृशाना । प्रतिपालयन्तु क्षण भवन्त , यथा अहमपि युष्माभि सम पुष्पोपढौकन-मिषेण-नृपतिदर्शन-लाभ ग्रहीतु शक्नोमि ।"

बहुवरम्, झगिति भवत सज्जा यूयम् । प्रतीक्षते रणरणकेन नरपति तत्र । 'अय आगच्छामि इति भणन् रत्नपाल तत्काल परिधृत-नृप-सभोचित-नेपथ्य, धारित-नानाविधालङ्कार, गृहीत-उपदीकरणार्हं विशिष्ट-वस्तु-निचय, सुसज्जित-पुष्पकरण्डिक, अनेकै निजमनुजै परिवारितश्च अमात्येन-साक नृपतिदर्शनार्थ निर्गत । नृपेणापि लब्धा इय प्रवृत्ति यत् एको बाल पोतवणिग गृहीत्वा तानि पुष्पाणि मा साक्षात्वर्तुं मागच्छति इति । अधृति प्राप्त नृप प्रेक्षत तस्य मार्गं, तावद् मन्त्रिणा सार्धं उसलिअ-रोमकूप (रोमाञ्चित) उपनत जिनदत्तसुत । कृत सविनय नृपते अभिनन्दनम् । जाता औपचारिकी वार्ता । प्राभृतीकृत अन्यद् महार्घ्य वस्तु, पुष्पाणि पुन । हृष्टो जातो नृप । विहित कुशलवैद्यवरेण औषध-प्रयोग । अस्न-

---

५ गृहीतोपदीकरणार्हविशिष्टवस्तुनिचय ६ रोमाञ्चितम् (देशीयशब्द)
७ औपचारिकी

लिता जाता तस्य सुखावहा प्रतिक्रिया। अननुभूतपूर्वं सातं वेदित राज्ञा। अनेन मह्य जीवितदान दत्तमिति अतीव तुष्टो भूतो नृपो रत्नपालस्योपरि। कृता उचिता व्यवस्था। दापित वसनार्हं विशाल स्थानम्। सुस्थित कृत भाण्डम्। दत्त राज्ञा राजसभाया आसनम् प्रेक्षते त भूपति कृपा-दृष्ट्या। शनै शनै परिचित जात तत्रगत-स्थितया कुमार। सञ्चालित व्यापार। विक्रेतु आरब्ध अतिलाभ-करभावेन भाण्डम्। लब्ध अचिन्तित लाभ। व्यतिक्रान्त षाण्मासिक काल। गृहीत योग्येन भावेन पुनरपि नवीन तत्र-सुलभ भाण्डम्। शीघ्रमेव निज देश गन्तव्यमिति चेष्टित कुमारेण। पर विधि किं अभिनव घटयति इति निशामयितव्य भव्यै।

अस्ति एका समय-कुशला विचार-दक्षा सुगृहीत-नानाविध-शिल्पकला सप्तस्वरसाधनया सुविदित-गान्धर्व-विद्या विचित्र भाषा-परिज्ञानविभूषित-काव्य-कलापा मूर्ता सरस्वती इव अदृष्टवर्णरूपा अनुपमेयाकृति अद्भुताकर्षणा सर्वाङ्गसुन्दरी मधुर-मधुरालापा गुणवती रत्नवती नाम नृपस्य दुहिता। सा यौवन प्राप्ता पित्रो चिन्ताकारण जाता। अनेके कुमारा तस्या कृते सूक्ष्म विलोकिता राज्ञा, पर न तत्र कुल-रूप-शील-विद्यादीना यथेप्सित-गुणाना उपपत्ति जाता। अयोग्याय यस्मै कस्मै नृपो न दातुमभिलषति। यत्प्रभृति सर्व-गुण-सयुत सुरूपो विनयशीलो विवेकवान् रत्नपालो

णिवस्स हिअयम्मि णुमण्णो[1] सो धूआ-पच्चप्पिणट्ठं। णूणमत्थि मे पेमसुहा-ण्हाविआए[2] सुआए जुग्गो रयणवालो कुमारो। ण मए एआरिसो रूव-गुण-सुंदरो परो वरो नरो दिट्ठो; परंतु पावासुओ[3] एसो किं पडिवज्जिहिइ ताए सग्गहं पाणिग्गहणं 'ति चिंताउलिओ णिवो तूल-मयणिज्जम्मि संविसंतोवि[4] ण लहइ णिसीहम्मि णिद्दं। रायेण रक्खिआ णिआ भावणा सइवस्स समक्खं। तेणावि अणुमोइअं उइअं पहुस्स चिंतणं 'ति। कायव्वो पयत्तो, कयाइ लभेज्जा साहल्लं एत्थ। एगम्मि पसण्ण-वायावरणम्मि हक्कारिओ विजणम्मि कुमारो। कुसल-पुच्छणेण सद्धिं दक्खयाए पुरओ रक्खिआ मणोभावणा। नहि णणु अम्हाणं भावणा णिप्फला होहि 'त्ति पयडिआ आसा। भीसणायंक-णिवारगं कुमारं पइ किं पडिकुणेमि इओ अण्णं?

सुमिणेवि अतक्किअं, अदिट्ठं, अवोमंसिअं च सुणिऊण णिवस्स मग्गणं अईव विम्हिओ चिंतिओ य जाओ कुमारो। किं करणिज्जं किमुत्तरं देयं 'ति विकप्पणा-वोई-आहओ हूओ हिअय-वोईमालो[5]। एगओ अपत्त-जणणीजणगेण मए ण दारपरिग्गहो कायव्वो 'त्ति णिच्छओ। अण्णओ परम-मिलाहणिज्जो णयरणाहस्स अहविकअव्वो[6] अणुरोहो। उवणओ एत्थ सप्प-छच्छुंदरिआए णाओ।

किमवि अचवमाणं[7] तुण्हीभावमागअं एअं विलोइअ पुणो णरिंदेण साग्गहं पुट्ठं—"कहं तुण्हिक्को त्थि कुमारो?"

---

१ णिम्मण —उत्कण्ठ इत्यर्थं '[illegible]' '[illegible]' (हे० ११३८)
२ प्रेमसुधास्नानिकायाः ३ प्रवासी 'पवासीओ' (हे० १-९५) ४ [illegible]

नयनायनमागत तत्प्रभृति नृपस्य हृदये निपण्ण स दुहितृ-प्रत्यप-णाथम्। नून अस्ति मे प्रेमसुधा-स्नपिताया सुताया योग्यो रत्नपाल कुमार । न मया एतादृश रूप-गुण सुन्दर परो वरो नरो दृष्ट । परन्तु प्रवासी एप कि प्रतिपत्स्यते तया साग्रह पाणिग्रहणमिति चिन्ताकुलित नृप तूलशयनीये सविशन्नपि न लभते निशीथे निद्राम्। राज्ञा रक्षिता निजा भावना सचिवस्य समक्षम्। तेनापि अनुमोदित उचित प्रभो चिन्तनमिति, वक्तव्य प्रयत्न , कदापि लभेत साफल्य अत्र। एकस्मिन् प्रसन्नवातावरणे आकारित विजने कुमार । कुशल-पृच्छनेन सार्ध दक्षतया पुरत रक्षिता मनोभावना। नहि ननु अस्माक भावना निष्फला भविष्यति इति प्रकटिता आशा। भीषणान्तक-निवारक कुमार प्रति किं प्रतिकरोमि इत अन्यत् ?

स्वप्नेऽपि अतर्कित अदृष्ट अविमृष्ट च श्रुत्वा नृपस्य मागण अतीव विस्मित चिन्तितश्च जात कुमार । किं करणीय, किं उत्तर देयमिति विकल्पना वीच्याहतो भूतो हृदय वीचिमाली । एकत अप्राप्त-जननीजनकेन मया न दारपरिग्रह कर्तव्य इति निश्चय, अन्यत परमश्लाघनीय नरनाथस्य अनिषेधनीय अनुरोध । उपनत अत्र सर्प छुच्छुन्दरिकाया न्याय ।

किमपि अजल्पन्त तूष्णीभावमागत एत विलोक्य पुन नरेन्द्रेण साग्रह पृष्टम्—' कथ तूष्णीकोऽस्ति कुमार ?

५ हृदयसमुद्र ६ अनिषधनीय । निषध दृक्क (हि० ४ १३४) ७ अजल्पन्तम्

"मह मे भग्ग ज पुरप्पहुणा सप्पसायमामतिओह दुहि-आ-दाणट्ठ, किंतु कत्थ अम्हाण धणेमलोलुहाण वणिआण कुल ? कत्थ छिइ-पइट्ठिओ वीररस-विसिट्ठो रायण्ण-वसो ? कुह अम्हेच्चया सत्थपरायणा णिच्चभीआ मणोदसा ? कहि खत्तिआण थिरसकप्पा परत्थ-प्पवणा साहसिआ मणट्ठिई ? सोहए सुवण्ण-खसिआ[1] महग्घा मणी, ण उणाइ कय-चा-गचिग्गेवि काय-सयले । जओ जुग्गेण जुगस्स जोअणा जोअगस्स मेहामाहप्प पयडीकरेइ । तो अण्णे अण्णयाणुरूवा महारूव-सत्ति-सालिणो रायकुमारा पेक्खिअव्वा" फुड कोमलसर सविणय कयजलिणा णिवेइ अरयणेण ।

"ण एत्थ वचग-सेहराण णाहस्स पुरओ चलिस्सइ तुह वचगा खित्ती । ज मण्णणिज्ज त मण्णणिज्जमेव एत्ताहे, साय, सुवे, परज्जु अवरज्जु वा । ण एत्थ कोइ अण्णो निग्गमण-मग्गो 'त्ति धुव मुणिअव्व । एत्थेव किर कुसल, किं बहुवाया-वित्थरेण" पणुल्लिअ सव्वगगिराए सगव्व जणाहिवेण ।

आयण्णिऊण णिवस्स परिणाम-विसढ अतिम सुइय अणुहूअ हिअय कपण कुमारेण । ण आणाप्पहाणाण णिवाण सुट्ठिआ पीइ 'त्ति सइमागय णीई-वयण । तक्खण रयणेण परिवट्टिओ भासाए सरो । विणत्त पडिवण्ण-भाव-सदब्भिआए गिराए—"णरणाह ! कया मया पडिसिद्ध मे वहण ?

---

१ सुवर्णखचिता । खचितपिशाचयोश्च सल्लौ वा (हे० १ २३) ।

"महद् मे भाग्यं यद् पुरप्रभुणा सप्रमाद आमन्त्रित अहं दुहितृ-दानार्थम्। किन्तु कुत्र अस्माकं धनैकलोलुभानां वणिजानां कुलम्? कुत्र क्षितिप्रतिष्ठो वीररसविशिष्टो राजन्यवंशः? कुत्र आत्मावा स्वार्थपरायणा निरयभीता मनोदशा? कुत्र क्षत्रियाणां स्थिरसङ्कल्पा परार्थप्रवणा साहसिकी मनःस्थितिः? शोभते सुवर्णखचिता महार्घ्या मणिः न पुनः कृतकाचखण्डेऽपि कान्दावले। यतः योग्येन योग्यस्य योजना योजकस्य मेधामाहात्म्यं प्रकटीकरोति। ततः अन्ये अन्वयानुरूपा महापदवितशालिनो राजकुमाराः प्रेक्षितव्याः" स्फुट कोमल-स्वरं सविनयं कृताञ्जलिना निवेदितं रत्नेन।

"न अत्र यच्चनदोषरक्षणा नायस्य पुरतः चलिष्यति तव यच्चना वृत्तिः। यत् मन्तव्यं तद् मन्तव्यमेव इदानीं, सायं, श्वः, परेद्युः अपरेद्युर्वा। न अत्र कोऽपि अन्यो निर्गमनमार्गः इति ध्रुवं ज्ञातव्यम्। अत्रैव किल कुशलं किं बहु वाचा-विस्तरेण" प्रेरितं सम्यग्गिरा सगर्वं जनाधिपेन।

आकर्ण्य नृपस्य परिणाम-विषमं अन्तिमं सूचितं अनुमितं हृदय-कम्पनं कुमारेण। 'न आज्ञाप्रधानानां नृपाणां सुस्थिता प्रीतिः' इति स्मृतिम् गतं नीतिवचनम्। तत्क्षणं रत्नेन परिवर्तितो भाषाया स्वरः। विज्ञप्तं प्रतिपन्नभावसहव्यया गिरा। "नरनाथ! यदा मया

अएरिसं[1] मह भागहेयं ज सक्ख कप्पलयव्व रायण्णा कण्णा मे वस-रुक्खमारुहइ। को खु एआरिसो मंदभग्गो जो अब्भागच्छमाणिं लच्छि हक्केइ? णिआ जुग्गया तु फुड रक्खिअव्व 'त्ति विवेगिणो धम्मो, जहा ण पच्छाताओ हवइ।

कण्हायण-भूवइणा तक्खण आहूओ राउल-मुहुत्तिओ[2]। पुट्ठ पुत्तिआए पाणिग्गहणट्ठ सुलग्ग तक्कालिअ। पचग-णिहालण-पुरस्सर किमवि अगुलि-पव्वेसु सखायमाणेण चदसूराइस्सरे गहमाणेण फुडीकय तेण उवयमस्स पक्ख-मज्झगय सुदिण। एगच्चीकया सव्वावि तज्जुग्गा सामग्गी। आढत्त तुरिआइ-सणिणाएण सम सुहवी-सुस्सर-समुट्ठिअ मगलगीआइअ पढमिल्लं किच्च। उच्छिईकया तोरणाईएा मणोहरा रयणा। सज्जीकयाइ णाणामागलिअ-पुप्फपत्ताण उक्केरेण दाराइ। सिरिरयणवालो रयणवइ परिणेस्सइ 'त्ति सव्वेहिं णायरेहिं णाय। तेहिं वि जहाठाण विविह-कोउअ-मगलाइ विरइआइ। समीवमागओ पाणिग्गहण-वासरो। गहिअ-उव्वट्टणेण रयणेण पहिरिओ[3] वरोइओ वग्गुवेसो[4]। अईव घिप्पिरो सो हय-खंधमारूढो। पइचच्चर वध्दाविआ धरजत्ता णिव मदिर पत्ता। जाओ सव्वोवि विवाह-विहि-णिव्वाहो। सलज्ज-णयणेहिं दइअ-मुहचद पलाअमाणीए रयणवईए चओरिव्व मणमि अणोवमिअ सुहमणूहूय। दाय देंतेण णिवेण अपरिमिआ सुवण्ण-रयणरासी णाण-

1 अनीदृश-अनुपममित्यर्थं 2 राजमुहूर्तिक 3 परिधृत 4 वल्गुवेश (वल्गु रुचिरम्)

प्रतिषिद्ध भवत कथनम् ? अनीदृश मम भागधेय यत् साक्षात् कल्पलतावत् राजन्या कन्या मे वशवृक्ष आरोहति । क ननु एतादृशो मन्दभाग्य योऽभ्यागच्छन्ती लक्ष्मी निषेधति ? निजा योग्यता तु स्फुट रक्षितव्या इति विवेकिनो धर्म , यथा न पश्चात्तापो भवति ।

कृष्णायनभूपतिना तत्क्षण आहूतो राजकुल-मौहूर्तिक । पृष्ट पुत्रिकाया पाणिग्रहणार्थं सुलग्न तात्कालिकम् । पञ्चाङ्ग-निभालन-पुरस्सर विभपि अगुलीपर्वसु सत्यायता चन्द्रसूर्यादिस्वरान् गृह्णानेन स्फुटीकृत तेन उपयमस्य पक्षमध्यगत सुदिनम् । एकत्रीकृता सर्वापि तद्योग्या सामग्री । आरब्ध तूर्यादिसनिनादेन सम सुभगी-सुस्वर-समुत्थित मङ्गल-गीतादिक प्राथमिक कृत्यम् । उच्छ्रितोच्छ्रिता तोरणा वीना मनोहरा रचना । सज्जीकृतानि नानामाङ्गलिक-पुष्पपत्राणा उत्करेण द्वाराणि । श्रीरत्नपाल रत्नवती परिणष्यति इति सर्व-नागरैर्ज्ञातम् । तै अपि यथास्थान विविधकौतुकमङ्गलानि विर-चितानि । समीप आगत पाणिग्रहणवासर । गृहीतोद्वर्तनन रत्नेनापि परिधृत वरोचित वल्गुवेश । अतीव दीप्र स हयस्कन्ध-मारूढ । प्रतिचत्वर वर्धापिता वरयात्रा नृपमन्दिर प्राप्ता । जात सर्वोऽपि विवाह-विधि-निर्वाह । सलज्जनयनाभ्या दयितमुखचन्द्र प्रलोकमानया रत्नवत्या चकोरीवत् मनसि अनुपमित सुख अनुभूतम् । दाय ददता नृपेण अपरिमित सुवर्णरत्नराशि नानाविचित्रदेशान्त-

विचित्त-देसतरोवलद्ध-वत्थूहिं सद्धिं ससिणेह समप्पिआ। णवोढाए सद्धिं समागओ भाणुमई-सुओ ससुर-समप्पिअम्मि पासायम्मि। पयट्टे वि पाणिग्गहण-महूसवे णाणुहवइ अब्भतरिं सतिं रयणस्सतक्करणे। किं मे इमाए रायधूआए समसुव्वाहेण जाव ण दुहिआए मायर-पिअराण हिअयम्मि सतिं पामावेमि'। अलाहि तारिसीए सुहेल्लीए' जत्थ ण अवस्स करणिज्ज कज्ज णिव्वाहिअ होइ। तो जाव णाह पुज्जाण पिअराण दसण काहं ताव ण पिअयमाए सह गिहत्थासम-सुह माणिस्स' 'ति निच्चला पइण्णा पडिवण्णा मणम्मि विवेगिणा सुपुत्तेण।

"पिअयमे! अत्थि अम्ह कुलस्स एआरिसी मज्जादा ज णव-परिणीओ णव-वहुआए सम जाव ण कुल-देवयाणं अच्चण कुणइ ताव ण पच्चिदिअ-सुहेल्लिमणुहविउं पहुप्पइ 'त्ति जाणाविआ रयणेण णवपिअयम-गमण-समुप्पण्णठिआ णव-भज्जा। लज्जालुइणीए ताए 'अज्जउत्ता पमाण'ति' साहमाणीए पइ-वयण साणद सीअयं। ण वत्थइ मतभेओ पायव्वो'त्ति पडिस्सुअ दोहिं। एव णाणाविहालाव-ललाव-मसत्ताण जप्पंर्णं अइक्कता थेवा दिअहा। बहु अवसिट्ठ कज्ज' ति सभरतेण रयणेण सिग्घमेव णिअ-देस-गमण णिच्छिअ। सुअवसर पण मक्खिणय ससुरपाया णिवेइआ। सय-पण्णा-वत्तणसमीइ मुणेऊण जामायर, पुण्ण जाय णियस्स चित्त। अत्ता' तु थंव अत्ता, दुहिआ-विरह-तत्ता, उवेअत्ताण'

१ प्रापयामि २ (दे०) सुपर्वाणी ३ अपूरयित्वा। दुस्त्यजा ५ [illegible] माक्तु' ४ गतम् ५ उपेक्षावद् विनायुक्ता।

रोपलब्धवस्तुभि सार्धं सस्नेह समर्पित.। नवोढया सार्धं समागतः भानुमतीसुत. श्वसुरसमर्पिते प्रासादे । प्रवृत्तेऽपि पाणिग्रहणमहोत्सवे नानुभवति आभ्यन्तरी शान्ति रत्नस्य अन्त करणम् । किं मे अनया राजदुहित्रा सम उद्वाहेन यावत् न दु खितयो मातापित्रो॰ हृदये शान्ति प्रापयामि। अल तादृश्या सुखकेल्या यत्र न अवश्य करणीय कार्यं निर्वाहित भवति। ततो यावन्नाह पूज्याना पितृणा दर्शन करिष्यामि तावन्न प्रियतमया सह गृहस्थाश्रमसुख अनुभविष्यामि, इति निश्चला प्रतिज्ञा प्रतिपन्ना मनसि विवेकिना सुपुत्रेण।

"प्रियतमे ! अस्ति अस्मत्कुलस्य एतादृशी मर्यादा यत् नवपरिणीत नववध्वा सम यावत् न कुलदेवताना अर्चना करोति तावत् न पञ्चेन्द्रिय-सुखकेलो अनुभवितु प्रभवति" इति शालिना रत्नेन नवप्रियतम-सङ्ग-समुत्कण्ठिता नव-भार्या । लज्जावत्या तया 'आर्यपुत्रा प्रमाणम्' इति कथयन्त्या पति-वचन सानन्द स्वीकृतम्। 'न कुत्रापि मन्त्रभेद. कर्त्तव्य' इति प्रतिश्रुत द्वाभ्याम्। एव नानाविधालापसलापासक्तयो जम्पत्यो अतिक्रान्ता स्तोका दिवसा । बहु अवशिष्ट कार्यमिति स्मरता रत्नेन शीघ्रमेव निज-देश-गमन निश्चितम्। सुअवसर प्राप्य सविनम श्वसुरपादा निवेदिता । पुनःप्रत्यावलनसमीह ज्ञात्वा जामातर क्षुब्ध (उद्विग्न) जात नृपस्य चित्तम् । अत्ता (श्वश्रू) तु अतीव आर्ता दुहितृविरहतप्ता उच्चेतस्त्व प्राप्ता।

च पत्ता । हरे ! एआरिसी का तुरा ? किमेत्थ पईव[1] ? कहमुव्विग्गो जामायर-मणो ? आहूओ णिअ-पासायम्मि ससिणेह अत्ताए पुत्तसमाणो जामाया । साणुरोह कहेउमाढत्ता—"दे जामायर ! ण कह जीहिआ[2] होइ दे जोहा गच्छेमि'त्ति कहेती ? एआरिसी हलिद्दा-राय-सरिच्छा तुह पीई ! सपइ च्चिअ विवाह-कज्ज समत्त, ण तस्स खेओ अहुणावहि उत्तरिओ, कह गमण-पउत्ती पयालिआ तुमए । धी ! धी ! कि पवासूण सोहद ? को तेसि वीसासो ? को तेसि सबधो ? एमेव उत्तम्मइ तेहिं सद्धि मेत्ति जोएतो[3] । णो, ण सपइ गमण-सबधिअ एगक्खरमवि जपिअव्व, पच्छा जहा-समय सय वयं तम्मि विसयम्मि चितिस्सामु'त्ति साहेमाणी सासू असुजलाउल-लोअणा जाया ।

"णाह एत्थ संपइ चिराएउ खमोम्हि । पुव्वमेव मे कालाइवट्टण जाय कय-णिच्छयाऽणुसारेण । अत्थि मे तत्थ अच्चतमावस्सय किच्च । अपत्ते मई विणट्ठ होइ त सयल, तम्हा किवाए मे एगागिणो पच्चावलणमणुमोइअव्व सपइ । पच्छा जहाकाल पुणरवि अहमेत्थ सयराहमेव आगमिस्स" पयडिअ सदविक्खण्णं रयणेण ।

एगागिणो गमण 'ति सुणिऊण राया अईव जूरिओ' जाओ । को वीसभो पवासिणो, कया पच्छा आगच्छेज्ज ? पउत्थस्स[4] का भाव-परिणई होइ 'त्ति केण णज्जइ ?

१ प्रतीपम् २ लज्जिता । लस्जेर्जीहः (है० ४-१०३) ३ उत्ताम्यति खिन्नो

हरे ! एतादृशी का त्वरा ? किमत्र प्रतीपम् ? कथ उद्विग्न जामातृ-मन ? आहूत निजप्रासादे सस्नेह स्वश्रूवा पुत्रममान जामाता सानुरोध कथयितु आरब्धा—"हे जामात ! न कथ लज्जिता भवति तव जिह्वा गच्छामि इति कथयन्ती ? एतादृशी हरिद्राराग-सदृशा तव प्रीति ? सम्प्रति एव विवाह-कार्य समाप्त, न तस्य खेद अधुना-वधि उत्तीर्ण, कथ गमनप्रवृत्ति प्रचालिता त्वया ? धिग् ! धिग् ! किं प्रवासिना सौहृदम् ? कस्तेषा विश्वास ? कस्तेषा सम्बन्ध ? एवमेव उत्ताम्यति तै सार्ध मैत्री योजयन्। नो, न सम्प्रति गमन-सम्बन्धिक एकाक्षरमपि जल्पितव्य, पश्चात् यथासमय स्वय वय तस्मिन् विषये चिन्तयिष्याम" इति कथयन्ती स्वश्रू अश्रुजलाकुल-लोचना जाता।

"नाह अत्र सम्प्रति विरमयितु क्षमोऽस्मि। पूर्वमेव मे कालाति-वर्तन जात कृतनिश्चयानुसारेण। अस्ति मे तत्र अत्यन्त आवश्यक कृत्यम्। अप्राप्ते मयि विनष्ट भवति तत् सकलम्। तस्मात् कृपया मे एकाकिन प्रत्यावलन अनुमोदितव्य सम्प्रति। पश्चाद् यथाकाल पुनरपि अह अत्र शीघ्रमेव आगमिष्यामि" प्रकटित सदाक्षिण्य रत्नेन।

'एकाकिन गमनम्' इति श्रुत्वा राजा अतीव खिन्नो जात। क विश्रम्भ प्रवासिन, कदा पश्चात् आगच्छेत् ? प्रोषितस्य का भाव-परिणति भवति इति केन ज्ञायते ? प्रोषितपतिकाया रत्नवत्या का

पउत्थ-पइआए[1] रयणवईए का चिंतणिज्जा ठिई जायए पच्छा ? एवं भविस्स-दक्खेण भूवइणा पज्जरिअं[2]—"जामायर! साहु णिच्छिअ गतव्व। तत्थ वि एगागिणा गतव्व 'ति बहुसाहु णिच्छिअ। सच्च खु आभाणगमिणं[3] जं "परे किर पराअंति णिआ जेव्व[4] णिआयंति" ण एत्थ संदेहो। जइ गतव्व ता गच्छउ सुहेण, को पडिसेहइ, परमीसिकाल जाव चिट्ठिअव्व, इअ अम्हाण समीहा। एगागिगमण-समीहा तु णिअंतं हस्सपयं[5]। पउत्थ-पइआए जुवईए का अवत्था हवइ 'त्ति ण विहाविअ तुमए। छज्जए किर घणाघणेण सम सोआमणी[6]। तहा पइणा सद्धिं रेहए णिच्चमेगपत्ती[7]। खेत्तिअ विणा खेत्त-भूमी इव, मालागार विणा पुप्फवाडी व ण रायइ दइअ-विरहिआ अण्णासया विलया। अक्खिकट-गायति छोक्करीओ[8] सच्छंद पिउहर चिर चिट्ठमाणीओ। ता भज्जा-बिइएण च्चेव तुमए वच्चणिज्ज 'ति णे[9] मय[10]। जहा अम्हाण कत्तव्व-भारो लहुओ सिआ। इअरहा तुम्हे तत्थ, अम्हे एत्थ णिरंतर चिंता-दूमिअ-हिअया चिट्ठिहामो। इत्थ सुट्ठु बोहिओ वि रयणवालो ण कहमवि णिअ भज्ज सह णेउ तप्परो जाओ।

राय-राणीपभिइणो एत्थ अलद्धपडिआरा किमणुचिट्ठि-अव्व ति उत्तरया जाया, ताव एगो कोइ विविह-जंत-मंत-तंत-विसारओ परिणयवयो झडिलो[11] अलक्खिओ कुओवि आवडिओ। सपत्तीएण रण्णा सविणय वंदिओ,जहोइअ पूइओ

---

१ प्रोषितपतिकाया २ कथितम् ३ आभाणकम्— कहावत (इतिभाषा) ४ एव ५ हास्यपदम् ६ सौदामिनी विद्युत् ७ एकपत्नी सुचरित्रा ८ (दे०) कन्या

चिन्तनीया स्थितिः जायते पश्चात्? एवं भविष्य-दर्शिना भूपतिना कथितम्—"जामातः! साधु निश्चितं गन्तव्यम्। तथापि एकाकिना गन्तव्यमिति बहुसाधु निश्चितम्। सत्यं खलु आभाणक इदं यत् 'परे किल परायन्ते निजा एव निजायन्ते' न अत्र सन्देहः। यदि गन्तव्यं तदा गच्छतु सुखेन, न प्रतिषेधति, परं इयत्कालं यावत् स्थातव्यं इति अस्माकं समीहा। एकाकि-गमन-समीहा तु नितान्तं हास्यपदम्। प्रोषितपतिकायाः युवत्याः का अवस्था भवति इति न विभावितं त्वया? शोभते किल घनाघनेन सह सौदामिनी। तथा पत्या सार्धं शोभते नित्यं एकपत्नी। क्षेत्रिकं विना क्षेत्रभूमिः इव, *मालाकारं विना पुष्पवाटी इव न राजते दयित-विरहिता अनाश्रया* वनिता। अक्षिवर्त्मायन्ते छोवकरीओ (कन्याः) स्वच्छन्दं पितृगृहे चिरं तिष्ठन्त्यः। तत् भार्या-द्वितीयेन एव त्वया व्रजनीयं इति अस्माकं मतम्। यथा अस्माकं कर्तव्यभारः लघुकः स्यात्। इतरथा भूप तत्र, वयं अत्र निरन्तरं चिन्ताकुलहृदयाः स्थास्याम। इत्थं सुष्ठु बोधितोऽपि रत्नपालो न कथमपि निजां भार्यां सह नेतुं तत्परो जातः।

राजराज्ञीप्रभृतयः अत्र अलब्ध-प्रतीकाराः किं अनुष्ठातव्यमिति उत्त्रस्ता जाताः तावत् एव कोऽपि विविध-यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र-विशारदः परिणतवयाः जटिलः अलक्षितं कुतोऽपि आपतितः। सपरिवारेण राज्ञा सविनयं वन्दितः, यथोचितं पूजितः स निर्भरं प्रसन्नमनाः जातः।

---

९ येन अस्माकम् १० मतम् ११ जटिल । जटिले जोझो वा (हे० १-१२४)।

पउत्थ-पइआए[1] रयणवईए का चिंतणिज्जा ठिई जायए पच्छा ? एवं भविस्स-दक्खेण भूवइणा पज्जरिअ[2]—"जामायर! साहु णिच्छिअ गतव्व। तत्थ वि एगागिणा गतव्व 'ति बहुसाहु णिच्छिअ। सच्च खु आभाणगमिण[3] ज "परे किर पराअति णिआ जेव्व[4] णिआयंति" ण एत्थ सदेहो। जइ गतव्व ता गच्छउ सुहेण, को पडिसेहइ, परमीसिकाल जाव चिट्ठिअव्व, इअ अम्हाण समीहा। एगागिगमण-समीहा तु णिअत हस्सपय[5]। पउत्थ-पइआए जुवईए का अवत्था हवइ 'त्ति ण विहाविअ तुमए। छज्जए किर घणाघणेण सम सोआमणी[6]। तहा पइणा सद्धि रेहए णिच्चमेगपत्ती[7]। खेत्तिअ विणा खेत्त-भूमी इव, मालागार विणा पुप्फवाडी व ण रायइ दइअ-विरहिआ अण्णासया विलया। अक्खिकट-गायति छोक्करीओ[8] सच्छदं पिउहर चिर चिट्ठमाणीओ। ता भज्जा-विइएण च्चेव तुमए वच्चणिज्ज 'ति णे मय[9]। जहा अम्हाण कत्तव्व-भारो लहुओ सिआ। इअरहा तुम्हे तत्थ, अम्हे एत्थ णिरतर चिता-दूमिअ-हिअया चिट्ठिहामो। इत्थ सुट्ठु बोहिओ वि रयणवालो ण कहमवि णिअ भज्ज सह णेउ तप्परो जाओ।

राय-राणीपभिइणो एत्थ अलद्धपडिआरा किमणुचिट्ठि-अव्व ति उत्तत्था जाया, ताव एगो कोइ विविह-जत-मत-तत-विसारओ परिणयवयो अडिलो[10] अलक्खिओ कुओवि आवडिओ। सपत्तीएण रण्णा सविणय वदिओ, जहोइअ पूइओ

१ प्रोषितपतिकाया २ कथितम् ३ आभाणकम्— कहावत (इतिभाषा) ४ एव ५ हास्यपदम् ६ सौदामिनी विद्युत् ७ एकपत्नी-सुचरित्रा ८ (८०) कन्या,

चिन्तनीया स्थिति जायते पश्चात् ? एव भविष्य दक्षेण भूपतिना कथितम्—"जामात । साधु निश्चित गन्तव्यम्। तत्रापि एकाकिना गन्तव्यमिति वहुसाधु निश्चितम्। सत्य खलु आभाणक इद यत् 'परे किल परायन्ते निजा एव निजायन्ते न अत्र सन्देह । यदि गन्तव्य तदा गच्छतु सुखेन व प्रतिषेधति, पर ईपत्काल यावत् स्थातव्य इति अस्माक समीहा। एकाकि-गमन-समीहा तु नितान्त हास्यपदम्। प्रोषितपतिकाया युवत्या का अवस्था भवति इति न विभावित त्वया ? शोभते किल घनाघनेन सम सौदामिनी। तथा पत्या साध शोभते नित्य एकपत्नी। क्षत्रिक विना क्षेत्रभूमि इव, मालाकार विना पुष्पवाटी इव न राजते दयित-विरहिता अन्याश्रया वनिता। अक्षिवण्टवायन्त छोक्करीओ (कन्या) स्वच्छन्द पितृगृह चिर तिष्ठन्त्य। तत भार्या-द्वितीयेन एव त्वया व्रजनीय इति अस्माक मतम्। यथा अस्माक वर्त्तव्यभार लघुक स्यात्। इतरथा यूय तत्र, वय अत्र निरन्तर चिन्तादूनहृदया स्थास्याम। इत्थ सुष्ठु बोधितोऽपि रत्नपालो न कथमपि निजा भार्या सह नेतु तत्परो जात।

राज राज्ञीप्रभृतय अत्र अलब्ध-प्रतीकारा किं अनुष्ठातव्यमिति उन्मनस्का जाता तावत एव कोऽपि विविध-यन्त्र-मन्त्र तन्त्र-विशारद नरिणतवया जटिल अलक्षित कुतोऽपि आपतित। सपरिक्षेम राज्ञा सविनय वन्दित, यथोचित पूजित स निभर प्रसन्नमना जात।

९ णेन अस्माकम् १० मतम् ११ जटिल। जटिले जोमो वा (हे० १-१९४)।

सो णिब्भरं पसण्णमणो जाओ। आइग्गं मिलाणमुहपंकजं णिव णिहालिअ तेण तक्कालमणुजोइअं—"णरेस ! कहमज्ज हिमाणीहयं पिव लक्खिज्जइ ते वयण-कमलं ? किमेआरिस अंतस्सल्ल विज्जए तुह मणोगय ? जइ अत्थि पाउक्करणिज्ज ता कहसु, जहा कोइ तज्जुग्गो पडिआरो गवेसिउ सक्किज्जइ अम्हारिसेहिं"।

"किं वागरणेण भंते ! नत्थि णूणमेत्थं कोइ उवाओ दिट्ठिपहमोअरइ। हा ! अविहाविअं जायए"। उइण्णं सखेअं णरिंदेण।

"तहवि सुस्सूसा मे जइ ण विज्जए गुज्झ" पुणरवि जिण्णासिअं झडिलेण।

महप्पाणमभिमुह किं गुज्झं गोवणिज्जं 'ति णिवेण एगागिगमणुच्छुअस्स दुहिआपइणो सव्वो वइअरो फुडीकओ। ण एत्थ बलप्पओगो उइओ। कहं पुत्ती णेण सद्धिं पेसविज्जइ 'त्ति महई चिंता।

"किमत्थि णिरुवायं जइ करिज्जइ कज्जं सवक्खिण्ण" पुणरुच्चारिअ जोगिणा।

"होहिमो अम्हे साणुग्गहा जइ कोइ मग्गो एत्थ णिदसिज्जइ किवालुणा भदंतेण" साहिअं उक्कंठिरेण खिइ-रक्खेण, दुक्कत्ताए।

"इत्थिआ-रूवत्तो जइ पुरिसरूवम्मि परावट्टिज्जइ रयणवई तहाविहा पट्ठविज्जइ णिअ-भत्तारेण सद्धिं णिअ

सो णिब्भरं पसण्णमणो जाओ। आइग्गं मिलाणमुहपंकज्जं णिव णिहालिअ तेण तक्कालमणुजोइअं—"णरेस ! कहमज्ज हिमाणीहयं पिव लक्खिज्जइ ते वयण-कमलं ? किमेआरिस अंतस्सल्लं विज्जए तुह मणोगयं ? जइ अत्थि पाउक्करणिज्जं ता कहसु, जहा कोइ तज्जुग्गो पडिआरो गवेसिउं सक्किज्जइ अम्हारिसेहिं" ।

"किं वागरणेण भंते ! नत्थि णूणमेत्थ कोइ उवाओ दिट्ठिपहमोअरइ। हा ! अविहाविअं जायए" ! उइण्णं मसेअं णरिंदेण ।

"तहवि सुस्सूसा मे जइ ण विज्जए गुज्झ" पुणरवि जिण्णासिअं झडिलेण ।

महप्पाणमभिमुहं किं गुज्झं गोवणिज्जं 'ति णिवेए एगागिमणुचिट्ठअस्स दुहिआवइणो गव्वो वइअरो फुडीकओ। ण एत्थ बलप्पओगो उइओ। कहं पुत्ती णेण सद्धिं पेसविज्जइ 'त्ति महई चिंता ।

"किमत्थि णिरुवायं जइ कज्जिज्जइ कज्जं सदगिराणं" पुणरच्चारिअ जोगिणा ।

"होहिमो अम्हे माणुग्गहा जइ कोइ मग्गो एत्थ णिदसिज्जइ वियालुणा भदंतेण" माहिअं उवाठिरेण णिर-मवरेण इवराए ।

दीय कार्यं साधित भवेत् ?" प्रवेदित निजशक्ति-निदर्शन-तत्परेण योगिना।

"किं अन्यद् युज्यते यदि एव भवितु शक्येत ? दर्शनीय एतादृश यौगिक-विद्या-चमत्कार परोपकृति-पण्डितेन मुनिना। नून वय कृतार्था भविष्याम।" इति विज्ञप्त साकाङ्क्ष जटिलमुखाकृति पश्यता प्रजापतिना।

"किं मुधा गमितानि इयन्ति वर्षाणि मया वन अटता, मौन-माचरता च यदि अह ईदृश क्षुद्र कार्यमपि न साधयितु शक्नोमि" सूचित साभिमान तपोधनेन।

तत्क्षण आहूता अनेन दुहिता स्वसमीपम्। निष्कासित झोलि-कात जटिकायुगलम्। तस्या एकस्या सविधिप्रयोगेण वनिता नरत्व आपद्यते। द्वितीयाया प्रयोगेण पुनरपि सद्भाव आराधयति सा। कृत प्राथमिक्या प्रयोग तत्कालम्। राउलयोगिरूपे रत्नवती तत्क्षण परिवर्तन प्राप्ता। खलु मणिमन्त्रौषधीना अचिन्तनीय प्रभाव' इति यथार्था उक्ति साक्षात् सत्यापिता सर्व। धारित काषाय कौशेय दीर्घ उत्तरीय राउलेन। आजानुलम्बायमाना शिथिला स्कन्धदेशमारो-पिता मनोहरा काषायी कन्था। उत्तमाङ्गेऽपि स्थापिता राउल-मतानुरूपा फटाटोप वर्जिता टोपिका। हस्तयो गृहीता नाना-मधुर-स्वरालाप-मधुरा नवीना वीणा। अन्याभि अपि सर्वाभि

देस तया ण किं अम्हेकर कज्ज साहिअ भवेज्ज ?" पवेइअं णिअ-सत्ति-णिरसण-तप्परेण जोडणा।

किमण्ण जुप्पइ[1] जइ एव भविउ सक्केज्ज ? दसणिज्जो एआरिसो जोगिअ-विज्जा-चमक्कारो परोवगिइ-पडिएण मुणिणा। णूणमम्हे कयत्था होस्सामु'त्ति विण्णत्त साकय जडिल-मुहागिइ जोअमाणेण पयावइणा।

"किं मोरउल्ला गमिआणि एद्दहाणि वासाणि मए वणमडमाणेण, मोणमायरमाणेण य जइ ह ईइस खुल्ल कज्जपि ण साहिउ[2] सक्केमि" सूइअ साहिमाण *तबोधणेण*।

तक्खणं आहूआ णेण दुहिआ ससमीव। णिक्कासिअ झोलिआओ जडिआजुअल। ताए एगाए सविहिप्पओगेण विलया *णरत्तणमावज्जइ, बीआए पओगेण पुणरवि सब्भाव*-माराहेइ सा। कओ पढमिल्लाए पओगो तक्काल। राउल-जोइम्मि रयणवई तक्खणं परिवट्टूण पत्ता। 'खलु मणिमन्तोसहीण अचिंतणिज्जो पहावो' त्ति जहत्था उत्ती समग्ग गन्नाविआ सव्वेहि। धाम्मिअं बाभाडअ कोमिज्ज धिप्पिर उत्तरिज्ज राउलेण। आजाणुलंबायमाणी मिडिला खधदेसमारोविआ मणोहरा रासाडया मया। उत्तम-गम्मि वि ठविआ राउलमयाणुरूवा पट्टाडोव-पज्जिआ टोपिआ[3]। हत्थेसु गहिआ णाणामहुर-सरालाव-महुरा पवीणा वीणा। अण्णाहि वि मव्वाहि तज्जुग्गनामग्गीहि

---

१ जुगुप्स 'जुगुच्छ-दुगुच्छ-दुगुंछाः' (हे० ४ १०६) इत्यनेन। २ साधयितुम्
३ बोधयन् '...' (देशिभाषा)। ४ ...

दीय कार्यं साधित भवेत् ?" प्रवेदित निजशक्ति-निदर्शन-तत्परेण योगिना ।

"किं अन्यद् युज्यते यदि एव भवितु शक्येत ? दर्शनीय एतादृश यौगिक-विद्या-चमत्कार परोपकृति-पण्डितेन मुनिना । नून वय कृतार्था भविष्याम ।" इति विज्ञप्त साकाङ्क्ष जटिलमुखाकृति पश्यता प्रजापतिना ।

"किं मुधा गमितानि इयन्ति वर्षाणि मया वन अटता, मौन-माचरता च यदि अह ईदृश क्षुद्र कार्यमपि न साधयितु शक्नोमि" सूचित साभिमान तपोधनेन ।

तत्क्षण आहूता अनेन दुहिता स्वसमीपम् । निष्कासित झोलि-कात जटिकायुगलम् । तस्या एकस्या मविधिप्रयोगेण वनिता नरत्व आपद्यते । द्वितीयाया प्रयोगेण पुनरपि सद्भाव आराधयति सा । कृत प्राथमिकया प्रयोग तत्कालम् । राउलयोगिरूपे रत्नवती तत्क्षण परिवर्तन प्राप्ता । खलु मणिमन्त्रौषधीना अचिन्तनीय प्रभाव ' इति यथार्था उक्ति साक्षात् सत्यापिता सर्वे । धारित काषाय कौशेय दीप्र उत्तरीय राउलेन । आजानुलम्बायमाना शिथिला स्कन्धदेशमारो-पिता मनोहरा काषायी कन्था । उत्तमाङ्गेऽपि स्थापिता राउल-मतानुरूपा फटाटोप-वर्जिता टोपिका । हस्तयो गृहीता नाना-मधुर-स्वरालाप-मधुरा नवीना वीणा । अन्याभि अपि सर्वाभि

विहूसिओ सो अईव सूहवो सव्वेहिं सच्छरिज्जं पुलइअव्वो-जाओ।

पुणरवि समयण्णूणा णिवेण पासायम्मि णिमंतिओ जामाया, सूइयं पुण इत्थं–"जामाय! कयेवि अग्गहे ण एत्थ तुह ठाउं समीहा, ण उण णिअं भज्जं सह णेउं। किं वलं चलइ अम्ह जामायरस्सुवरिं। सिढिलिअ-सिणेहाणं पउत्थाणं दीवंतरगयाणं को वीसंभो पच्चावलणस्स। तस्स संभारणट्ठं एगो अम्हकेरो महादक्खो वालजोई रयणवईए बाल-सहअरो तुमए सद्धिं पट्ठविज्जइ अम्हेहिं। सो जहा समयं ससुराल-यस्स सइं[1] कारावेंतो पुणरागमणपेरणं व देंतो चिट्ठिस्सइ। अम्हेच्चयं माणसमवि निब्भरं भरिअं आसा-विअंभिअं वट्टिस्सइ।

"आम, अइ सोहणमिणं। साहुवी जोअणा घडिआ। ण एत्थ कस्सइ काइ बाहा।" साहिअं पडिवण्ण-भावणा-पूरिएण सरेण रयणेण।

इओ अ अब्भुअ-मुहच्छवी-मोहणो पच्चक्खं इंगिआगार[1]-लक्खिज्जमाणचाउज्जो वालो वि पसंत[2]-णित्तणीलुप्पलो किमवि जवंतो व ईसिप्फुरिअ-अहरुट्ठो गीवा-ठविअ-रुद्दक्खमालो तत्थेव आगओ राउलो। सव्वेसिं ससम्माण लद्धप्पणामो उइयासणम्मि अच्छिओ। तं णिरक्खिऊण रयणवालो रोमंच-कंचुइओ विम्हय-सेराणणो भूओ। अव्वो! ललिए वालकालेवि कहमेसो लद्धवेरग्गो? धण्णा अस्स

---

१ प्रेरितम्यः। यथा—मच्चविअ-दिट्ठ-मुणइअ-णिअणिप्पाद–

तद्योग्य-सामग्रीभि विभूषित स अतीव सुभग सर्वैं सारचर्यं प्रेक्षितव्य जात ।

पुनरपि समयज्ञेन नृपेण प्रासादे निमन्त्रित जामाता, सूचित पुनरित्थ—"जामात ! कृतेऽपि आग्रहे न अत्र तव स्थातु समीहा, त पुन निजा भार्या सह नेतुम् । किं बल चलति अस्माक जामातु उपरि ! शिथिलित-स्नेहाना प्रोषिताना द्वीपान्तर-गताना क विश्रम्भ प्रत्यावलनस्य । तस्य स्मारणार्थं एक अस्मदीयो महादक्षो बालयोगी रत्नवत्या बालसहचर त्वया सार्धं प्रस्थाप्यते अस्माभि । स यथासमय श्वसुरालयस्य स्मृति कारयन् पुनरागमन-प्ररणा च ददत् स्थास्यति । अस्माक मानसमपि निर्भर भरित आशा-विजृम्भित वर्त्स्यति ।"

"आम् अतिशोभनमिदम् । साध्वी योजना घटिता । न अत्र कस्यापि कापि बाधा ।" कथित प्रतिपन्न-भावना-पूरितेन स्वरेण रत्नेन ।

इतश्च अद्‌भुत-मुखच्छवि-मोहन प्रत्यक्ष इङ्गिताकार-लक्ष्यमाण-चातुर्यं बालोऽपि प्रशान्त-नेत्रनीलोत्पल किमपि जपन् इव ईषत्-स्फुरिताधरोष्ठ ग्रीवा-स्थापित रुद्राक्षमाल तत्रैव आगत राउल । सर्वैः ससम्मान लब्धप्रणाम उचितासने आसित । त निरीक्ष्य रत्नपालो रोमाञ्चकञ्चुकितो विस्मय-स्मेराननो भूत । अव्वो ! ललिते बालकालेऽपि कथ एष लब्ध-वैराग्य ? धन्या अस्य मातर-

निहालिअऽथम्मि (पाइय० १३५) २ स्मृतिम् ३ इङ्गिताकारलक्ष्यमाणचातुर्यं । ४ प्रशान्तनेत्रनीलोत्पल ।

मायरपिअरा जेसि कुलम्मि एआरिसो होतजोइओ वमुद्धारकारगो पुत्तो समुप्पण्णो।

"किं भे विरत्तिकारण कीला-विलसिअम्मि अणाणूअ-जगववहारम्मि वल्लम्मि[1] ? अच्छरिज्जमिणं कह विच्छड्डिओ वधूण सिणेहो ? हरे ! लोगुत्तर कज्जमिण ?" जिण्णासिअ रयणवालेण।

"पइपय वेरग्ग समुज्जिभइ जइ जोएइ जणो जागरूआए दिट्ठीए। एत्थ-गय किं थिर 'ति ण कह विहाविज्जइ जगजीवेहि ? गोसे[2] पवोसे[3] वा धम्म करिस्स 'ति कहण मूढया-विलसिअ। किं णागमुग्धोसणा कण्णगया ? जहा—

"जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख, जस्स वत्थि पलायण।
जो जाणे ण मरिस्सामि, सें हु कखे सुवे सिआ।।"

एव भणमाणो राउलो णिमीलिअ-णयणो झाण गओ। सदमाण—सतरस अस्स सोम्म मुहमुह णिहालेतो रयणवालो पभाविओ जाओ।

एत्थतरम्मि सज्जीकय णेण वोहित्थ। सदेस-दुल्लह एत्थ सुलह भडं किणिऊण तम्मि णिवेसिअ। पट्टाण-दिण णिच्छिअ। ववहार-महुरिमाए अस्स अणेगे जणा सगया जाया। सव्वेसि णायराण पीइभायण जाओ एसो। मुणिऊण पच्चावलण-तप्परमेय सव्वेवि ते साहद दक्खवेंता अस्सुवाण्ठ समागच्छति। जिविह-पउत्तीहि एय पससेंता, पच्छा गया सम्मेलण हाहि 'त्ति भणेना, मुहागिरीहि गेअ मूअयति।

---

१ वाल्ये। २ गोस—प्रभातम् (दे०) ३ प्रदोष -सायम्।

पितर येपा कुले एतादृश भविष्यद्-योगिक वशोद्धारकारक पुत्र समुत्पन्न ।"

'किं भवत विरक्तिकारण क्रीडाविलसिते अननुभूत-जगद्-व्यवहारे बाल्ये ? आश्चर्यमिदम् ! कथ त्यक्त बन्धूना स्नेह ? हरे ! लोकोत्तर कार्यमिदम् ?" जिज्ञासित रत्नपालेन ।

प्रतिपद वैराग्य समुज्जृम्भते यदि पश्यति जन जागरूकया दृष्ट्या । अत्रगत किं स्थिर इति न कथ विभाव्यते जगज्जीवै । 'गोसे (प्रभाते) प्रदोषे वा धर्म करिष्यामि' इति कथन मूढता-विलसितम् । किं न आगमोद्घोषणा कर्णगता ? यथा—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख जस्स वत्थि पलायण ।
जो जाणे ण मरिस्सामि से हु कखे सुवे सिआ ॥

एव भणन् राउलो निमीलितनयनो ध्यान गत । स्यन्दमान-शान्तरसा अस्य सौम्या मुखमुद्रा निभालयन् रत्नपाल प्रभावितो जात ।

अत्रान्तरे सज्जीकृत अनेन बोहित्थम् । स्वदेशदुर्लभ अत्र सुलभ भण्ड क्रीत्वा तस्मिन् निवशितम् । प्रस्थानदिन निश्चितम् । व्यवहार-मधुरिम्णा अस्य अनेके जना सङ्गता जाता । सर्वेषा नागराणा प्रीतिभाजन जात एष । ज्ञात्वा प्रत्यावलन-तत्पर एत सर्वेऽपि ते सौहृद दर्शयन्त अस्योपकण्ठ समागच्छन्ति । विविध प्रवृत्तिभि एत प्रशसन्त पश्चात् कदा सम्मेलन भविष्यति' इति भणन्त मुखाकृतिभि

तत्थ गएणावि भवया कयाइ अम्ह संभरणं कायव्वं 'ति पुणो पुणो उईरयंति च । रयणवालो वि सव्वेसिं तेसिमाभारमंगीकरेतो कयंजली उवचिट्ठइ । सव्वेसिं जायगाणं तत्थगय-भिच्चाणं पुण जहोचिअ-विअरणेण एसो तुट्ठि मुप्पावेइ ।

आगयं रयणवालस्स पच्चावलण-दिणं । इओ य सज्जा-हवइ पट्ठाउं राउलरूवा रयणवई । आइग्गं जायं अम्मापिअराण हिअयं । बाहुल्लणयणा जायए वारं वारं परम-पेम्म-पोसिआ दारिआ । परिचिअं संसारं जहाय गंतव्वमपरिचिअ-पुव्वं ससुरालयं[1] । केरिसो कडुमहुरो ववहारो तत्थ होहि 'त्ति णाणा-संकप्पपरो मणो । जम्मसंगयाणं सव्वाणं विरहो उव्वेलेइ हिअय-समुद्दं ताए । उच्छंगीकाऊण पुत्तिअं माया अंसूहिं इमं सिणावेमाणी सिक्खेउं पउत्ता—"पिअदुहिआ ! दुहिआ[2] अम्हे सव्वेवि अज्ज ते विरहेण । किमवि महामुल्लं वत्थुजायं अम्हत्तो दूरिअं हवइ 'त्ति खिण्णं मणो चित्तं । किं वलं ! परगेह-गामणीओ दुहिआओ 'त्ति फुडा किंवदंती । सुहं वच्चसु तणुआ ! धुवं सोहग्गं तुह हवउ । णिच्चं णिरामया चिट्ठउ जुअलस्स तणू । खारसमुद्दं वच्चंतु तुम्ह सव्वपीलाओ । दारिआ ! णव्वो पएसो । सव्वेवि अलक्खिअ-सहावा जणा तत्थ । अणणुहूआ सज्जुवक्का कज्जप्पणाली । तत्थ बहु-दक्खयाए तुमए होअव्वं । राय पुत्तिया हं कहं कज्जं करेमि 'त्ति ण चिंतणिज्जं । कज्ज-

---

१ पुं० म० २ दुःखिताः

खेद सूचयन्ति, 'तत्रगतेनाऽपि भवता कदापि अस्माक स्मरण कर्त्तव्य' इति पुन पुन उदीरयन्ति च। रत्नपालोऽपि सर्वेषा तेषा आभार अङ्गीकुर्वन् कृताञ्जलि उपतिष्ठते। सर्वेषा याचकाना तत्रगत-भृत्याना पुन यथोचित-वितरणेन एव तुष्टि उत्पादयति।

आगत रत्नपालस्य प्रत्यावलन-दिनम्। इतश्च सज्जा भवति प्रस्थातु राउलरूपा रत्नवती। उद्विग्न जात मातरपित्रो हृदयम्। वाष्पार्द्रनयना जायते वार वार परम-प्रेम-पोषिता दारिका। परिचित ससार हित्वा गन्तव्य अपरिचितपूर्व श्वसुरालयम्। कीदृश कटु-मधुरो व्यवहार तत्र भविष्यति इति नाना सङ्कल्पपर मन। जन्मसङ्गताना सर्वेषा विरह उद्वेलयति हृदय-समुद्र तस्या। उत्सङ्गीकृत्य पुत्रिका माता अश्रुभि इमा स्नपयन्ती शिक्षयितु प्रवृत्ता—"प्रियदुहित! दुखिता वय सर्वेऽपि अद्य तव विरहेण। किमपि महामूल्य वस्तुजात अस्मत्त दूरित भवतीति खिन्न मन्ये चित्तम्। कि बलम्? 'परगेह-गामिन्यो दुहितर' इति स्फुटा किंवदन्ती। सुख व्रज तनुजे! ध्रुव सौभाग्य तव भवतु। नित्य निरामया तिष्ठतु युगलस्य तनू। क्षार-समुद्र व्रजन्तु तव सर्वपीडा! दारिके! नव्य प्रदेश। सर्वेऽपि अलक्षित-स्वभावा जना तत्र। अननुभूता सचरवा कार्यप्रणाली। तत्र बहुदक्षतया त्वया भवितव्यम्। 'राजपुत्रिकाऽह कथ कार्य करोमि'

प्पहाणा पिअया सव्वत्थ ण केवलं कुल-रूव-प्पहाणा । परेहिं अणट्ठमक्कोसिआ वि तुमं सहिरी[1] भवेज्जा । रेहंति खु सहिरिआओ कुलवहूआओ कामं । कायव्वा सविणयं सासू-ससूराण सुस्सूसा । जारिसा अम्हे तारिसा तप्पक्खिआ तुहकए तेवि । अणुऊलिअव्वं पिअयमस्स दक्खयाए चित्तं । फरुसो सरसो वि सद्दो पणइणो समये सहिअव्वो सधिज्जं । अण्णहा ण चलइ जेट्ठासमो तितिणिअ[2]-सहावाणं । अंगआ ! पर-मण-विजयिरी ताहे तुमं होहिसि जाहे सयं मणंसिणी भाविणी । वत्थालंकार-रूव-लाअण्णाईणं आगरिसणं तु एगया दिट्ठि-पह-पडिअं खणिअं होइ, परंतु णिच्छल-महुर-ववहारस्स णिच्चं परिवड्ढिअ-प्पहावमागरिसणं सव्वाण-मुवरि सरिच्छ होइ । सुआ ! अत्थि अयं जीवण-संगामो । निवडंति अणेगे अणुऊल-पडिऊला पक्कमा । तत्थ भिसं भाविआ, पत्तिआ, रोइआ, धम्मिआ भावणा च्चिअ सामइअं संति पयाउं खमा । ता दुहिएण विव सुहिएणावि धुवं धम्मो आराहिअव्वो, तेण सित्ता पंफुल्लिआ जायइ समया-लया । फलेइ सा णिच्चं सुहंकराणि फलाणि । ता सासय सुहिओ धम्मिट्ठो ।" एवं सुवयणेहिं भिसं सिक्खिआ, णाणा-णिआणु-हवेहिं बोहिआ, उरसा गाढमालिंगिआ, सयं रुवेती अण्णे रुवावेती, रयणवई पवसिउं तप्परा जाया ।

इओ सज्जीहूअ आगओ जामाया ससुरपक्खिआणं-आसीसं घेउं । अत्ताए दत्ता जामायरस्स सुहाऽऽसीसा ।

---

१ सहिष्णुः २ तितिणिअ-स्वाभावानाम् (दे०) बड़बड़ाने वाले स्वभाव वाला (इतिभाषा) ।

इति न चिन्तनीयम् । कार्यप्रधाना प्रियता सर्वत्र न केवल कुल-रूप-प्रधाना । परैः अनर्थ आकृष्टाऽपि त्व सहिष्णुः भवेः । शोभन्ते किल सहिष्णुतया कुलवध्वः कामम् । कर्त्तव्या सविनय श्वश्रू-श्वसुराणा सुश्रूषा । यादृशा वय तादृशाः तत्पक्षिका तव कृते तेऽपि । अनुकूल-यितव्य प्रियतमस्य दक्षतया चित्तम् । परुषः सरोषोऽपि शब्दः प्रणयिनः समये सोढव्यः सधैर्यम् । अन्यथा न चलति ज्येष्ठाश्रमः तितिनिक-स्वभावानाम् । अङ्गजे ! परमनोविजेत्री तदा त्व भविष्यसि यदा स्वय मनस्विनी भाविनी । वस्त्रालङ्कार-रूप-लावण्यादीना आकर्षण तु एकदा दृष्टिपथ-पतित क्षणिक भवति, परन्तु निश्चलमधुर-व्यवहारस्य नित्य परिवर्धितप्रभाव आकर्षण सर्वथा उपरि सदृक्ष भवति । सुते ! अस्ति अय जीवनसग्राम । निपतन्ति अनेके अनुकूल-प्रतिकूला प्रक्रमा । तत्र भृश भाविता प्रत्ययिता रोचिता धार्मिकी भावना एव सामयिकी शान्ति प्रदातु क्षमा । तस्माद् दु खितेन इव सुखितेनापि ध्रुव धर्म. आराधयितव्य. । तेन सिक्ता प्रफुल्ला जायते समतालता । फलति सा नित्य शुभङ्कराणि फलानि । तस्माद् शाश्वत सुखितो धर्मिष्ठः ।" एव सुवचनै. भृश शिक्षिता नानानिजानु-भवैः बोधिता उरसा गाढ आलिङ्गिता स्वय रुदती अन्यान् रोदयन्ती रत्नवती प्रवस्तु तत्परा जाता ।

इत. सज्जीभूय आगतः जामाता श्वसुर-पाक्षिकाणा आशिष नेनुम् । अतया (श्वश्र्वा) दत्ता जामात्रे शुभाऽऽशी । सिद्ध कुर्वन्तु, शिवाः

सिद्ध' कुणंतु, सिवा भे पहा संतु 'त्ति सहरिसं सरोमुग्गमं सव्वेहिं साहिअं । राउलोवि तत्थेव आगओ । विगय-संतोवं अंतरंगम्मि होंतविरहेण विसण्णोवि उवरिम-भावेण सागंदं णिसण्णो रयणवालस्स समक्खं । सासूए साणुसयं साहिअं —'जामायरं ! अत्थि राउलो अम्ह पुत्तिआए अविइज्जओ सहयरो । रयणवई विव एसो तुम्हेहिं सुरक्खिअव्वो किं बहुकहणेण । अम्हेच्चयो अइप्पिओऽयं 'ति कहमाणी राणी रोत्तुमाढत्ता ।

ण एत्थ मणयमवि चिंता । इमं सव्वओ अणुऊलमिस्सं 'ति मे सच्चा पइण्णा । किं तुम्हकेरो एसो संपइ अम्हकेरो वि, इअ वुवाणेण रयणवालेण सहयरो इव आसिलिट्ठो राउलो अणाउलं । उप्पेहडा[1] निक्खंता तेसिं हत्थि-खंध-गयाणं पुरस्स मज्झं मज्झेणं पवासजत्ता । समुद्दतडपेरंतं रायप्पभिइणो सव्वेवि आगया जामायरं पडिवालित्तए । रण्णा दिण्णा अउल-संपया पोअम्मि णिवेसिआ । राउलेणा वि रूवपरावत्तणी-जडिआ-जुअलेण सहिअ आवस्सय-वत्थु-जाय-पूरिअ णवरमेगं पेडगं सह णीअं । रायाईणं कयप्पणामो मणम्मि परमेट्ठिपंचगं सरंतो राउलसहिओ जिणदत्तपुत्तो बोहित्थम्मि[2] णिविट्ठो । सव्वेसिं सुहमंगल-सद्देहिं सद्धिं सुमुहुत्तम्मि पडिचालिअं पवहणं । अणुलोम-पहंजण-पणुल्लिअं तुरिअ-तुरिअं वच्चमाणं तं णयणाऽगोअरं जायं । रायप्पमुहा

---

१ आडम्बरः । यथा—उप्पेहड, उद्दामर, उब्भड, आडम्बरिल्ल च (पाइ० ६०), २ पोते ।

युष्माक पन्थानः सन्तु, इति सहर्षं सरोमोद्गमं सर्वै कथितम्। राउलोऽपि तत्र आगतः। विगत-सङ्कोच अन्तरङ्गे भवद्विरहेण विषण्णोऽपि उपरितनभावेन सानन्द निषण्ण रत्नपालस्य समकक्षम्। श्वश्रवा सानुशय कथितम्—"जामातः! अस्ति राउलः अस्माक पुत्रिकाया. अद्वितीयः सहचरः। रत्नवती इव एष युष्माभि सुरक्षितव्य. किं बहुकथनेन ? अस्माकः अतिप्रिय अय इति कथयन्ती राज्ञी रोदितु आरब्धा।

"न अत्र मनागपि चिन्ता। इम सर्वत अनुकूलयिष्यामि इति मे सत्या प्रतिज्ञा। किं युष्मदीय एषः सम्प्रति अस्मदीयोऽपि", इति ब्रुवता रत्नपालेन सहचर इव आश्लिष्ट राउल अनाकुलम्। साडम्बरा निष्क्रान्ता तयो हस्तिस्कन्धगतयो. पुरस्य मध्य मध्येन प्रवास-यात्रा। समुद्रतटपर्यन्त राजप्रभृतयः सर्वेऽपि आगता. जामातर प्रतिवालयितुम्। राज्ञा दत्ता अतुला सम्पत् पोते निवेशिता। राउलेनाऽपि रूपपरावर्तन-जटिकायुगलेन सहित आवश्यकवस्तुजात-पूरित केवल एक पेटक सह नीतम्। राजादिभ्य कृत-प्रणाम मनसि परमेष्ठि-पञ्चक स्मरन् राउलसहित जिनदत्तपुत्रो बोहित्थे निविष्ट। सर्वेषा शुभ-मङ्गल-शब्दै सार्धं सुमुहूर्ते प्रतिचालित प्रवहणम्। अनुलोम-प्रभञ्जन-प्रेरित त्वरित त्वरित व्रजत् तत् नयनागोचर जातम्। राजप्रमुखा सर्वेऽपि परिजना गृता-

सव्वेवि परिअणा सुआ-विरहवुण्णा वि जहच्छिय-कज्ज-सपाडणेण पसत्तिमणुहवता णिअ णिअ ठाण पत्ता ।

इओ पेइअ-पक्ख-विरह-विहुरो हिअयम्मि अउल-वाउलत्तण वहंतो वि भत्तिगाण मिसेण बाह-विंदूइ मुचतो कह कहमवि भावसगोवण कुणमाणो, अणेगसूत्ति-पज्ज-गाहाहि विरह-रस-गहिरिम च णिदसेंतो, सव्वेसि मणाइ गग्गराइ विरअयइ वाहणत्थो राउलो ।

इअ सिरिचदणमुणि-विरइआए राउल रुवण
सहागमण-सखेम रयणवईवरण-पच्चा-
वलणाइभावेहि सोहिआए
रयणवालकहाए पचमो
उसासो समत्तो

विरहोद्विग्ना अपि यथेप्सित-कार्य-सम्पादनेन प्रसत्ति अनुभवन्तः निज निज स्थानं प्राप्ताः ।

इत. पैतृकपक्ष-विरह-विधुरः हृदये अतुल आकुल-व्याकुलत्वं वहन् अपि भक्तिगान-मिषेण बाष्पबिन्दून् मुञ्चन्, कथ कथमपि भावसङ्गोपन कुर्वन्, अनेक-सूक्ति-पद्य-गाथाभि विरह-रस-गाम्भीर्यं च निदर्शयन् सर्वेषा मनासि सद्गदानि विरचयति वाहनस्थो राउलः ।

इति श्री चन्दनमुनिविरचितायां राउलरूपेण सहागमन-
रक्षेम रत्नवतीवरण-प्रत्यावलनादिभावैः
शोभितायां रत्नपालकथायां
पञ्चमः उच्छ्वासः
समाप्त

६

छट्ठो ऊसासो



वण्णणाईआ विस्स-वेचित्ती। अविहावणिज्जा भवस्स भावणा। एत्थ किं सुह, किं दुह ? किं पिअ, किमप्पिअ ? के णिअया, के पारक्का ? अवाहित्तोवि एगत्तीहवइ मच्छिआ-णिउरवो जत्थेव दिट्ठि-पहं णिवडिआ गुड-पिंडलइया, तोअ-पडिपुण्णम्मि तडागम्मि सव्व-दिसासु तो सयमोअरति सउता[1]। अव्वो ! सत्थप्पहाण जग, ण उण परमत्थप्पहाण। हरे ! धवलमवि मुणिज्जमाण किच्चं किंचि अतरहिलास-कज्जलिअ। धण्णा ते तिचउरा पत्तट्ठा माणवा जगईए जेहिं कीरइ णिक्काम सेव्वा।

विढविऊण अउल सामिद्धि पलोट्टिओ[2] जिणदत्त-सुओ तरगमालि-तीरम्मि 'त्ति आयण्णिऊण पउरा, णयर-महत्तया,

---

१ सभुन्ता-पक्षिण २ प्रत्यागत 'प्रत्यादा पलोट्ट (हे० ४-१६६)

६

षष्ठः उच्छ्वास



वर्णनातीता विश्व-वैचित्री। अविभावनीया भवस्य भावना। अत्र किं सुखं, किं दुःखम् ? किं प्रियं, किमप्रियम् ? के निजका, के परकीया ? अव्याहृतोऽपि एकत्रीभवति मक्षिका-निकुरम्बो यत्रैव दृष्टिपथं निपतिता गुडपिण्डलिका। तोयप्रतिपूर्णे तडागे सर्वदिग्भ्य स्वयमवतरन्ति शकुन्ता। अव्वो! (आश्चर्य) स्वार्थ-प्रधानं जगत् न पुनः परमार्थ-प्रधानम्। हरे! धवलमपि ज्ञायमानं कृत्यं किञ्चित् अन्तरभिलाप-कज्जलितम्। धन्यास्ते विचतुरा प्राप्तार्था मानवा जगत्या यैः क्रियते निष्काम सेवा।

अर्जयित्वा अतुलां समृद्धिं प्रत्यागतो जिनदत्तसुतस्तरङ्गमालिनीरे इति आकर्ण्य प्रचुरा नगरमहत्त्वा, बान्धवश्च रणरणकं प्राप्ता

वधुणो य रणरणय[1] पत्ता । सव्वेवि ते समिलित्ता वोसट्ट-वयण-कमला वद्धावेउ रयणवाल उवपवहण अहिपच्चुइआ[2]। जय-विजय-सद्देहिं वद्धावेमाणा गुललिउ[3] पउत्ता—'पुत्त ! वारिवाह पिव चिर विरमालेमाणा तुम पइदिण अम्हेत्थ ट्ठिआ । अइजाओ[4] सुओसि तुम जिणदत्तस्स । उज्जल कय तुमए णामहेअ पिउपायस्स ।" अत्तरक्खिओवि ववहारट्ठ मम्मणोवि सपरिअर समागओ । रयणवालेणावि सव्वेवि सम्मुहमागया सुअणा साणद पणमिआ । तुम्हाण आसीसाहिं सव्व भव्व जाय । णिविग्घा मयरहर[5]-जत्ता सपण्णा । उत्ताग्गिअ वाहणाओ कसिणमवि भड, वत्थुजाय च । आडय-रिल्ला णयरम्मि णिग्गया[6] अस्स पडिणिग्गमण-जत्ता । समेहिं णायरेहिं पेम-पलोअणेहिं सभाविओ सम्माणिओ य राउल-वीओ रयणवालो पुव्व मम्मण-गिहम्मि आगओ । जाय भोअणाइ-किच्च । पच्छा णयर-महत्तयाणमहिमुह तल्लिहिआणुसारेण सवुड्ढिअ पेइअ रिएए, तहेव भड-मुल्ल च जहट्ठिअ समप्पिअ । सयय ण सेट्ठिस्स ईसिं पि मज्झम्मि गहिअव्व, दायव्व वा । एव भणमाणेण णेण सव्व-समक्ख फाडिअ लिहिअ-पत्त । गहिअ मम्मण-हत्थाओ अणरिणस्स[*] लिहिअ । मम्मणप्पिअ-पारिओमिअ-पदप्फल ज विउल मए लध्द त सव्व मईअमेय, ण सेट्ठिणो किंचि । इणिंह सेट्ठि-गिहम्मि जइ चिट्ठेमि तहावि ण हाणी, मामग घरमेय । परत्तु सयड[8] मह माणस णिअमालय विणा । तम्हा

सर्वेऽपि ते सम्मील्य विकसितवदनकमलाः वर्धापयितुं रत्नपालं उपप्रवहणमागताः । जयविजयशब्दैः वर्धापयन्तश्चाटुकारिता कर्तुं प्रवृत्ता.—"पुत्र ! वारिवाहमिव चिरं प्रतीक्षमाणास्त्वां प्रतिदिनं वयमत्र स्थिता । अतिजातः सुतोऽसि त्वं जिनदत्तस्य । उज्ज्वलं कृतं त्वया नामधेयं पितृपादस्य ।" अन्तर्दूनोऽपि व्यवहारार्थं मन्मनोऽपि सपरिकरं समागतः । रत्नपालेनाऽपि सर्वेऽपि सम्मुखमागता. सुजना. सानन्दं प्रणमिता । युष्माकमाशीर्भिः सर्वं भव्यं जातम् । निर्विघ्ना मकरगृह-यात्रा सम्पन्ना । उत्तारितं वाहनात् कृत्स्नमपि भाण्डं वस्तु-जातं च । आडम्बरवती नगरे निर्गता अस्य प्रतिनिर्गमन-यात्रा । समैर्नागरैः प्रेमलोचनैः सभावितः सम्मानितश्च राउल-द्वितीयो रत्नपालः पूर्वं मन्मन-गृहे आगतः । जातं भोजनादिकृत्यम् । पश्चाद् नगरमहत्तमानामभिमुखं तल्लिखितानुसारेण सवृद्धिकं पैतृकमृणं तथैव भाण्डमूल्यं च यथास्थितं समर्पितम् । साम्प्रतं न श्रेष्ठिनः ईषदपि मयि ग्रहीतव्यं दातव्यं वा । एवं भणता अनेन सर्व-समक्षं पाटितं लिखित-पत्रम् । गृहीतं मन्मन-हस्ताद् आनृण्यस्य लिखितम् । मन्मनार्पित-पारितोषिक-प्रतिफलं यद् विपुलं मया लब्धं तत् सर्वं मदीयमेव, न श्रेष्ठिनः किञ्चित् । इदानीं श्रेष्ठि-गृहे यदि तिष्ठामि तथापि न हानिः, मामकं गृहमेतत् । परं सतपति मम मानसं निजमालयं विना । तस्माद्

५ मकरगृहयात्रा-समुद्रयात्रा ६ निर्गता ७ अणारिणस्स-ऋणातीतस्य ८ सतपति, सतपे संतप्. (हे० ४-१४०) ।

जिगमिसेमि णिअ घर एत्ताहे चिअ। एव साहेऊण उट्ठिओ रयणवालो मम्मण सविणय पणमिऊण कयजली वोत्तुमाढत्तो- "सेट्ठिप्पवर! इच्छेमि तुम्भेहिं अब्भणुणाओ णिअ भवण वच्चेउ। सोलस-वास-पेरतं अहमेत्थ वुड्ढि पत्तो, पुत्तव्व लालिओ, सिक्खिओ य पएसे पट्ठविओ। सभरिस्समह अणुत्तरमुवयार भवयाणं। आवडिए कम्मिवि कज्जम्मि उवट्ठिओ होस्सं अणालसमेत्थ। सपइ जणय-भवण गंतु समुच्छुक म अणुजाणतु किवाए सेट्ठिवरा।"

निरट्ठया परवत्थुणो लालस 'त्ति विउरेण अतर-दूमिएणावि ववहार-कुसलेण "साणद वच्चसु वच्छ! णिअ भवण, वड्ढमाण-विच्छड्डेण वड्ढिओ होहि पुण" त्ति वुवतेण मम्मणेण रयणवालो गतुमणुजाणिओ।

सोलस-वासाणतर बधुजणेहि परिवारिओ मगल-सद्देहिं मायहेहिं च वद्धाविओ हम्मियाहिमुह पत्तो पुत्तो। तद्द-वद्धावणिआ[१] पोआममुही[२] सयज्झा ताराल तस्स समागया। समप्पिआ वद्ध-मदिर नालगम्म तालिआ। उग्घाडिय कवाड-जुअल। मत्थ मत्थ पिउपायम्म आणिआ साणिआ आसि 'त्ति परिजणेहि पवेइआ। तक्खणा जाया तेसि सारण सई। तातु पउत्तो बालव्व रयणवालो। हद्धी! परि अट्ठमणुहवति ते मज्जराग्गा। कि मे विउराए इमीए सिक्खिआए जाव ण जाणइ अम्मापिऊण दसण?

"सत्थो होहि सुपुत्त! तह मभविज्जइ नीम समीणं। कारावेइम्मासो साण अणुमयाण। पिहिणोऽणुठ नयाए मत्ता

१ वधावयंकेण २ ... ३ ...

जिगमिषामि निज गृहमिदानीमेव । एव कथयित्वा उत्थितो रत्नपालो मन्मन सविनय प्रणम्य कृताञ्जलिर्वक्तुमारब्ध—"श्रेष्ठिप्रवर ! इच्छामि युष्माभिरभ्यनुज्ञातो निज भवन व्रजितुम् । षोडशवर्षपर्यन्त-महमत्र वृद्धि प्राप्तः, पुत्रवत् लालितः, शिक्षितश्च प्रवासे प्रस्थापितः । स्मरिष्याम्यहं अनुत्तरमुपकार भवताम् । आपतिते कस्मिन्नपि कार्ये उपस्थितो भविष्यामि अनालसमत्र । सम्प्रति जनक-भवन गन्तुं समुत्सुक मा अनुजानन्तु कृपया श्रेष्ठिवराः ।"

'निरर्थका परवस्तुनो लालसा' इति विदुरेण अन्तर्दू नेनाऽपि व्यवहार-कुशलेन—"सानन्द व्रज वत्स ! निज भवनम्, वर्धमान-विच्छड्डेन (वर्धमान-वैभवेन) वर्धितो भव पुन " इति ब्रुवता मन्मनेन रत्नपालो गन्तुमनुज्ञात ।

षोडश-वर्षानन्तर बन्धुजनैः परिवारितो मङ्गलशब्दै. मागधैश्च वर्धापितो हर्म्याभिमुख प्राप्त पुत्र. । लब्ध-वर्धापनिका विकसित-मुखी सयज्झा (प्रातिवेश्मिकी) तत्काल तत्र समागता । समर्पिता वद्धमन्दिरतालकस्य तालिका । उद्घाटित कपाटयुगलम् । कुत्र-कुत्र पितृपादस्य आसिका शायिका आसीदिति परिजनैः प्रवेदिता । तरुणा जाता तेषा तत्क्षण स्मृति. । रोदितु प्रवृत्तो वालवद् रत्नपालः । हद्धी ! (निर्वेदे) कुत्र कष्टमनुभवन्ति ते मत्कारणात् ? किं मे विपुलया अनया श्रिया यावत् न जायते मातृपित्रो दर्शनम् ?

स्वस्थो भव सुपुत्र ! लघु सभाव्यते तेषां सम्मेलनम्, कारापयिष्यामस्तेषामनुसन्धानम् । विधेरनुकूलतया लब्धा भविष्यति तेषा

हविस्सइ तेसिं पउत्ती। सपइ तुम पुव्व एत्थ-गय विसठुल कज्ज सुट्ठिय कुणसु, जहा तुह पिअयरस्स णाम समुज्जल होइ 'त्ति सूइअ वघुवग्गेण। पडिस्सुअं त कहण रयणेण। जाय सव्व-बधुजणेहिं सहयरेहिं य सद्धि पीइ-भोअण। अणेगे जिणदत्त-संतिआ भिच्चा, कम्मगरा, आवणप्पमुहा, सहिणो' सभूअ समागया। णिअं-णिअ पच्चहिजाण करावेउ पउत्ता—"सेट्ठिकुमर! णट्ठे महापायवे कुलाय-सठिआण सउण-पोआण जारिसी गई तारिसी जिणदत्त-सेट्ठि-सरण-विहूणाण अम्हकेरा ठिई वट्टए। सपइ आसासिमो' तुम पियव्व अम्ह सरणदाया होहिसि 'त्ति। रयणवालेणावि सव्वेसिं पत्थणा सुणिआ, मुणिआ, जहारिह-कज्ज-समप्पणेण ते सतोसिआ, पोसिआ य। केइ परिणयवया मए किं पुव्व करणिज्ज 'ति पुच्छिआ। तक्कहणमणुवट्टमाणेण सम्माणिआ य।

एत्थतरम्मि णयर-प्पमुहेहिं सद्धि रयणवालेग पाहु-डीकओ णरवई, विण्णत्तो पुण—"णरदेव! जेसिं केसिं वि मणुआण अत्थि जिणदत्त-सेट्ठिम्मि अवसिट्ठ अण (ऋण) ते सव्वेवि ममाहितो सवुड्ढिअं णिअ-णिअ धण सत्तर गिण्हेतु, तहेव जे अहमण्णा सेट्ठिणो ते सव्वेवि सत्तर पच्चप्पिणतु मे जहारिहं धण।"

रण्णा तयाणिमेव "दायगा गिण्हेतु गाहगा य पच्चप्पिणतु, जिणदत्तसेट्ठि-सवधिअं दविण 'ति" उग्घोसणा कारिआ णयरम्मि।

---

१ सभाय २ आशास्महे।

प्रवृत्ति । सम्प्रति त्व पूर्वं अवगत विसस्थुल कार्यं सुस्थित कुरु, यथा तव पितुर्नाम समुज्ज्वल भवतीति सूचित बन्धुवर्गेण । प्रतिश्रुत तत्कथन रत्नेन । जात सर्वबन्धुजनै सहचरैश्च सार्ध प्रीतिभोजनम् । अनेके जिनदत्तसत्का भृत्या कर्मकरा आपण-प्रमुखा सखाय सभूय समागता । निज निज प्रत्यभिज्ञान कारयितु प्रवृत्ता —"श्रेष्ठिकुमार ! नष्टे महापादपे कुलाय-सस्थिताना शकुन-पोताना यादृशी गतिस्तादृशी जिनदत्त-श्रेष्ठिशरण-विहीनाना अस्मदीया स्थितिर्वर्तते । सम्प्रति आशास्महे त्व पितृवद् अस्माक शरणदाता भविष्यसीति रत्नपालेनाऽपि सर्वेषा प्रार्थना श्रुता, ज्ञाता, यथार्हकार्य-समर्पणेन ते सन्तोपिता, पोषिताश्च । केऽपि परिणत-वयसो 'मया किं पूर्व करणीयम्' इति पृष्टा तत्कथनमनुवर्तमानेन सम्मानिताश्च ।

अत्रान्तरे नगरप्रमुखै सार्ध रत्नपालेन प्राभृतीकृतो नरपति विज्ञप्त पुन —"नरदेव ! येषा केषामपि मनुजाना अस्ति जिनदत्त-श्रेष्ठिनि अवशिष्टमृण ते सर्वेऽपि मत्त सवृद्धिक निज निज धन सत्वर गृह्णन्तु, तथैव ये अधमर्णा श्रेष्ठिनस्ते सर्वेऽपि सत्वर प्रत्यर्प-यन्तु मह्य यथार्ह धनम् ।"

राज्ञा तदानीमेव—"दायका गृह्णन्तु, ग्राहकाश्च प्रत्यर्पयन्तु जिन-दत्तश्रेष्ठिसम्बन्धिक द्रविणमिति" उद्घोषणा कारिता नगरे ।

तक्खणं जाया जहोइआ ववत्था । दायगेहिं जहारिह गहिअं, गाहगेहिं च दिण्णं । सव्वाणि पर-हत्थ-गयाणि खेत्त-वत्थु-विवणि-पासायाईणि अप्प-वसाणि संजायाणि । णयरीए अस्स कित्ति-कोमुई पत्थरिआ । अहो ! बालोवि रयणवालो केरिसो बुध्दिमंतो अत्थि ? जेण सव्वमवि अववट्ठिअं कज्जं सुट्ठिअं कयं । राउलेणावि सव्वा तत्थगया ठिई सम्मं मुणिआ । अग्गे किं करणिज्जं 'त्ति अणुवेलं' चिंतेइ सो । परंतु रयणेण राउल-रूवंतरिआ रयणवइ 'त्ति ण संकिअं कयावि, केवलं बालजोई णूणमेस 'त्ति णिस्संकं णायमिमेण । सव्व-सुह-समप्पिओ वि रयणवालो ण खणमवि रइं लब्भइ पिअर-विरह-दुव्वलो । कहं तेसिं अणुसंधाणं कायव्वं ! कहिं ते पउसिआ पुत्त-विरह-विराडिआ उयासीणा संता जीवणं जवेंति ? कहमेगागी अहं गच्छेमि पवासं ? मं विणा कहमेगगो राउलो अणुवलक्खिअ-प्पएसम्मि चिट्ठिहिइ !

अतक्किओ आगओ तत्थ एगो अट्ठंग-णिमित्त-विण्णू जोइसिओ । पुच्छिओ एसो सविणयं रयणेण । विउसवर[१] ! कहमहं पच्चलो होमि[२] पिअर-पायस्स पउत्तिं णाउं । काए दिसीए तेसिं णिवासो 'त्ति कहं पच्चेयं मए ? क्रियाए णाण-बलेण ककुहा-सूअणं कायव्वं, जहाहं तेसिमणुसंधाणे सफलो हवेज्जा । गणएण झत्ति गणिअं फलिअं च पेक्खमाणेण उप्पिजल[४]-चेअणो रयणवालो उप्पालिओ—"दाहिण-दिसि-भाए कुसलिणो ते जणणी-जणया णिस्संदेहं । छमास-ब्भंतरम्मि सुलहं तेसिं दरिसणं । कुमार ! वईआ आवइ-दिअहा गमइ गव्वं सुहं सुहं 'ति णिच्छिअं मे वयणं । एवं साहेमाणो दाणेण तोसिओ गओ सो णिअं ठाणं ।

तत्क्षण जाता यथोचिता व्यवस्था। दायकैर्यथार्हं गृहीत ग्राह-यैश्च दत्त। सर्वाणि परहस्तगतानि क्षेत्र-वस्तु-विपणि-प्रासादादीनि आत्मवशानि सजातानि। नगर्यामस्य कीर्ति-कौमुदी प्रसृता। अहो! बालोऽपि रत्नपाल कीदृशो बुद्धिमानस्ति येन सर्वमपि अव्यवस्थित कार्यं सुस्थित कृतम्। राउलेनाऽपि सर्वा तत्रगता स्थिति सम्यग् ज्ञाता। अग्रे किं करणीयमिति अनुवेल चिन्तयति स। परन्तु रत्नेन राउल-रूपान्तरिता रत्नवतीति न शङ्कित कदापि, केवल बालयोगी नूनमेष' इति नि शङ्क ज्ञातमनेन। सर्वसुखसमर्पितोऽपि रत्नपालो न क्षणमपि रतिं लभते पितृविरह-दुर्बल। कथ तेषामनुसधान कर्तव्यम्? कुत्र ते प्रोषिता पुत्रविरह-विनटिता उदासीना सन्तो जीवन यापयन्ति। कथमेकाकी अह गच्छामि प्रवासम्? मा विना कथमेकाकी राउलोऽ-नुपलक्षित-प्रदेशे स्थास्यति।

अतर्कित आगतस्तत्र एकोऽष्टाङ्गनिमित्तविज्ञो ज्योतिषिक'। पृष्ट एष सविनय रत्नेन—"विद्वद्वर! कथमह प्रयत्नो भवामि पितृपादस्य प्रवृत्ति ज्ञातुम्? कस्या दिशि तेषा निवास इति कथ प्रत्येय मया? कृपया ज्ञानबलेन ककुप्-सूचन कर्तव्यम्, यथाऽह तेषामनुसधाने सफलो भवेयम्।" गणकेन झटिति गणित, फलित च प्रक्षमाणेन उत्पिञ्जलचेतनो रत्नपाल कथित—"दक्षिणदिग्भागे कुशलिनस्ते जननीजनका निस्सदेहम्। षण्मासाभ्यन्तरे सुलभ तेषा दर्शनम्। कुमार! व्यतीता आपद्-दिवसा सम्प्रति सर्व सुख सुख-मिति निश्चित मे वचनम्। एव कथयन् दानेन तोषितो गत स निज स्थानम्।

---

१ निरन्तरम् २ विद्वद्वर! ३ समर्थ ४ उत्पिञ्जलचेतन व्याकुलचेता।

अवसरं पप्पं रयणवालेण सूइओ राउलो सखेअ-"जोइप्पवर ! णाहमिच्छेमि तुमं विरहिऊण कत्थइ गंतुमेगागी, परंतु अत्थि एआरिसी समय-मग्गणा जहा मए अवस्सगंतव्वं पिअराणमणुसंधाण-णिमित्त। तुमए एत्थ ठिच्चा गिह-पच्चुवेक्खणा कायव्वा। सयराहमेव पिअराणं मग्गण काऊण, ते[1] एत्थ णेऊण पच्छा तुमए सद्धिं गमिस्समहं रयणवइं णेउं ससुर-गेहं। इयाणिं तु समय-पडिवालणा करणिज्जा चिअ।"

ईसिं-हसिअ-दंसिअ-धवलदंतपंतिणा राउलेण वाहरिअं-"ण एत्थ कोइ खेअस्स विसओ। अत्थि किमुक्किट्ठं जणणी-जणयाइरित्तं। तेसिं सेवा खु देव-सेवा। तेसिं दंसणं खु देव-दसण। तेसिं आणा किर देव-आणा। किं तेण किमि-कोडि गएण कुलिंगालेण जाएण, जो ण हवइ पिअराण सुहहेऊ। परंतु ण एयं कज्जं तएजारिसाणं[2] गिहत्थाणं। अत्थि मएजारिसाण तु वाम-हत्थ-लीला अणुसंधाण-कज्जं। सोमाल-सेहर ! ण अणुऊलो गिहत्थाण हेमंत-उऊ। जाला पवहइ अइ सीअलो जगं कपावेमाणो जडो उईणो[3] पवणो, ताला को सुहिओ गिहत्थो गिहाओ णीहरइ ? पहिरिअ-णाणुण्णिअ-वासो[4] आरोग्गिअ-विसिट्ठ-सत्ति-दायगोसह-मोसिअ-मिट्ठण्णो दारा-पुत्त-परिवारिओ उवानलं ट्ठिओ वासराइं गमेइ,' तत्थ 'णिप्पिहो झडिलो समणो तावसो गलिअ-चीवरो दिअंबरो वा साणंदं' रयख-'

---

१ तव २ त्वादृशानाम् ३ उदीचीनः ४ परिहितनानोर्णिकवासाः।

अवसर प्राप्य रत्नपालेन सूचितो राउल सम्वेद—"योगिप्रवर! नाहमिच्छामि त्वा विरहय्य कुत्रापि गन्तुमेकाकी, परन्तु अस्ति एतादृशो समय मार्गणा यथा मया अवश्य गन्तव्य पित्रोरनुसन्धान-निमित्तम्। त्वया अत्र स्थित्वा गृहप्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या। शीघ्रमेव पित्रो मार्गणा कृत्वा तौ अत्र नीत्वा पश्चात् त्वया सार्धं गमयिष्याम्यह रत्नवती नेतु श्वसुर-गृहम्। इदानी तु समय-प्रतिपालना करणीयैव।"

ईषद्-हसित दर्शित-धवल-दन्त-पङ्क्तिना राउलेन व्याहृत नात्र कोऽपि खेदस्य विषय। अस्ति विमुखष्ट जननी जनकाति रिक्तम्? तेषा सेवा खलु देव-सेवा, तेषा दर्शन खलु देव दर्शनम्, तेषा आज्ञा किल देवाज्ञा। किं तेन कृमिकोटिगतेन कुलाङ्गारेण जातेन यो न भवति पितृणा सुखहेतु, परन्तु नैतत् कार्यं त्वादृशाना गृहस्थानाम्। अस्ति मादृशाना तु वामहस्त-लीला अनुसन्धानकार्यम्। सुकुमार शेखर! नानुकूलो गृहस्थाना हेमन्ततु। यस्मिन् प्रवहति अतिशीतलो जगत् कम्पायमानो जड उदीचीन पवनस्तस्मिन् क सुखितो गृहस्थो गृहान्निस्सरति? परिहित-मानोर्णिक-वासा भुक्त विशिष्ट-शक्तिदायकौषध मिश्रित-मिष्ठान्न दारा-पुत्र-परिवारित उपानल स्थितो वासराणि गमयति, तत्र नि स्पृहो जटिल श्रमणस्ता-पसो गलितचीवरो दिगम्बरो वा सानन्द वृक्षमूले स्थितो ध्यान

मूलम्मि ठिओ झाणं झायइ, परमिट्ठिं सुमिरइ, छुहं अहिआसेइ, सुहं सुहेण सीअकालं च जवेइ। तहेव उण्हालो वि ण भोईण-मणुलोमो। जाहे पतवइ अइ तिग्ग-रस्सीहिं अंसूमाली। वण्हि-सरिच्छा हवइ धरणी। सव्वंपि वायावरणं तातप्पावेमाणो पवहइ असहणिज्जो मारुओ। वारं वारं परिफुसिअ[1] पि ण सुक्कत्तणमुवेइ सेअ-जलं। सुपीअंपि उदयं ण कयाइ पीअं पिव अणुहवंति तण्हालुआइं ओट्ठ-तालुकंठ-विवराइं। ताहे पत्त-समग्ग-भोग-सामग्गीओ णाणाविहं सीअ-पेज्जं पिबेंतो वायाणुकूलिअ-गिहम्मि अल्लीणो तुकई को हम्मिअं चएउं चयइ? तत्थवि मुणी जत्थ कत्थइ ठिओ, जं किमवि सीउण्हं भुंजेंतो, उसिणं जलं पिबेंतो, तत्तभूमीअले वि अणत्थुअं सुवेतो, परममुइओ लक्खिज्जइ। केण अणुहविज्जइ गिम्ह-काल-तत्ती जो अणुवेलं सरेइ परमं पयं। जस्स सव्वंपि बाहिरं वत्थुजायं बाहिरं तस्स का सुहस्स दुहस्स वा कप्पणा? अहो विचित्तो मुणीणमद्धाणो। तहेव पाउससमयो वि ण जेट्ठासमीहिं सुसहो, जया वासेंति पयोवाहा जया-तया। हवंति पच्छण-रविबिंबाणि दुद्दिणाणि। हिअयं कंपिअं कुणेमाणी विज्जोअइ विज्जू। गडगडायमाणो कण्णमूलं भिंदेइ पुण थणिअ-सद्दो। पिच्छिला हवंति वत्तणीओ। सवेआओ वहंति णिण्णआओ। अब्भंतरिओ वि अक्को अईव अंतरंग-गिम्हिमं अणुहवावेइ जाउ, तम्मि को सुहो जुवइजणविरहिओ चिट्ठिउं खमो? विहि-परतंतो पउत्थो वि कोइ गिहं सभरेइ रत्तिदिअहं। उक्किट्ठमंतव्वेअणं माणेइ काइ

---

१ परिप्रोञ्छितम्।

ध्यायति, परमेष्ठिनं स्मरति, क्षुधमध्यास्ते, सुखं सुखेन शीतकालं च यापयति। तथैव उष्णकालोऽपि न भोगिनामनुलोमः। यस्मिन् प्रतपति अति तिग्मरश्मिभिः अंशुमाली। वह्नि-सदृशी भवति धरणी। सर्वमपि वातावरणं तापयमानः प्रवहति असहनीयो मारुतः। वारं वारं परिप्रोञ्छितमपि न शुष्कत्वमुपैति स्वेदजलम्। सुपीतमपि उदकं न कदापि पीतमिवानुभवति तृष्णालुकानि ओष्ठ-तालु-कण्ठ-विवराणि। तस्मिन् प्राप्त-समग्र-भोग-सामग्रीको नानाविधं शीत-पेयं पिबन् वातानुकूलित गृहे आलीनः सुकृती को हर्म्यं त्यक्तुं शक्नोति? तत्रापि मुनिर्यत्रकुत्रापि स्थितः, यत् किमपि शीतोष्णं भुञ्जानः, उष्णं जलं पिबन्, तप्त-भूमितलेऽपि अनास्तृतं स्वपन्, परम-मुदितो लक्ष्यते। केनानुसूयते ग्रीष्मकाल-तप्तियोंऽनुवेलं स्मरति परमं पदम्। यस्य सर्वमपि बाह्यं वस्तुजातं बाह्यम्, तस्य का सुखस्य दुःखस्य वा कल्पना? अहो! विचित्रो मुनीनामध्वा। तथैव प्रावृट्-समयोऽपि न ज्येष्ठाश्रमीभिः सुसहः। यदा वर्षन्ति पयोवाहा, यदा-तदा भवन्ति प्रच्छन्न-रवि-बिम्बानि दुर्दिनानि। हृदयं कम्पितं कुर्वती विद्योतते विद्युत्। गडगडायमानः कर्णमूलं भिनत्ति पुनः स्तनित-शब्दः। पिच्छिला भवन्ति वर्त्मानः। सवेगा वहन्ति निम्नगाः। अभ्रान्त-रितोऽप्यर्कोऽस्तीवान्तरङ्गे ग्रीष्मतामनुभावयति जातु, तस्मिन् कः सुखी युवतिजन विरहितः स्थातुं क्षमः? विधि परतन्त्रः पथस्थोऽपि (प्रोषितोऽपि) कोऽपि गृहं स्मरति रात्रिंदिवम्। उत्कृष्टामन्तर्वेदना

पवसिअ-भत्तिआ 'पिउ पिउ 'त्ति' बप्पीह-सद्देण पिअं संसरेमाणी माणिणी। तहि पाउसम्मि वि पच्चक्खाय-पाणभोअणा गिरिकंदरासु समल्लीणा ववगय-सव्व-सरीर-माणस-चिंता अक्खय-बंभचेर-परिवड्ढिअ-लेस्सा झाण-कोट्ठोवगया अलक्खिअं तक्कणा-रहिअं सुहं बेलमइवाहयंति, अओ संति सव्वेवि उउणो[१] मुणीणं दाहिणावट्टा। तो मए किर गंतव्वं पिअंराण ढुंढुल्लणट्टं। ण तुम्हारिसाणं तत्थावयासो। 'संपइ चिअ वच्चेमि किं गहिअव्वं मए' एवं भणंतो राउलो केवलं हत्थ-गहिअ-वीणो तओ समुट्ठिओ। 'अजुत्तमिणं अजुत्तमिणं 'त्ति. बोल्लमाणेण रयणेण सहसत्ति णिअंतिओ राउलस्स करपल्लवो, साहिअं च-"जोइंद ! किम्सामइयं गमणमाढत्तं ? चिंतणिज्जं किंचि। पढमं-जणणी-जणगाणं कएणं पुत्तस्स चिअ पएसगमणं णीइ-संगअं। बीइज्जअं-अतिहिरूवेण समागओसि एत्थ दूर-देसंतराओ तुमं, सेवारिहस्स तस्स णिअ-कज्जट्ठं संपेसणं अणुइयं। तइयं-विरत्तेहिं गिहि-कम्मस्स कारावणं ण सोहापयं। एत्तो सविणयं पत्थणं मईयं, जं इह च्चिअ ठिच्चा तुमए जोग-साहणा कायव्वा। ण अस्सि विसयम्मि भागिल्लेण भव्वं।"

णिअं गमणं समुइअं 'ति पायडंतेण राउलेण सगज्जं वज्जरिअं—"सेट्ठि-पुत्त ! णत्थि अमुणिआ णीई राउल-जोइणा। वसुहेव कुडुंबं 'ति भावमाणाणं मुणीणं कत्थ णिअ-परतक्कणा ? तुम्हकेरा जणणीजणया किं ण

---

१ ऋतवः।

मानयति (अनुभवति) कापि प्रोषितभर्तृका 'पिउपिउ' इति वप्पीह-शब्देन प्रिय सस्मरन्ती मानिनी। तस्मिन् प्रावृषि अपि प्रत्याख्यात-पानभोजना गिरिकन्दरासु समालीना व्यपगत-सर्वशरीर-मानस-चिन्ता अक्षत-ब्रह्मचर्य-परिवर्धित-लेश्या ध्यान-कोष्ठोपगता अलक्षिता तर्कणारहिता सुख वेलामतिवाहयन्ति, अत सन्ति सर्वेऽपि ऋतवो मुनीना दक्षिणावर्ता। तस्माद् मया किल गन्तव्य पित्रो गवेषणार्थम्! न युष्मादृशा तत्रावकाश। 'सम्प्रत्येव व्रजामि किं ग्रहीतव्य मया' एव भणन् राउल केवल हस्तगृहीत-वीणस्तत समुत्थित। अयुक्तमिद अयुक्तमिदमिति कथयता रत्नेन झटिति नियन्त्रितो राउलस्य कर-पल्लव, कथित च—"योगीन्द्र! किमसामयिकगमनमारब्धम्? चिन्तनीय किञ्चित्! प्रथमम्– जननीजनकाना कृते पुत्रस्यैव प्रदेश-गमन नीति-सगतम्। द्वितीयम्—अतिथिरूपेण समागतोऽसि अत्र दूरदेशान्तरात् त्वम्, सेवार्हस्य तस्य निजकार्यार्थं सम्प्रेषणमनुचितम्। तृतीयम्– विरक्तै गृहि-कर्मण कारापण न शोभास्पदम्। एतस्माद् सविनय प्रार्थन मदीय यदिहैव स्थित्वा त्वया योगसाधना कर्तव्या। नाऽस्मिन् विषये भागवता भाव्यम्"।

निज गमन समुचितमिति प्रकटयता राउलेन सगर्जं कथितम्—"श्रेष्ठिपुत्र! नास्ति अज्ञाता नीति राउल-योगिना। वसुधैव कुटुम्ब-मिति भावयता मुनीना कुत्र निज-पर-तर्कणा? युष्मदीया जननी-

अम्हेच्चया ? 'ण तिही काइ जस्स विज्जइ 'त्ति अतिही' णिरुत्तीए पायडमिणमो, ता सो ण अब्भागओ। सेवा किर जेसिं जीवण-वयं स किं पर-सेवणमहिलसेइ ? परोवयार-करणम्मि ण गिहत्थ-संथव-दोस-दुट्ठत्तमुवेंति सुसीला तवोहणा। किणो तुमं निरट्ठअं आग्गहं कुणेसि ? सहयर ! सुण, ण जइ हं आणेउं सक्केज्जा भाणुमई-जुत्तं जिणदत्त छम्मासमज्झयारम्मि इह, तो पविसस्समहमग्गिकुंडम्मि 'त्ति पडिण्णाय वीअभयो एगल्लो चलिउं पयट्टो राउलो तक्खणं। अलद्ध-तग्गमण-णिरोह-मग्गो अच्चतं वुण्णो वि रयणवालो कहंकहमवि पडिवेसणट्ठं[1] संभओ जाओ। चलिओ सो तेण सद्धिं पुर-परिसर-पेरंतं सिक्खा-रुवेण किमवि साहेंतो। जहा—"सावहाणेण वट्टिअव्वं देसंतरम्मि राउल ! पर-पयारण-तप्परा असेगे धुत्त-सेहरा पइपयं वंचयंति अणवहिअ-माणवे। जाव ण तुमं पच्चावलिहिसि ताव ण मे मणो कत्थइ समल्लिस्सइ। पइदिण तुह पह पेच्छं, तम्हा तुरिअ-तुरिअं पच्चावलणस्स चिट्ठा कायव्वा" 'आम' 'तहत्ति' भणंतो पिअ-विरहेण अंतायल्लयं[2] अणु-हवंतो वि उवरिं जोगिजुगं णीममत्तणं दक्खवेंतो अग्गओ सरिओ। एव बहुदूरपह आगया ते दोण्णि वि। विरह-वेअण-रुद्धकंठेण अंतम्मि रुयंतेण रयणेण धणिअमुवगूहिओ राउलो। विरह-संतत्थ-णयणेहिं पीइज्जमाणो चित्त-लिहिएण इव तत्थ-ट्ठिएण पहम्मि तुरिअ-पायपायं वड्ढमाणो दिट्ठो सो खणंतरम्मि रुक्खांतरिओ अदिट्ठो संवुत्तो।

---

१ प्रति प्रेषणार्थम् २ आयल्लया॰ स्त्री॰ (दे॰) बेचैनी। अन्तायल्लयं-अन्तर्पीडा।

अनवा किं नास्मदीया ? न तिथि वापि यस्य विद्यते इति अतिथि' निरुक्त्या प्रकटमिदम्। तस्मात् स न अभ्यागत । सेवा नित येषा जीवन-व्रत स किं परसेवनमभिलषते ? परोपकारकरणे न गृहस्थ-सस्तव-दोषदुष्टत्वमुपयन्ति सुशीलास्तपोधना । किणो (प्रश्ने) त्व निरर्थकमाग्रह करोषि ? सहचर ! शृणु, 'न यदि अह आनेतु शक्नुया भानुमतीयुक्त जिनदत्त षण्मासमध्ये इह, तदा प्रविशाम्यहमग्नि-कुण्डे' इति प्रतिज्ञाय वीतभय एकाकी चलितु प्रवृत्तो राउल-स्तत्क्षणम् । अलब्ध तद्गमन निरोध-मार्ग अत्यन्त खिन्नोऽपि रत्नपाल कथ कथमपि प्रतिप्रेषणार्थं म्मतो जात । चलित स तेन सार्धं पुर परिसर पर्यन्त शिक्षारूपेण किमपि कथयन्। यथा— 'सावधानेन वर्तितव्य देशान्तरे राउल । पर-प्रतारण तत्परा अनेके धूर्त-शेखरा प्रतिपद वञ्चयन्ति अनवहित मानवान्। यावन्न त्व प्रत्यावलिष्यसे तावन्न मे मन कुत्रापि समालेप्यते। प्रतिदिन तव पथ प्रेक्षिष्ये, तस्मात् त्वरित-त्वरित प्रत्यावलनस्य चेष्टा कर्त्तव्या। 'आम्' 'तथेति' इति भणन् प्रिय-विरहेण अन्तायत्तलय (अन्त पीडा) अनुभवन्नपि उपरि योगि-योग्य निर्ममत्व दर्शयन् अग्रत सृत । एव महुदूर-पथ आगतौ तौ द्वावपि । विरहवेदन रुद्धकण्ठेन अन्ते रुदता रत्नेन घणिय (गाढ) उपगूढ राउल । विरह-सत्रस्त-नयनाभ्या पीयमान चित्रलिखितेनेव तत्रस्थितेन पथि त्वरित-पाद-पात वर्धमानो दृष्ट स । क्षणान्तरे वृक्षान्तरित अदृष्ट सवृत्त ।

सुमिणेवि अकप्पिअ किमेअ जाय ? हंत ! बालस्सवि अम्स केरिस लोगुत्तम सोअण्ण ? केरिसो अब्भुआ णिब्भयया ? केरिस बुद्धिचावल्ल ? केरिसी परोवयार-णिट्ठा ? अहो अणण्णो उच्छाहो ! अणेलिसो माहप्पो। महुरो सहावो। णिच्च हसिअ वयणारविंद। अव्वो ! कस्स इमिआ पसूई। मणे महाकुलीणोऽमू बालमुणी। धी ! धी ! म, एआरिसो सुहोइओ सोमाल-सरीरो मज्झ कारण पइगाम भमिस्सइ, जहापत्त भुंजिस्सइ, जहिं कहिं वीसंतो द्वाण गहिस्सइ, अत्तण्णेसणवयो[1] तम्मणो, तल्लेसो, तप्परो य अणेगाइ कट्ठाइ खमिस्सइ। अण्णाणीहिं अवहीरिओ वि समभाव-भाविओ होहिस्सइ पुण। एव बहु विगप्पेमाणो सोएमाणो गुम्मइअ[2]-हिअयो य रयणवालो गिहमागओ। पडिकज्ज, पडिभोअण, पडिपल च राउलं सरेतो एक्कमेक्क दिण अगुलिपव्वेसु गणेतो जहाकह कालक्खेव करेइ।

इओ पहम्मि सत्तरगईए उवसप्पतो जे केइ मज्झेमग्ग गामा णयराइ खेड-कव्वडाइ आगच्छेज्जा, तत्थ सुहमेक्ख-णिआए[3] अण्णेसण कुणमाणो पुच्छेइ, तक्केइ, णाम-कीत्तण करेइ, सकेअ च जणावेइ। अणमिलिअम्मि सकेए अग्गओ वच्चइ। अणलसो सो ण कहिंवि समय मुहा गमेइ, वीसमेइ, णिच्चित्त च सुवइ। एगतमणुवलक्खिएसु गामणयराईसु वि वीणा-णाएण कण्णामय-महुर-वेरग्गमय-गीअ-गाणेण जण-समूह आकड्ढइ। बालावत्थ अब्भुअ-रूवसपय त विलोएऊण

---

१ अत्तान्वेषणव्रत गृहीतान्वेषणव्रत इत्यर्थ २ गुम्मइय-हृदय -मूढहृदय। यथा—गुम्मइअ समूढ (पाइय० ५८०) ३ सूक्ष्मेक्षणिकया।

स्वप्नेऽपि अकल्पित विमेतत् जातम् । हन्त ! बालस्याप्यस्य कीदृश लोकोत्तम सौजन्यम् ? कीदृशी अद्भुता निर्भयता ? कीदृश बुद्धिचापल्यम् ? कीदृशी परोपकार-निष्ठा ? अहो ! अनन्य. उत्साह.! अनीदृश महात्म्यम् ! मधुरः स्वभावः ! नित्य हसित च वदनारविन्दम् । अहो ! कस्य इमा प्रसूति ? मन्ये महाकुलीनोऽयं बालमुनि.। धिग् ! धिग् ! माम्, एतादृशः सुखोचित. सुकुमार-शरीरो मम कारण प्रतिग्राम भ्रमिष्यति, यथा प्राप्त भोक्ष्यते, यत्र कुत्र विश्राम्यन् स्थान ग्रहीष्यति, आत्मान्वेषणयतः तन्मनाः तल्लेश्यः तत्परस्स अनेकानि कष्टानि क्षमिष्यते । अज्ञानिभिरवधीरितोऽपि समभाव-भावितो भविष्यति पुन.। एव बहुविकल्पयन् शोचयन् गुम्महृदय-हृदयः (सम्बद्धहृदयः) च रत्नपालो गृहमागत । प्रतिकार्यं, प्रतिभोजन, प्रतिपल च राउल स्मरन् एकैक दिन अंगुलि-पर्वसु गणयन् यथा कथचित् कालक्षेप करोति ।

इतः पथि सत्वरगत्या उपसर्पन् ये केऽपि मध्येमार्गं ग्रामा. नगराणि खेट-कर्वटानि आगच्छेयु, तत्र सूक्ष्मेक्षणिकया अन्वेषणा कुर्वन् पृच्छति, तर्कयति, नामकीर्तन करोति, सकेत च ज्ञापयति ! अमीलिते सकेते अग्रतो व्रजति । अनलसः न कुत्रापि समय मुधा गमयति, विश्राम्यति, निश्चिन्त च स्वपिति । एकान्तमनुपलक्षितेषु ग्राम-नगरादिष्वपि वीणा-नादेन कर्णामृत-मधुर-वैराग्यमय-गीतगानेन जनसमूहमाकर्षति । बाल्यावस्थामद्भुतरूपसम्पद त विलोक्य

जोईसरं जणया संमोहिआ होइ, सक्कारेइ, सम्माणेइ, अणेग-वत्थूहिं पुण उवणीमंतेइ परं णिप्पिवासो राउलो ण किमवि गिण्हेइ, णवरं भिक्खायरिआए समिआइयं[1] दव्वं गहिअ णिअ-हत्थेहिं पागं करिअ एगहुत्तं भुंजेइ। पच्छा लद्ध-परिचयेहिं तत्थगय-जणेहिं जिणदत्तस्स ट्ठिइं आगमण-गमणाइयं गवेसइ। अपत्त-वुत्तंतो इक्कवए तओ णिप्फिडइ[2]। तत्थ ठाउं बहुमणुरुद्धो वि णायरेहिं 'अलाहि अलाहि णिवासेणं' ति कहेंतो अद्धणीणो हवइ। एवं पलंबा वत्तणी उल्लंघिआ खणेण। अणेगाणि णयराणि मग्गिआणि। वणाणि तद्दिट्ठीए दिट्ठाणि। णाणा मढा आसमा पंतग्गामा ढुंढुल्लिआ। परं ण जिणदत्तस्स णामंपि आयण्णिअं। ण काइ पउत्ती वि पत्ता। सुहमो संकेओवि ण लद्धो। तहावि अखेइरो राउलो दक्खिणाए दिसाए परिवड्ढइ। लक्खेग-दिट्ठी केत्तिल्लमिण 'ति भण्णंतो सवेगमग्गओ सरइ। उज्ज-मिल्लाणं किमलब्भं, किमसक्कं, किं दूरं वा? जे असाह-हल्लं मुणेंति साहल्लस्स उवायाणं। चलणाणमुवरि चलंति जत्थ चलणा तत्थ किं दूरं गम्मपयं? कमसो अणेग-दिअहेहिं पत्तं राउलेण जिणदत्त-सणाहं वसंतपुरं णाम णयरं। मग्ग-संगएहिं तत्थगय-जणेहिं पुव्वमेव जिणदत्तणामो कोइ वुड्ढो कट्ठहारगो सभज्जो पुरस्स बाहिरं एगम्मि उडजम्मि णिवसइ 'त्ति मुणिअं। सुणिऊण स-ससुरस्स चिरचिंतिअं कण्णप्पिअं णामहेअं हरिस-वसुब्भिण्ण-रोमंचो संजाओ

---

१ समितादिकम्-'आटा आदि' इतिभाषा २ निस्फटति 'बाहर निकलना' इतिभाषा।

योगीश्वर जनता सम्मोहिता भवति, सत्कारयति, सम्मानयति, अनेक-वस्तुभि पुनरुपनिमन्त्रयति पर निष्पिपासो राउलो न किमपि गृह्णाति, केवल भिक्षाचर्यया समितादिक द्रव्य गृहीत्वा निजहस्ताभ्या पात्र कृत्वा एकवार भङ्क्ते । पश्चाद् लब्ध-परिचयैस्तत्रगत-जनैर्जिनदत्तस्य स्थितिम् आगमन-गमनादिक गवेषयति। अप्राप्तवृत्तान्त एकपदे ततो निष्क्रिटति । तत्र स्पातु बहुनुरुद्धोऽपि नागरै 'अलमल निवासेनेति कथयन् अध्वनीनो भवति। एव प्रलम्बा वर्तनी उल्लघिता तेन । अनेकानि नगराणि मार्गितानि । वनानि तद्दृष्ट्या दृष्टानि । नाना मठा आश्रमा प्रान्तग्रामा गवेषिता । पर न जिनदत्तस्य नामाप्याकर्णितम् । न कापि प्रवृत्तिरपि प्राप्ता । सूक्ष्म सकेतोऽपि न लब्ध । तथापि अखेदवान् राउलो दक्षिणस्या दिशि परिवर्तते । लक्ष्यैकदृष्टि कियदिदमिति मन्यमान सवेग अग्रत सरति । उद्यमवता किमलम्य, किमशक्य, किं दूर वा—ये असाफल्य जानन्ति साफल्यस्य उपादानम् । चलनानामुपरि चलन्ति यत्र चलना तत्र किं दूर गम्यपदम् ? क्रमशोऽनेकदिवसै प्राप्त राउलेन जिनदत्त-सनाथ वसन्तपुर नाम नगरम् । मार्ग-सगतैस्तत्रगतजनै पूर्वमेव जिनदत्तनामा कोऽपि वृद्ध काष्ठ-हारक सभार्य पुरस्य बहिरेकस्मिन् उटजे निवसतीति ज्ञातम् । श्रुत्वा स्वश्वसुरस्य चिरचिन्तित वण-प्रिय नामधेय हर्षवशोद्भिन्नरोमाञ्च सजातो राउल । मनोरथ-

राउलो । मणोरह-घणसंचिआ परिवड्ढिआ पंफुल्लिआ आसावल्ली । सो च्चिअ सोमो जिणदत्तो ससुरो, सा च अत्ता मे भद्द-सहावा भाणुमई । धण्णा अज्जाऽहं तेसिं चिरदुल्लहं दंसणं करिस्सं । पिअ-पुत्तस्स अलद्धपुव्व-सुह-समायारेण तेसिं माणसं तोसइस्सं[1] । अहा ! केरिसो होहिइ सो आणंद-मइयो समयो ? एवं विकप्पंतो आगओ पुर-परिसरम्मि राउलो । दिट्ठि-पहमावडिअं तमुज्जं । कट्ठ-भारं णेउं गओ वणम्मि जिणदत्तो । कज्ज-लग्गहत्था उज्जमज्झम्मि ठिआ भाणुमई । तक्खणं तत्थ समोइण्णो पसण्णमणो वीणाहत्थो सो । उज्जस्साहिमुहं दिट्ठा णेण समअला गोमय-लिंपिआ पवित्ता वेइआ । परिओ पाइयं पसण्णं वायावरणं । तत्थ वेइआए वीणा-वायण-तप्परो णिमीलिअच्छी अयाससो विव अच्छिओ राउलो । सुणिऊण सवणामयं महुरसरं वीणं को एत्थ गायइ 'त्ति तक्कणपरा भूआ भाणुमई । ईसिं गीवं लंबायमाणीए बाहिं पेक्खिअं ताए । भत्ति-रस-णिब्भरं गायंतो वीणाए समं दिट्ठो ताए एगो बालजोई । अहो ! धण्णं अम्हकेरं दिव्वं दिअहं अज्जतणं, जं अणाहूओ अचिंतिओ एसो बालमुणी अमुणिअं दंसणं दाउं कय-पयप्पणो । णूणं अज्ज किमवि महाभव्वं संभाविज्जइ । पुण्णाणं तुच्छाणं च उवरिं जेसिं समा मई तेसिं मणम्मि कत्थ गंतव्वं, कत्थ ण गंतव्वं, कत्थ चिट्ठिअव्वं, कत्थ ण चिट्ठिअव्वं, ण एआरिसा विगप्पा संभवंति, ता उवणिमंतेमि माहुअरिअट्ठं बालमुणि-मिमं । इअ विचिंतिअ किमवि भोअणारिहं दव्वं सप्पेमं

---

१ तोषयिष्यामि ।

धन-सिक्ता परिवर्धिता प्रफुल्ला आशावल्ली। स चैव सौम्यो जिनदत्तः श्वसुर, सा च अत्ता (श्वश्रूः) मे भद्र स्वभावा भानुमती। धन्या अद्याऽहं तेषां चिरदुर्लभं दर्शनं करिष्यामि। प्रियपुत्रस्य अलब्धपूर्व-सुखसमाचारेण तेषां मानस तोषयिष्यामि। अहा! कीदृशो भविष्यति स आनन्दमयः समयः? एवं विकल्पयन् आगतः पुरपरिसरे राउलः। दृष्टिपथमापतितं तदुटजम्। काष्ठ-भारं नेतुं गतो वने जिनदत्तः। कार्यलग्न-हस्ता उटजमध्ये स्थिता भानुमती। तत्क्षणं तत्र समवतीर्णः प्रसन्नमना. वीणाहस्त' सः। उटजस्याभिमुखं दृष्टा तेन ममतला गोमय-लिप्ता पवित्रा वेदिका। परितः प्राकृतं प्रसन्नं वातावरणम्। तत्र वेदिकायां वीणावादन-तत्परो निमीलिताक्षि. अजानन्निव आ-सितो राउल। श्रुत्वा श्रवणामृतां मधुरस्वरां वीणां कोऽत्र गायतीति तर्कणपरा भूता भानुमती। ईषद् ग्रीवां लम्बायमानया बहिः प्रेक्षितं तया। भक्तिरस-निर्भरं गायन् वीणया समं दृष्टस्तया एको बाल-योगी। अहो! धन्यमस्मदीय दिव्य दिवसमद्यतनम्, यत् अनाहूतः अचिन्तित. एष बालमुनि. अज्ञात दर्शन दातुं कृत-पदार्पण। नूनमद्य किमपि महाभव्यं सभाव्यते। पूर्णाना तुच्छाना चोपरि येषा समा मति तेषां मनसि कुत्र गन्तव्य, कुत्र न गन्तव्य, कुत्र स्थातव्य, कुत्र न स्थातव्य, नैतादृशा विकल्पा प्रभवन्ति, तस्माद् उपनिमन्त्र-यामि माधुकरिकार्थं बालमुनिमिमम्। इति विचिन्त्य किमपि भोजनार्हं द्रव्य सप्रेम दातुमुपराउलं उपनता सा। कृतो विनयप्रणामः। महती

दाउं उवराउलं उवणया सा । कओ विणयप्पणामो । महई किवा कया बालजोईसर ! समुद्धारिआ अम्हारिसा मंदभग्गा पावण-दंसणेण । जइवि ण अत्थि तुह सागय-जुग्गं किमवि विसिट्ठं, तहवि भत्ति-विसिट्ठं विसिट्ठं मुणीणं 'ति आणिअं किमवि लुक्खं सुक्खं साणुग्गहं गहिअव्वं । मुणी ! जइ हुंतो अम्ह णिवासो पुरिमतालम्मि, तया कावि अणण्णा सेव्वा, भत्ती, सुस्सूसा य कया हुंता । परं किं संपइ वट्टइ 'त्ति साहेमाणी ईसिमुल्लाइं नेत्ताइं चीवरेण पुंछंतो तुण्हिक्का जाया ।

पेम्मस्स पिंडलइआ, वच्छल्लस्स रिंछोली[1], सारल्लस्स मुत्ती, किवाए य पत्तं, पयडीए सोम्मा, राउलेण अत्ता विलोइआ । पुत्त-विरह-दुब्बलावि जा कत्तव्व-पालण-पीवरा, दरिद्द-दाव-दड्ढा वि मणसा दाणुच्छुआ, सहाव-महुरा धम्मिट्ठा य तेण सा अणूहूआ । अहो ! धणं गयं, ण गया दाणसीलया । विलीणा सामिद्धी, परंतु ण वोलीणा माणवया । अहवा धूलिधूसरंपि रयणं जहाइ किं महग्घिमं ? भूमिअल-णिवडिअंपि घणजलं हवइ किं कडुअं ? पत्त-पुप्फ-फल-विहूणो वि अंबो किं जायइ णिंवो ? खलु गुण-रयण-खाणी इमिआ तो उववण्णं एत्थ रयणं । तूणं होइ अग्गिणा उद्दीविअं दीविअं सुवण्णं । जायए महमहिअं णिघट्ठं चंदणं । एवं वीमसेमाणो राउलो पुव्वमिव वीणं वाए-माणो मुअल्लिओ ठिओ ।

---

१ रिंछोली-स्त्री० (दे०) पङ्क्ति ।

कृपा कृता बालयोगीश्वर ! समुद्धारिता अस्मादृशा मन्दभाग्याः पावन-दर्शनेन । यद्यपि नास्ति तव स्वागत-योग्यं किमपि विशिष्टं, तथापि 'भक्ति-विशिष्ट विशिष्टं मुनीनाम्' इति आनीतं किमपि रुक्ष शुष्क सानुग्रह गृहीतव्यम् । मुने ! यदि अभविष्यत् अस्माकं निवासः पुरिमतालपुरे तदा काप्यनन्या सेवा, भक्ति, सुश्रूषा च कृता अभविष्यत् । परं किं सम्प्रति यद् वर्तते इति कथयन्ती ईषद् आर्द्रं नेत्रे चीवरेण प्रोञ्छन्ती तूष्णीका जाता ।

प्रेम्णः पिण्डलिका (पिण्डीकृता) वात्सल्यस्य रिञ्छाला, (पङ्क्तिः) सारल्यस्य मूर्तिः, कृपायाश्च पात्र, प्रकृत्या सौम्या राउलेन अत्ता (श्वश्रूः) विलोकिता । पुत्र-विरह-दुर्बलाऽपि या कर्त्तव्य-पालन-पीवरा, दारिद्र्य-दाव-दग्धाऽपि मनसा दानोत्सुका, स्वभाव-मधुरा धर्मिष्ठा च तेन साऽनुभूता । अहो ! धन गत न गता दान-शीलता । विलीना समृद्धि परन्तु न व्यतिक्रान्ता मानवता । अथवा धूलि-धूसरमपि रत्न जहाति किं महार्घ्यताम् ? भूमितल-निपतितमपि घनजल भवति किं कटुकम् ? पत्र-पुष्प-फल-विहीनोऽप्याम्रो किं जायते निम्बः ? खलु गुणरत्नखानिः इमा तस्मादुत्पन्नमत्र रत्नम् । नून भवति अग्निनोद्दीपितं दीपितं सुवर्णम् । जायते महमहिअ (प्रसृत-सौरभ) निघृष्ट चारु चन्दनम् । एवं विमर्शयन् राउलः पूर्वमिव वीणा वादयन् मूकः स्थितः ।

"ण कहं उत्तरिज्जइ भयंतेण। कह ण घेप्पइ भत्ति-भरिआ भिक्खा। लुक्खावि पेम्म-सिणिद्धा इद्धा। णिगिट्ठावि भत्ति-विसिट्ठा मिट्ठा" पच्चुत्तरं विरमालेमाणीए भाणुमईए तक्किअं।

"ण जुज्जइ, दे मायरं! इयाणिं माहुअरी। असाहारण तुह भत्तिं पेक्खमाणेण मए अवस्सं घेतव्वा सा। परंतु पहु[1]-भत्ति-रस-पाण-थिंपिअ-मणस्स मे णत्थि सण्हावि बुभुक्खा, पिवासा पुण। का चिंता मुणीणं भोअणस्स, जत्थ वच्चइ तत्थ अणेगे दायरा हत्थ-गय-भिक्खा पडिक्खंति[2]। अम्मया! णीहरिओऽहं पुरिमतालाओ किंचि काल-पुव्वं अणेग-गाम-णयर-पुर-पट्टणाणि हिंडंतो एत्थ समागओ। सुरम्मं थलं णिहालिऊण वीसमणट्ठं तुह उज्जाण-वेइआए ठिओ। पहुस्स गुणगाणेण लद्धा अज्झत्थ-घोसंती। भत्तिजुत्तेण तुह आमंतणेण पुण अईव संतुट्ठोम्हि" पयडिअं राउलेण णिरवेक्खभावेणं।

सुणिआण पुरिमतालस्स णामहेअं अचिंतणिज्जाए णाए आसा-रेहाए छिविआ[3] भाणुमई तक्खण पुच्छिउमाढत्ता—"किं पुरिमतालत्तो आगमण भे?"

राउलो—"आम, तत्तो च्चिअ"

उच्छुईभूआ भाणुमई—"उवलक्खिज्जति किं भयंतेण तत्थगया विसिट्ठा णयरमहंतया"?

राउलो—"कहं ण? चिरट्ठिईए अईव परिचिआ मे तत्थगया पमुहा।"

---

१ प्रभुभक्ति-रसपान-तृप्तमनसः २ प्रतीक्षन्ते ३ स्पृष्टा।

'न कथमुत्तीर्यते भदन्तेन ? कथ न गृह्यते भक्तिभरिता भिक्षा ? रुक्षाऽपि प्रेम स्निग्धा इध्दा । निकृष्टाऽपि भवित विशिष्टा मिष्टा" प्रत्युत्तर प्रतीक्षमाणया भानुमत्या तर्कितम् ।

"न युज्यते हे मात ! इदानी माधुकरी । असाधारणा तव भक्ति प्रेक्षमाणन मया अवश्य गृहीतव्या सा । परन्तु प्रभुभक्ति-रसपान-तृप्तमनस मे नास्ति सूक्ष्माऽपि बुभुक्षा, पिपासा पुन । का चिन्ता मुनीना भोजनस्य ? यत्र व्रजति तत्रानेके दातारो हस्तगत भिक्षा प्रतीक्षन्ते । अम्ब ! निसृतोऽह पुरिमतालात् किञ्चित्कालपूर्वम् । अनेक ग्राम नगर पुर-पत्तनानि हिण्डन्नत्र समागत । सुरम्य स्थल निभाल्य विश्रमणार्थ तवोटजवेदिकाया स्थित । प्रभोर्गुणगानेन लब्धाऽध्यात्म-विश्रान्ति । भक्ति-युक्तेन तवामन्त्रणन पुन अतीव सन्तुष्टोऽस्मि प्रकटित राउलेन निरपेक्ष भावेन ।

श्रुत्वा पुरिमतालस्य नामधय अचिन्तनीयया कया आशा रेखया स्पृष्टा भानुमती तत्क्षण प्रष्टुमारब्धा—'किं पुरिमतालादागमन भवत ?'

राउल—"आम् ! तत एव' ।

उत्सुकीभूता भानुमती—"उपलक्ष्यन्ते किं भदन्तेन तत्रगता विशिष्टा नगरमहत्का ?"

राउल—"कथ न, चिरस्थित्याऽतीव परिचिता मे तत्रगता प्रमुखा ।"

ससभम भाणुमई—"तया तु अवस्सं णज्जइ तुमए मम्मणसेट्ठिणो गुत्तं[1] ।"

राउलो—"णूणं अत्थि सो दढमुट्ठी णयर-लक्खिओ महेब्भो" ।

हरिस-वसुब्भिण्ण-हिअय-कमला भाणुमई—"किं मुणिज्जइ मुणिणा तस्स पुत्ताइओ रयणवालो ?"

नव्व भावभगिम नाडेमाणो राउलो—"अम्मो ! कह मुणेइ अम्मा त रयणं ? सो च्चिअ अत्थि मे परमपीइपत्त अदीओ मित्तो । छमास-पेरत ठिओऽह्ं तेण सद्धिं अम्मो !"

रणरणय भयती भाणुमई—"किं सच्च ! त जाणइ राउलो ?" एव भणमाणी समीवमागम्म ठिआ ।

"अम्हारिसेहि किमसुणिअ रहस्सं, जाणेमि तस्स सव्वं पि जहाजाय घडणा-चक्क । माय ! णत्थि सो मम्मणपुत्तो, किंतु अत्थि सो जिणदत्तसेट्ठिणो कुलदीवो, भाणुमईए य अगओ । दुव्विहिणा पीनिआ अम्मापिउणो तं सत्तवीसवासरिअ थावण-रूवेण मम्मण-गिहम्मि ठविअ अलक्खिअमग्गा पवास गया" पाउक्कय सलक्ख राउलेण ।

धारेउमसक्क चिरालद्ध-पुत्त-पउत्ति-उच्छुक्कं[2] वहमाणी भाणुमई—"तओ किं ? तओ किं ? राउल !"

पुत्त-विरहग्गि-ताव-उम्हाइयं[3] मायर-हिअयं सुअस्स कुसल-वहा-सलिल-धाराहिं सलीलमोल्हवेमाणो[4] राउलो—

---

१ गात्रम्-नामधेयम् २ औत्सुक्यम् ३ पुत्रविरहाग्नितापोष्मायितम् ४ विध्यापयन् ।

ससभ्रम भानुमती—'तदा तु अवश्य ज्ञायते त्वया मन्मन-श्रेष्ठिनो गोत्रम् ?'

राउल —'नूनमस्ति स दृढमुष्टिर्नगर-लक्षितो महेभ्य ।'

हर्षवशोद्भिन्न-हृदय-कमला भानुमती—'किं ज्ञायते मुनिना तस्य पुत्रायितो रत्नपाल ?'

नव्य भावभङ्गिमान नाटयन् राउल —"अम्मो ! (आश्चर्ये) कथ जानाति माता त रत्नम् ? स एवास्ति मम परमप्रीतिपात्रमद्वितीय मित्रम् । षण्मास-पर्यन्त स्थितोऽह् तेन सार्ध अम्ब !"

रणरणक भजन्ती भानुमती—"किं सत्यम् ? त जानाति राउल ?" एव भणन्ती समीपमागम्य स्थिता ।

"अस्मादृशै किमज्ञात रहस्यम् ? जानामि तस्य सर्वमपि यथाजात घटनाचक्रम् । मात ! नास्ति स मन्मन-पुत्र , किन्तु अस्ति स जिनदत्त-श्रेष्ठिन कुलदीपो भानुमत्याश्च अङ्गज ! दुर्विधिना पीडितौ मातापितरौ त सप्तविंशति-वासरिक स्थापनरूपेण मन्मनगृहे स्थापयित्वा अलक्षित मार्गौ प्रवास गतौ" प्रादुष्कृत सलक्ष्य राउलेन ।

धर्तुमशक्य चिरालब्ध-पुत्र-प्रवृत्त्यौत्सुक्य वहन्ती भानुमती—"तत किम्, तत किं राउल !"

पुत्र-विरहाग्नि-तापोष्मायित मातृहृदय सुतस्य कुशल-कथा-सलिल-धाराभि सलील विध्यापयन् राउल —"मन्मनेन पुत्रवत्

"मम्मणेण पुत्तव्व पालिओ, पाढिओ य जया दुवालस-वासिओ होहीअ[1] सो, तया अहमण्णस्स मम्मिण-सद्देहिं ताडिओ णिअ-वुत्तंतवेइरो जाओ।"

अणिमिसणयणा माया—"पच्छा, पच्छा किं ?"

राउलो—"हरिपोअव्व णिसग्गं पत्तो तक्खणं पवास-गमणतप्परो संभूओ। मम्मणेण भिसमणुरुद्धोऽवि ण रुद्धो सो। अंतम्मि भरिअ भंडं वोहित्थम्मि[2] णिब्भयं संजत्तिओ जाओ।"

(सगयं) एआरिसं साहसं कयं तेण दुद्धमुहेण ! आरेइय-[3] रोमराइआ भाणुमई—"एवं दुक्करमायरिअं तेण ! अत्थि अग्गेवि विण्णाणं तस्स ?"

राउलो—"कहं ण ? सुणसु, अज्जपज्जंतं वुत्तंतं। गओ सो कालकूडणामगं दीवं। पुप्फाण संजोएण णीरोओ जाओ णिवई। विक्कएणावि भंडस्स लद्धो अउलो लाहो। तत्थ परणीआ तेण राय-पुत्तिआ रयणवई।"

सच्छरिज्जं अंबा—"किं भणसि राउल ! किं सो जाओ जणेसरस्स जामायरो ? एआरिसो भग्गमंतो !"

राउलो—"सच्चं सच्चं खु मायरं ! पयडिओ सो महा-भागिल्लो। किं ण सुव्वइ[4] जणकहणं जं पुरिसभग्गं केण णज्जइ ?

हरिसंसुजलुल्ल-लोयणा भाणुमई—"किं तत्थेव चिट्ठइ सो, वा आगओ पुणरवि णिअ पुरं ?"

---

१ अभूद् २ यानपात्रे ३ आरेइय (दे०) पुलकितमित्यर्थः ४ श्रूयते।

पालित पाठितश्च यदा द्वादश वार्षिकोऽभूत् स, तदा अधमर्णस्य मार्मिकशब्दैस्ताडितो निज-वृत्तान्त-वेदिरो जात ।"

अनिमिषनयना माता—"पश्चात्, पश्चात् किम् ?"

राउल —"हरिपोतवत् निसर्गं प्राप्तस्तत्क्षण प्रवासगमन-तत्पर सभूत । मन्मनेन भृशमनुरुद्धोऽपि न रुद्ध स । अन्ते भृत्वा भाण्ड वोहित्थे निर्मय सायान्त्रिको जात ।"

(स्वगतम्) एतादृश साहस कृत तेन दुग्धमुखेन ? पुलकितरोमरा-जिका भानुमती—"एव ! दुष्करमाचरित तेन, अस्ति अग्रेऽपि विज्ञान तस्य ?"

राउल —"कथ न ? शृणु, अद्यपर्यन्त वृत्तान्तम्, गत स काल-कूटनामक द्वीपम् । पुण्याणा सयोगेन नीरोगो जातो नृपति । विक्र-येणाऽपि भाण्डस्य लब्धोऽतुलो लाभ । तत्र परिणीता तेन राजपुत्रिका रत्नवती ।"

साश्चर्यमम्बा—"कि भणति राउल ! कि स जातो जनेश्वरस्य जामाता ? एतादृशो भाग्यवान् !"

राउल —"सत्य-सत्य खलु मात ! प्रकटित स महाभाग्यवान् । कि न श्रूयते जन-कथन यत् 'पुरुषभाग्य केन ज्ञायते ?"

हर्षाश्रुजलार्द्रलोचना भानुमती—"कि तत्रैव तिष्ठति स, वा आगत पुनरपि निज पुरम् ?"

राउलो–कि पुच्छेसि माय ! कहं सो अम्मा-पिउ-विहूणो तत्थ ठाएउ खमो ! सिग्घ पच्चावलिओ तओ आगओ सखेम णिअ पुरं । पच्चप्पिअ सव्व अण[1] । मम्मण-गिहत्तो तक्खण समागओ णिअं हम्मिअं महया चडयरेण[2] । सपइ अणुवेल विरमालेइ स अम्मा पिऊण दरिसण ।"

वहत्तबाहणीरा भाणुमई–"अहमेवाम्हि पुत्त-विरहिआ मदभग्गा भाणुमई रयणवाल-जणणी । धण्ण अज्जतण दिण जम्मि कण्ण-सुहाइआ जहातह पिअ-पुत्त-पउत्ती पत्ता । जोइ द ! को जाणेइ काइ काइ वट्ठाइ सहिआइ पुत्त-विरहम्मि । अम्हेवि पच्छा णिअ पुर गतुमुच्छुआ आसी, किंतु अलद्ध-वुत्तंता किंचि मक्खिआ । सपइ अणायास तुह आगमण जाय एत्थ । मिलिआ सव्वावि सुअस्स वत्ता । अहुणा तुरेस्सामो तत्थ गमित्तए, पुत्त च पेक्खित्तए सुल्लास ।"

तत्थ णिवडिअ एग कट्ठखड विलोइअ करेण गहिअ, चाउज्जेण जिग्घिअ, पुट्ठं च–"किमिण! किमिण! अम्मो !" सारल्लमुत्तीए भाणुमईए चविअ–'णत्थि किमवि एय । एमेव यट्ठभाराओ णिवडिअ किमवि, जओ रयणवाल-पिआ आणेइ पइदिण सुक्क इधण-भार, मणे तस्स चिअ इणमो सयल ।"

रहस्समुणतेण इव राउलेण त सोलिआए सगोविअ, जपिअ पुणो–"को गिण्हेइ अणुदिअह समिहणभार णयरम्मि ?"

भाणुमई–"अत्थि एगो णयरम्मि णेगमओ[3] महेब्भा

---

१ चमण ? २ आडम्बरेण ३ नैगमः ।

राउल —"किं पृच्छसि मात ! क्व स मातृपितृविहीनस्तत्र स्थातुं क्षम ? शीघ्रं प्रत्यावर्तितस्ततः आगतः सक्षेमं निजं पुरम्। प्रत्यर्पितं सर्वमृणम्। मन्मन-गृहात् तत्क्षणं समागतो निजं हर्म्यं महता चडयरेण (आडम्बरेण) सम्प्रत्यनुवेलं प्रतीक्षते स मातापित्रो दर्शनम्।"

वहद्बाष्पनीरा भानुमती—"अहमेवास्मि पुनः विरहिता मन्दभाग्या भानुमती रत्नपाल-जननी। धन्यमद्यतनं दिनं यस्मिन् कर्ण-सुखायिता यथातथं प्रियपुत्र-प्रवृत्तिः प्राप्ता। योगीन्द्र! को जानाति कानि कानि कष्टानि सोढानि पुत्रविरहे। वयमपि निजं पुरं गन्तुमुत्सुका आस्म, किन्तु अलब्धवृत्तान्ता किञ्चित् शङ्किता। सम्प्रत्यनायास तवागमनं जातमत्र। मिलिता सर्वाऽपि सुतस्य वार्ता। अधुना त्वरिष्यामस्तत्र गन्तुं, पुत्रं च प्रेक्षितुं सोल्लासम्।

तत्र निपतितमेव काष्ठ-खण्डं विलोक्य करेण गृहीतं, चातुर्येण घ्रातं, पृष्टं च—'किमिदम्-किमिदम्? अम्ब! सारल्यमूर्त्या भानुमत्या कथितम्—'नास्ति किमपि एतत्। एवमेव काष्ठभारान्निपतितं किमपि। यतो रत्नपाल-पिता आनयति प्रतिदिनं शुष्कमिन्धनभारं मन्ये तस्यैव इदं शकलम्।'

रहस्यमजानतेव राउलेन तत् झोलिकायां समोपितं, जल्पितं पुनः—"को गृह्णाति अनुदिवसं तमिन्धन-भारं नगरे?"

भानुमती—"अस्त्येको नगरे स्नेहवान् महेभ्यो धनदत्तः। स



धणदत्तो। सो अणुदिह गहइ एगेणेव मुल्लेण त। अणेगे वासा वोलीणा णण्णत्थ गमणपयाअण।"

(सगय राउलो) धी धी धी! घुत्तसेहर, जो विप्पयारेइ कट्ठमुल्लेण चदण गिण्हंतो भद्द जिणदत्त।

एत्तो विक्किऊण भारिश्र आगओ जिणदत्तोवि। उप्फुल्लणयणारविंदा धावेमाणो भाणुमई सम्मुह गया पइदेवस्स। साहिओ राउल-भणिओ पिय-पुत्त-वुत्तो। हरिसवस-विसप्पमाणहिअयो सवित्थार पुत्त-वुत्त सोउ उवराउल ठिओ सेट्ठी। पुच्छिआ सव्वावि पउत्ती। सद्धि पण्हुत्तरेहिं सणिश्र-सणिश्रं सव्वापि पयडिआ तेण पिअपुत्तकहा। उच्छुअ जाय हिअय त दट्ठु। अबीओ आणदो समुप्पण्णो।

"थेव-दिणाणतर अहमवि पच्छा पुरिमताल गतुकामोम्हि। भविस्सइ णूण सगय गमण अम्हाण।" पडिवेइअ उवेक्खिरेण इव राउलेण।

"साहु साहु, सद्धि चिअ गमिस्सामो। तुह सगमेण अम्हे अईव आणदिआ होस्सामो" सेट्ठिणा भणिअ।

भिक्खायरिआए सेट्ठिणा वि बहुणिमत्तिओ अणगीकाऊण तेसिं वयण तओ उट्ठिओ सो। 'साय पाय इहागमिस्सामह पुणरवि' एव जपिऊण गोसीस[1] वचअ धणदत्त गवेसिउ अतोउर[2] पविट्ठो। चउप्पहम्मि ठिएण तेण एआरिसी महुरसर वीणा वाइआ जेण पुरजणया सयमाकड्ढिआ। मय-णिउरबव्व णाय-मोहिओ जणाण संघाओ राउल परिआलिअ[3] ठिओ। अणेगवत्थूहिं उवणिमतिओवि

१ गोशीर्षचन्दनवञ्चकम् चन्दनवञ्चकम् २ पुरमध्ये ३ परिवृत्य।

अनुदिवस गृह्णाति एकेनैव मूल्येन तम्। अनेकानि वर्षाणि व्यति-क्रान्तानि नान्यत्र गमन-प्रयोजनम्।"

स्वगत राउल —"धिग्! धिग्! धिग! धूर्तशेखर, यो विप्रतार-यति काष्ठमूल्येन चन्दन गृह्णन् भद्र जिनदत्तम्।"

इतो विक्रीय भारिकामागतो जिनदत्तोऽपि। उत्फुल्ल-वदनार-विन्दा धावन्ती भानुमती सम्मुख गता पतिदेवस्य। कथितो राउल-भणित प्रियपुत्रवृत्तान्त। हर्षवश-विसर्पदहृदय सविस्तार पुन-वृत्तान्त श्रोतु उपराउल स्थित श्रेष्ठी। पृष्टा सर्वाऽपि प्रवृत्ति। सार्ध प्रश्नोत्तरै शनै शनै सर्वाऽपि प्रकटिता तेन प्रिय-पुत्र-कथा। उत्सुक जात हृदय त द्रष्टुम्। अद्वितीय आनन्द समुत्पन्न।

"स्तोकदिनानन्तर अहमपि पश्चात् पुरिमताल गन्तुकामोऽस्मि। भविष्यति नून सगत गमनमस्माकम्" प्रतिवेदितमुपेक्षिणेव राउलेन।

"साधु! साधु! सार्धमेव गमिष्याम। तव सगमेन वयमतीवा-नन्दिता भविष्याम" श्रेष्ठिना भणितम्।

भिक्षाचर्यायै श्रेष्ठिनाऽपि बहुनिमन्त्रितोऽनङ्गीकृत्य तेषा वचन तत उत्थित स। 'साय प्रातरिहागमिष्याम्यह पुनरपि' एव जल्पित्वा गोशीर्ष-वञ्चक धनदत्त गवेषितु अन्त पुर प्रविष्ट। चतुष्पथे स्थितेन तेनैतादृशी मधुरस्वर वीणा वादिता, येन पुर-जनता स्वयमाकृष्टा। मृग-निकुरम्बवत् नाद-मोहितो जनाना सघातो राउल परिवृत्य स्थित। अनेकवस्तुभिरुपनिमन्त्रितोऽपि एष न गृह्णाति विशेषत किञ्चित्।

एसो ण गिण्हेइ विसेसओ किंचि। ताए णिप्पीहयाए[1] बहुगारवं पत्तो सो जणाण मणेसुं। णवरं णिअ-हत्थ-णिम्मिअ-सत्तिअ-भोअणेण तित्तो जहिं तहिं एगंतम्मि रत्तीए सुवेमाणो सो दक्खयाए धुत्त-धणदत्तस्स गिहेण परिचिओ जाओ।

इओ विहि-वसओ णिवस्स अंगम्मि दाहज्जरो समुप्पण्णो। कया सव्वेवि उवाया णीफला गया। विअणाए पीलिओ णिवो अईव असायमणुहवइ। ताला केणावि सड्ढिणा पुरिसेण णिवस्स भणिअं—"कीस तुम्हे एआरिसं वेयणमणुहवेज्जा? एत्थ एगो जंत-मंत-तंतोसह-विसारओ राउलो जोई समागओ अत्थि। तस्सासीसाए देवस्स गओ[2] गओ[3] होहिइ, ण संका। तो आमंतिअव्वो सो इहइं। अवस्सं किवालुहिअयो सो किवं काहिइ"।

दुहिएण णरवइणा तक्खणं सइव[4]-सगासाओ ससम्माणं दंसणं दाउं पत्थिओ सो रायमंदिरम्मि। "का णाम हाणी! दाहमहं दंसणं णिवस्स। पहुकिवाए सव्वं भव्वं हवेज्जा" एवं साहेंतो तक्खणं तओ उप्पडिओ[5]। जणेहिं परिवारिओ, णिअ-लयम्मि रमेंतो, अहरपुडेहिं उवंसुजावं[6] च कुणमाणो राय-पासायं पत्तो। णिवेण विणयप्पणामो कओ, दत्तं च आसणं। "कयत्थोम्हि अज्ज तुह दंसणेण जोईसर! अणुहवामि तिव्वं दाहज्जरं। सव्वेवि अगयंकारा हारिआ ओसहं कुणंता। संपइ तुह सरणं गहिअं। कुणउ अणुग्गहं।"

---

१ निःस्पृहतया २ गदः ३ गतः ४ सचिव-सकाशात् ५ उत्थितः, गुजराती में 'उपड्यु' ६ 'उपांशुजापम्।

तया निस्पृहतया बहु गौरवं प्राप्तः स जनानां मनस्सु। केवलं निज-हस्त-निर्मित-सात्विक-भोजनेन तृप्तो यत्र तत्र एकान्ते रात्रौ स्वपन् स दक्षतया धूर्तं धनदत्तस्य गृहेण परिचितो जातः।

इतो विधिवशतो नृपस्याङ्गे दाघज्वरः समुत्पन्नः। कृताः सर्वेऽपि उपायाः निष्फलाः गताः। वेदनया पीडितो नृपोऽतीवासातमनुभवति। तदा केनाऽपि श्रद्धिना पुरुषेण नृपाय भणितम्—"यस्माद् यूयं एतादृशी वेदनामनुभवथ। अत्रैको यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रौषध-विशारदो राउलो योगी समागतोऽस्ति। तस्याशिषा देवस्य गदो गतो भविष्यति, न शङ्का। तस्मादामन्त्रितव्यः स इह। अवश्य कृपालुहृदयः स कृपां करिष्यति।"

दुःखितेन नरपतिना तत्क्षणं सचिव-सकाशात् ससम्मानं दर्शनं दातुं प्रार्थितः स राजमन्दिरे। 'का नाम हानिः? दास्याम्यहं दर्शनं नृपाय, प्रभु-कृपया सर्वं भव्यं भवेत्।' एवं कथयन् तत्क्षणं ततः उत्थितः। जनैः परिवारितो निजलये रममाणः, अधर-पुटाभ्यां उपांशुजापं च कुर्वन् राज-प्रासादं प्राप्तः। नृपेण विनय-प्रणामं कृतं, दत्तं चासनम्। "कृतार्थोऽस्मि अद्य तव दर्शनेन योगीश्वर! अनुभवामि तीव्रं दाघ-ज्वरम्। सर्वेऽपि अगदकाराः हारिताः औषधं कुर्वन्तः, सम्प्रति तव शरणं गृहीतम्। करोतु अनुग्रहम्।"

"पहू पहुप्पइ[1] सव्व भव्व काउ। जस्स सरणेण अब्भतरिआ गया वि विगया हुवेज्जा, तत्थ बाहिरामयाण का कलणा ? णूण होइ मणुओ रोई अण्णाणेण णिअेण। पाइअणियमाण खडण चिअ आमाणमामतण। परमत्थओ इ दि आणामासत्ती किर णाणा-रोआण जणणी। जइ सा णिव्वुइ पत्ता, सय जम्मइ आरुग्ग-सपया" एव सूअमाणेण राउलेण णरदेवस्स धमणी विलोइआ। कय णिआण। विचितिअ किचि। "इसिकरमेय[2] सुकय-णिआणस्स वेज्जवरस्स। णवर गोसीसचदण जुप्पइ जइ पावीअइ[3]। तेण तक्खण रोगोवसमण हुवे, इअ मे कप्पणा" सुल्लासमुप्पालिअ जोइणा।

सयराहमेव किकरा त गवेसिउ गया णयरम्मि। चदणववहारिणो सव्वेवि आपुच्छिआ पर ण कत्थइ पत्त एगमवि सयलममरचदणस्स। उआसीण-मुहा सव्वेवि गवेसया पुणरागआ। "ण गोसीस एत्थ कोइ जाणइ, उवलक्खइ, रक्खइ य। अण्ण साहारण चदण जइ जुज्जइ तो सुलह विज्जइ" साहिय तेहि। हयासो जाओ णिओ। "अरे ! ण मिलिअममरचदणमेत्थ ? हा ! हा ! अणुलघणिज्जा भविअव्वया ! जोइवर ! सपइ तुममेव सरण मे।"

"किमत्थि एआरिस वत्थु ज ण मिलइ पहुस्स महारज्जे। मणुअस्स अजुग्गया चिअ मणुअ असाहल्ल णिदसेज्जा। कि णयरम्मि ण मिलिअ हरिअदण[4] ? अज्जेव मिलइ, अहुणेव मिलइ, इह एव मिलइ" एव भणमाणेण

---

१ प्रभवति २ ईषत्करम् ३ प्राप्यते ४ हरिचन्दम्।

"प्रभु प्रभवति सर्वं भव्य कर्तुम्। यस्य स्मरणेनाभ्यन्तरिका गदा अपि विगता भवेयु, तत्र वहिरामयाना का कलना ? नून भवति मनुजो रोगी अज्ञानेन निजेन। प्राकृतनियमाना खण्डनमेव आमाना-मामन्त्रणम्। परमार्थत इन्द्रियाणामासक्ति किल नानारोगाणा जननी। यदि सा निवृंत्ति प्राप्ता स्वय जायते आरोग्य-सम्पद्।" एव सूचयता राउलेन नरदेवस्य धमनी विलोकिता। कृत निदानम्। विचिन्तित किञ्चिद्। 'ईषत्करमेतत् सुकृतनिदानस्य वैद्यवरस्य। केवल गोशीर्ष-चन्दन युज्यते यदि प्राप्यते, तेन तत्क्षण रोगोपशमन भवेत् इति मे कल्पना।" सोल्लास कथित योगिना।

शीघ्रमेव किङ्करास्तद् गवेषितु गता नगरे। चन्दन-व्यवहारिण सर्वेऽपि आपृष्टा पर न कुत्रापि प्राप्त एकमपि शकल अमरचन्दनस्य। उदासीन-मुखा सर्वेऽपि गवेषका पुनरागता। "न गोशीर्ष अत्र कोऽपि जानाति, उपलक्षयते, रक्षति च। अन्यत् साधारण चन्दन यदि युज्यते तदा सुलभ विद्यते' कथित तै। हताशो जातो नृप। "अरे! न मिलितममरचन्दनमत्र। हा! हा! अनुल्लघनीया भवि-तव्यता। योगिवर! सम्प्रति त्वमेव शरण मे।"

"किमस्ति एतादृश वस्तु यन्न मिलति प्रभो! महाराज्ये ? मनुजस्यायोग्यतैव मनुज असाफल्य निदर्शयेत्। किं नगरे न मिलित हरिचन्दनम्। अद्यैव मिलति, अधुनैव मिलति, इहैव मिलति" एव

राउलेण तक्खण पवेसिअ णिअ हत्थ झोलियाए मज्झयारम्मि। णिमीलिअ-णयण-जुअल उच्चय कहिअ, जहा–"आगच्छउ ! हरिअदण, सयराहमागच्छउ हरिअदण ! अत्थि पहुस्स आणा, अत्थि गुरुस्स आणा, अत्थि राउलजोइणो पुण आणा।" तक्कालमायाउ अमरचदण 'ति भणमाणस्स राउलस्स झोलिआओ गोसीस-सयल हत्थ-गहिअ वाहिरमागअ। णिवपभिइणो विम्हय गया। "अव्वो! अचिंतणिज्जा जोइणो सत्ती ! कुओ आगय अकम्हा हरिचदण झोलिआए ? णूण मे दाहज्जरो सत्तर गत्तरो होहिइ।" घिट्ठ णिहत्थेहिं राउलेण चदण। काइ मतक्खराइ उच्चारमाणेण लित्त त णिवस्स गत्तम्मि। जायमेत्ते लेवम्मि तक्खणमणुवमा सीअलया पसरिआ। विगय-दाहो सजाओ णरणाहो। मणे, णवजीवण पत्त तेण। णिवो राउलस्स चरणेसु णिवडिओ, कयण्णुआए विण्णत्त च–"हत ! णिक्कारणमुवयारिणो ईइसा हवति मुणिणो ! अत्थि अज्जावि मुणिवु जरेसु वण्णणाईआ सत्ती। तो लोया सभत्ति पूअति, सक्कारेति, सम्माणेति य साहु-पुगवे। णिप्पिह ! केण पच्चुवयारेण लाहव णेएमि अप्पाण ? सच्चमिण ज ण जुप्पइ किमवि लागुत्तर-चरिआण लोयम्मि, तहवि मज्झम्मि पसाय काऊण किमवि अगीकर-णिज्ज। परमत्थओ महप्पेसु दाण चित्तेसु गिय अचुच्छ-मायाण। मुणिपुगवाण दता दायारो पच्चुल अणुगहीया सिआ, तम्हा किचि गहणप्पसाओ कायव्वो कारुण्णपुण्णेण भदतेण।"

णियस्स विणयस्सुवरि झाणमदेतेण इव राउलेण उव-एस-सरस्सइए वुत्त–"भूमिद ! कि जुज्जइ मुणिंद-चदाण ?

भणता राउलेन तत्क्षण प्रवेशित निज हस्त झोलिकाया मध्ये। निमीलितनयनयुगल उच्चै. कथितम्, यथा—"आगच्छतु हरिचन्दनम्। शीघ्रमागच्छतु हरिचन्दनम्। अस्ति प्रभोराज्ञा, अस्ति गुरोराज्ञा, अस्ति राउलयोगिनः पुनराज्ञा।' तत्कालमायातु अमरचन्दनमिति भणतो राउलस्य झोलिकातो गोशीर्ष-शकल हस्त-गृहीत बहिरागतम्। नृप-प्रभृतयो विस्मयं गताः। "अव्वो! (आश्चर्ये) अचिन्तनीया योगिनः शक्तिः। कुत. आगत अकस्माद्धरिचन्दन झोलिकायाम्। नून मे दाघज्वर सत्वर गत्वरो भविष्यति।" घृष्ट निजहस्ताभ्या राउलेन चन्दनम्। कानि मन्त्राक्षराणि उच्चारयता लिप्त तद्नृपस्य गात्रे। जातमात्रे लेपे तत्क्षणमनुपमा शीतलता प्रसृता। विगतदाह संजातो नरनाथः। मन्ये नवजीवन प्राप्त तेन। नृपो राउलस्य चरण-योर्निपतित, कृतज्ञतया विज्ञप्त च—"हन्त! निष्कारणमुपकारिणः ईदृशा भवन्ति मुनयः। अस्ति अद्यापि मुनि-कुञ्जरेषु वर्णनातीता शक्ति.। तस्माल्लोका. सभक्ति पूजयन्ति, सत्कारयन्ति, सम्मानयन्ति च साधु-पुङ्गवान्। निस्पृह! केन प्रत्युपकारेण लाघव नयामि आत्मानम्? सत्यमिद यन्नयुज्यते किमपि लोकोत्तर-चरिताना लोके, तथापि मयि प्रसाद कृत्वा किमपि अङ्गीकरणीयम्। परमार्थतो महात्मसु दान क्षेत्रे ष्विव अतुच्छमादानम्। मुनि-पुङ्गवेभ्यो ददतो दातारः प्रत्युत अनुगृहीता. स्यु। तस्माद् किञ्चित् ग्रहण-प्रसाद कर्तव्य. कारुण्य-पुण्येन भदन्तेन।"

नृपस्य विनयोपरि ध्यानमददतेव राउलेनोपदेश-सरस्वत्या[1] उक्तम्—"भूमीन्द्र! किं युज्यते मुनीन्द्रचन्द्रेभ्यः? येषा निराशैव

---

१ उपदेशसरस्वत्या-उपदेशमय्या वाण्या इत्यर्थः।

जेसिं णिरासा चिअ आसा । अकिंचणत्तमेव धणं । अहो ! जायणा-सीलोवि जोई किं जायए जगम्मि ? भिक्खेण सुलह-मण्णं पुण पाणिअं । धरणिअलं जाणं ठाणं । रुक्खमूलं किर पडिणिम्मिअं हम्मिअं । सव्वेवि लोआ परिअणा । उववासा जास अगयंकारा । भूणाह ! बहुं पत्तं हवइ अप्प-चाएण । एगं आसाजालं छिंदेंतो जोई तेलुक्क-सामिद्धिं हत्थेइ, ण किं एसो अइलाहो वावारो । तहवि अत्थि भत्ति-पुण्णा पत्थणा तो रक्खेम्मि णिवस्स वयणं भंडागारम्मि । आवडिए कज्जे किमवि मग्गहिस्सं 'ति जंपमाणो राउलो तओ उट्ठिओ । अस्स णिप्पिह-वित्तिं पेक्खिऊण सव्वेवि विम्हय-सेराणणा संजाया । समग्गपुरम्मि अब्भुआ एसा कहा वित्थरिआ । विचित्त-सत्तिल्लोऽयं राउलो । खणेण गमिआ इमेण णिवस्स तिव्वा वेअणा । अहुणा सव्व-विइअ-माहप्पो जाओ इमो ।

एगया संझाकालम्मि एगागी राउलो धणदत्तस्स गिहस्स अग्गओ आगम्म सणिअं वीणं वाएउमाढत्तो । दिणावसाण-समयम्मि आयण्णिअ वीणस्सरं, पेक्खिऊण अग्गओ ठिअं च राउलं धणदत्तस्स भज्जा भयभीआ जाया । वेविरो[1] सा तक्कालं बाहिरमागया साहेउं पउत्ता—"राउल ! कहं विआल-वेलाए एत्थ समागया तुम्हे ? जं जुज्जइ तं सिग्घं गहिअ इओ अण्णत्थ वइअव्वं । जओ भदंता णिवघर-सम्माणिआ पूइया य संति, अह एगागिणी अवला इत्थिआ संपइ । ण मे ट्ठिई सोहणतणमंचइ किंचि वि । तम्हा जया

1 वेपनशीला ।

आशा। अकिञ्चनत्वमेव धनम्। अहो! याचनाशीलोऽपि योगी किं याचते जगति? भिक्षया सुलभमन्न पुन पानीयम्। धरणितल येषा स्थानम्। वृक्षमूल किल प्रतिनिर्मित हर्म्यम्। सर्वेऽपि लोका परिजना। उपवासा येषा अगदङ्कारा। भूनाथ! बहु प्राप्त भवति अल्पत्यागेन। एकमाशाजाल छिन्दन् योगी त्रैलोक्य-समृद्धि हस्तयति, न किम् एष अतिलाभो व्यापार? तथापि अस्ति भक्तिपूर्णा प्रार्थना, तस्माद् रक्षामि नृपस्य (भवत) वचन भाण्डागारे। आपतिते कार्ये किमपि मार्गयिष्ये" इति जल्पन् राउलस्तत उत्थित। अस्य निस्पृह-वृत्ति प्रेक्ष्य सर्वेऽपि विस्मय-स्मेरानना सजाता। समग्रपुरेऽद्भुता एषा कथा विस्तृता। विचित्रशक्तिवानय राउल। क्षणेन गमिताऽनेन नृपस्य तीव्रा वदना। अधुना सर्व-विदित माहात्म्यो जातोऽयम्।

एकदा सन्ध्याकाले एकाकी राउलो धनदत्तस्य गृहस्य अग्रत आगम्य शनैर्वीणा वादयितुमारब्ध। दिनावसान समये आकर्ण्य वीणास्वर, प्रेक्ष्याग्रत स्थित राउल धनदत्तस्य भार्या भयभीता जाता। वेपनशीला सा तत्काल बहिरागता कथयितु प्रवृत्ता— "राउल! कथ विकालवेलायामत्र समागता यूयम्? यद् युज्यते तच्छीघ्र गृहीत्वा इतोऽन्यत्र व्रजितव्यम्। यतो भदन्ता नृपगृहसम्मानिता पूजिता सन्ति अहमेकाकिनी अबला स्त्री सम्प्रति। न भवत स्थिति शोभनत्वमञ्चति किञ्चिदपि। तस्माद यदा अस्य बालकस्य

अस्स बालगस्स जणओ गिहम्मि समागच्छेज्जा तयाणि पुणरागंतव्वं, उइआ सेव्वा होहिइ राउल-जोइणो।"

णिअ-कज्जदक्खेण राउलेण गहिरीहोऊण[1] वुत्तं—"बहिणि! णत्थि मे धम्मो एगागिणीए गिहम्मि आगमणस्स। किंतु किमवि भावि-अभद्दं संकमाणेण परोवयारमईए मए एत्थागमण-साहसं कयं। हा! बहुं असुहं!!"

सोऊण राउलस्साउलं वयणं वराई धणदत्त-गेहिणी सीअ-कंपं कंपिउं लग्गा। किं किं 'ति सणिअं जंपेमाणी समीवमागम्म तस्स उवमुहं णिअं कण्णं णिवेसिअ वइअरं णाउं अदिहिमंता[2] संवुत्ता।

णत्थि अविण्णायं तुब्भेहिं जमत्थि णिवइ-तणू दाहज्जर-पीलिआ। णिवेण हरिचंदणट्ठमईव गवेसणा काराविआ। तहावि ण लद्धं एगमवि तस्स खण्डं। उअ[3], मए सा खई पूरिआ। णिवो अरोओ जाओ। तम्मि समयम्मि एगेण पिसुणेण णिवस्स पिसुणिअं[4]—"सामी! लद्धबहुत्तामरचंदणो धणदत्तो सेट्ठी, तहवि लुद्धेण तेण ण दत्तं णिवट्ठं पि चंदणस्स खंडं एगमवि। केरिसो सत्थ-परायणो परमत्थविहूणो सो।" णिसम्म एवं कोव-करालिओ जाओ णिवो। संभावयेमि अज्ज सुवे वा सव्वं संगहिअं चंदणं, अईअम्मि तं विविकणिअ जमज्जिअं धणं च णिवो हत्थगं काहिइ, दंडरूवेण पुण किमहियाहिअं[5] जणिस्सइ 'त्ति विआरणिज्जं रहस्सं। हंत! हंत! मच्छरिणा पोरच्छेण सव्वं कज्जमणट्ठं विणासिअं। इअ जणावेउमिह आगओम्हि अहयं। अहुणा

---

१ गभीरीभूय २ अधृतिमती ३ पश्य ४ सूचितम् ५ अधिकाहितम्।

जनवो गृहे समागच्छेत् तदानीं पुनरागन्तव्य उचिता सेवा भविष्यति राउलयोगिन ।'

निजकार्यदक्षेण राउलेन गभीरीभूयोक्तम्—"भगिनि ! नास्ति मे धर्म एकाकिन्या गृहे आगमनस्य, किन्तु किमपि भावि-अभद्र शङ्कमानेन परोपकारमत्वा मयाऽत्रागमन-साहस कृतम्। हा ! बहु अशुभम्।"

श्रुत्वा राउलस्याकुल वचन वराकी धनदत्तस्य गृहिणी धीतकम्प कम्पितु लग्ना। किं किमिति वदन्ती जर्जरपन्नी समीपमागम्य तस्योपमुख निज कर्णं निवेश्य व्यतिकर ज्ञातुमधृतिमती सवृत्ता।

नास्ति अविज्ञात युष्माभिर्यद् आसीद् नृपति-तनुर्दाघज्वर-पीडिता। नृपेण हरिचन्दनार्थमतीव गवेषणा कारापिता। तथापि न लब्धमेकमपि तस्य खण्डम्। पश्य, मया सा क्षति पूरिता। नृप अरोग जात। तस्मिन् समये एकेन पिशुनेन नृपाय सूचितम्—"स्वामिन् ! लब्ध-प्रभूतामरचन्दनो धनदत्त श्रेष्ठी। तथापि लुब्धेन तेन न दत्त नृपार्थमपि चन्दनस्य खण्डमेकमपि। कीदृश स्वार्थपरायण परमार्थ-विहीन स।' निशम्यैव कोप-करालितो जातो नृप। सभाव-यामि अद्य श्वो वा सर्व सगृहीत चन्दनम् अतीते तद् विक्रीय यदर्जित धन च नृपो हस्तग करिष्यति, दण्डरूपेण पुन किमधिकाहित जनिष्यति इति विचारणीय रहस्यम्। हन्त ! हन्त ! मत्सरिणा पौरच्छेन (खलेन) सर्व कार्यमनर्थं विनाशितम्। इति ज्ञापयितुमिह

किमणुचिट्ठिअव्वं 'ति वीमंसणिज्जं किंचि। इत्थं कहिऊण राउलो तओ पलाणो।

एमेव राउलेण बीहविआ[1] सा हित्था किंकायव्वमूढा गुम्मिअ-माणसा अचुच्छमायल्लं वेइउं पउत्ता—"हा! किमिणं जायं? कुविओ णरणाहो किमभद्दं काहिइ? हरे! पउरा हरियंदणरासी विज्जए अम्ह गिहम्मि। कहं ण दिण्णं णिवट्टं गवेसिअंपि महालुद्धेण मह पइणा! संपइ किं होहिइ?" खणमवि घरम्मि ठाउमसक्का तक्खणं धावेमाणी विसंठुल-वत्थाभरणा एगागिणी पइसमीवं आवणम्मि आगआ। अयंडमागयं विवण्णमुहिं भज्जं विलोइअ धुत्तो खेअ-विम्हय-भीसालिअं चितेउमाढत्तो—"कहमणक्कमिअ[2]-देहलिदेसा एसा पण्णविहीए[3] एक्कला समोइण्णा? णूणं किमवि अरिट्ठं दीसइ अण्णहा कहमेवं भवइ?" एव तक्कंतेण दइएण ससंभमं पुट्ठं—"दइअे! कहमप्पणो इह आगया? अत्थि अणेगे किंकरा भिच्चा तुह पुरओ, कहं ण ते पट्ठविआ अज्ज मे समीवं? कहं हिमाणी-हयं मुणालपत्तं पिव पडिभासइ ते मुह-पोम्मं? का अमंगला मंगुला[4] पउत्ती ते कण्णा-तिहीभूआ?"

दीहरणीसासं मुंचंतीए ताए तुडिअ-सर अइसणिअं पइं एगओ किच्चा कहिअं—"सिग्घं गिहं वच्चंतु अज्जउत्ता, नच्चइ काइ विवइघणाघणघडा अम्ह सिरंमि। अत्थि परेहिमलक्खणिज्ज किमवि गुज्झं ण एत्थ पयडिउं सक्कं।

---

१ भीषिता २ अनतिक्रान्तदेहलिदेशा ३ पण्यवीथ्याम्—'बाजार' (इतिभाषा) ४ मगुला (दे०) अनिष्टा इत्यर्थः।

आगतोऽस्मि अहम् । अधुना किमनुष्ठातव्यमिति विमर्शनीयं किञ्चित् । इत्थं कथयित्वा राउलस्ततः पलायितः ।

एवमेव राउलेन भीषिता सा त्रस्ता किंकर्तव्यमूढा सम्मूढमानसा अतुच्छ आयल्ल (चित्तोद्वेग) वेदयितुं प्रवृत्ता — हा ! किमिदं जातम् ? कुपितो नरनाथः किमभद्रं करिष्यति ? हरे ! प्रचुरो हरिचन्दन-राशिः विद्यतेऽस्माकं गृहे । कथं न दत्तं नृपार्थं गवेषितमपि महालुब्धेन मम पत्या ? सम्प्रति किं भविष्यति ? क्षणमपि गृहे स्थातुमशक्ता तत्क्षणं धावन्ती विसस्थुल-वस्त्राभरणा एकाकिनी पतिसमीपं आपणे आगताः । अकाण्डमागतां विवर्णमुखीं भार्यां विलोक्य धूर्तो धनदत्तः खेद-विस्मय-मिश्रं चिन्तयितुमारब्ध —"कथमनतिक्रान्तदेहलिदेशा एषा पण्यवीथ्यामेकाकिनी समवतीर्णा ? किमप्यरिष्टं दृश्यतेऽन्यथा कथमेवं भवति ?" एवं तर्कयता दयितेन ससम्भ्रमं पृष्टम्—' दयिते ! कथं त्वमिह इहागता ? सन्त्यनेके किंकरा भृत्यास्तव पुरतः, कथं न ते प्रस्थापिता अद्य मे समीपम् ? कथं हिमानी-हृत मृणालपत्रमिव प्रतिभासते ते मुख-पद्मम् ? का अमङ्गला मङ्गुला (अनिष्टा) प्रवृत्तिस्ते कर्णातिथीभूता ?"

दीर्घनिश्वासं मुञ्चन्त्या तया त्रुटितस्वरमतिशनैः पतिमेकतः कृत्वा कथितम्—"शीघ्रं गृहं व्रजन्तु आर्यपुत्राः, नृत्यति काऽपि विपद्-घनाघनघटा अस्माकं शिरसि । अस्ति परैरलक्षणीयं किमपि गुह्यं नात्र

भिसमर्दिहिं वहमाणो सेट्ठी तक्खणं तत्तो चलिओ जायाए सद्धिं। णाणा-संकप्प-विगप्पपरो धावेंतो गिहम्मि पविट्ठो। 'दढमउलीकयदाराए'[1] ताए अतइअ[2]-वेज्जं राउल-साहिअं जहातहं सूइअं। पइदेव! कहं णिव-मग्गिअं चंदणं विज्ज-माणं पि अप्पणोप्पणिज्जं[3] कहं ण अप्पिअं? अइलोहो सव्वत्थ वज्जणिज्जो 'त्ति सच्चुत्ती।

णिसम्म घरणी-मुहेण राउल-पिसुणिअं अच्चत्थ-मुत्तत्थो जाओ लुद्धो। गोसग्गम्मि[4] जइ णिव-संतिआ दंडवासिआ पुरिसा आगम्म गिहगवेसणं काहिति, अचुच्छं चंदणभंडायारं च पेक्खिहिति, तया मे का दुद्दसा होहिइ? हद्धी! अच्चंतगिद्धीए सव्वं विद्धंसिअं! हा हा! मुहा वंचिओ मए भद्दो वराओ जिणदत्तो! मुहा गहिअं मुहा गमि-स्सइ मम सव्वस्सेण समं सव्वं संगहिअं चंदणं। अव्वो! अप्पो समओ, किं करणिज्जं मए अहुणा? अंते दंपइणो भयभीआ णिअ-करेहिं सव्वं महामोल्लं मलयजं रत्तीए गिहस्स पिट्ठओ एगंतठाणम्मि गरहिअ-वत्थुव्व परिट्ठविअं। ण एगमवि खंडं चंडभय-खंडिअ-माणसेण रक्खिअं णिअ-गेहम्मि। पुव्वं तं विक्किऊण जमज्जिआ धणमुद्दा सावि भय-हिट्ठेण तत्थेव छड्डिआ तेण। चंदणसंगहट्ठाणं गब्भ-गिहं पि गोव्वरेण लित्तं जहा तत्थ ण सिरिखंड-सोरहं मह-महइ सुएहं पि। पुणो पच्छिमरयणीए णिगडिअ गिहदुवारो सदारो णिप्फिडिओ णयरत्तोवि उव्विग्गो धणदत्तो। हा!

---

१ दृढमुकुलीकृतद्वारया २ अतृतीयवेद्यम् ३ अप्पणो-स्वयम्। अर्पणीयम् ४ गोसर्ग-प्रभाते (दे०)।

प्रकटयितु शक्यम्। भृश अधृति वहन् श्रेष्ठी तत्क्षण ततश्चलितो जायया सार्धम्। नाना-सकल्प-विकल्पपरो धावन् गृहे प्रविष्ट। दृढमुकुलीकृत-द्वारया तया अतृतीयवेद्य राउल-कथित यथातथ सूचितम्। पतिदेव! कथ नृपमार्गित त चन्दन विद्यमानमपि स्वय अर्पणीय कथ नार्पितम्? 'अतिलोभ सर्वत्र वर्जनीय' इति सत्योक्ति।

निशम्य गृहिणी-मुखेन राउल-पिशुनित अत्यर्थमुग्रस्तो जातो लुब्ध। गोसर्गे (प्रभाते) यदि नृपसत्का दण्डपाशिका पुरुषा आगम्य गृह-गवेषणा करिष्यन्ति, अतुच्छ चन्दन-भाण्डागार च प्रेक्षिष्यन्ते, तदा मे का दुर्दशा भविष्यति? हद्धी! अत्यन्त-गृद्धया सर्वं विध्वसितम्। हा। हा! मुधा वञ्चितो मया भद्रो वराको जिनदत्त। मुधा गृहीत मुधा गमिष्यति मम सर्वस्वेन सम सर्वं सगृहीत चन्दनम्। अव्वो! अल्प समय कि करणीय मयाऽधुना? अन्ते भीतौ दम्पती निजकरै सर्व महामूल्य मलयज रात्रौ गृहस्य पृष्टत एकान्त-स्थाने गर्हितवस्तुवत् परिष्ठापितम्। नैवमपि खण्ड चण्डभय-खण्डित-मानसेन रक्षित निजगृहे। पूर्वं तद्विक्रीय यदर्जिता धनमुद्रा साऽपि भयग्रस्तेन तत्रैव क्षिप्ता तेन। चन्दनसग्रहस्थान गर्भगृहमपि गोमयेन लिप्त, यथा तत्र न श्रीखण्ड-सौरभ प्रसरति सूक्ष्ममपि। पुन पश्चिम-रजन्या निगडित-गृहद्वार सदारो निस्फिटितो (निर्गतो) नगरादपि

विचित्ता किर कवडकलाए परिणई ! तम्हा 'माया भय' ति सच्चमुग्घुट्ठं णीइविऊरेहिं ।

नत्तविरामे[1] पच्छण्णं संपत्तो तत्थ राउलो। परित्तो भममाणो पिट्ठओ परिट्ठविअं चंदणरासिं विलोइऊण हट्ठो तुट्ठो जाओ । अहो ! फलवई जाया मे संचालिआ णिअडी[2]। कंटगो कंटगेण णीहरिओ । पावेण पाविअं णिअं उइयं पडिफलं । धणमुद्दा तक्खणं संगोविआ तेण समयण्णुणा[3]। पच्छा णिवसमीवं अवसरं पप्प गओ । सम्माणिओ लद्धासणो किं जुज्जइ 'त्ति जया णिवेण सागहं पुट्ठो तया णेण कहिअं—"णरिंद ! इच्छेमि हं इओ पच्चावलिउं । ण संकुले पुरम्मि मुणीणं मणो लग्गइ । भावावेसेण गिहिणो मुणिजणे वि आगरिसंति गिहपवंचेसुं । संसग्गोच्चिओ परभावस्सओ मुणिंद-चंदाणं । जहा गिहिणो मुणिसंसग्गेण लद्धवेरग्गा जायंते, तहेव मुणिणो अईव गिहि-सथवेण सिढिल-संजमा हवंति । तम्हा विवित्त-गहण-वणम्मि मुणिणिवासारिहो मढो संठाविअव्वो 'त्ति मए णिच्छिअं । दाणसीलेहिं णायरेहिं तज्जुग्गाणि विसिट्ठ-कट्ठाणि समप्पिआणि, ताणि रासीभूयाणि चिट्ठंति । तो सगडाणि जुप्पंति ताइ णेउं जहाठाणं । अण्णे णायरा सगडाइं दाउमईव अग्गहं कुणंति, परंतु वायावद्धेण मए णिवो चिअ जाइअव्वो 'त्ति चिंतिअ एत्थागओम्हि ।

णिग्गमणतप्परं जाणिऊण राउलं भूवई खिण्णो जाओ । मम परमोवयारी वच्चइ 'त्ति ण रुइअं, साहिअं च—

---

१ रात्रिविरामे २ निकृतिः ३ समयज्ञेन ।

उद्विग्नो धनदत्त । हा ! विचित्रा किल कपट-कलाया परिणति !
तस्माद् 'माया भयम्' इति सत्यमुद्घुष्ट नीतिविदुरै ।

भक्तविरामे प्रच्छन्न सम्प्राप्तस्तत्र राउल । परितो भ्रमन् पृष्टत परिष्ठापित चन्दनराशि विलोक्य हृष्टस्तुष्टो जात । अहो ! फलवती जाता मे सचालिता निकृति । कण्टक कण्टकेन नि सृत । पापेन प्राप्त निजमुचित प्रतिफलम् ! धनमुद्रा तत्क्षण सगोपिता तेन समयज्ञेन । पश्चात् नृपसमीपमवसर प्राप्य गत । सम्मानितो लब्धासन 'किं युज्यते' इति यदा नृपेण साग्रह पृष्टस्तदा तेन कथितम्—'नरेन्द्र ! इच्छाम्यह इत प्रत्यावलितुम् । न सङ्कुले पुरे मुनीना मनो लगति । भावावेशेन गृहिणो मुनिजनानपि आकर्षन्ति गृह-प्रपञ्चेषु । ससर्ग-त्याग परमावश्यक मुनीन्द्रचन्द्राणाम् । यथा गृहिणो मुनिससर्गेण लब्ध-वैराग्या जायन्ते, तथैव मुनयोऽपीव गृहि-ससत्वेन शिथिल सयमा भवन्ति । तस्माद् विविक्तगहनवने मुनिनिर्वासार्हो मठ सस्थापितव्य इति मया निश्चितम् । दानशीलैर्नागरैस्तद्योग्यानि विशिष्ट-काष्ठानि समर्पितानि, तानि राशीभूतानि तिष्ठन्ति । तस्माद् शकटानि युज्यन्ते तानि नेतु यथास्थानम् । अन्ये नागरा शकटानि दातुमतीवाग्रह कुर्वन्ति, परन्तु वाचा बद्धेन मया नृप एव याचितव्य इति चिन्तयित्वा अत्रागतोऽस्मि ।'

निर्गमन-तत्पर ज्ञात्वा राउल भूपति खिन्नो जात । मम पर-मोपकारी व्रजतीति न रुचित, कथित च— योगीश्वर ! चैताहशी

जोईसर ! का एआरिसी गमण-तुरा ? थोक्काणि दिणाणि वइक्कंताणि इहागयस्स भे । णिस्सगमाणसाण का संगदोस-सका ? पुणेति अप्पाए तुहसगमेए अम्हारिसा पावा मदा वि । तम्हा जगम-तूहाणि मुणिणो । का मग्गणा सगडाण, जेत्तिलाइ जुज्जति तेत्तिलाइ गिण्हतु किर । किमेत्थदाण-गारव ? अण्णं किमवि गहिअव्व महापसाएण भदतेण, परतु ण सपइअ गमण भविस्सइ ।

इच्छापहाणा मुणिणो हु ण अग्गहप्पहाणा । पवणस्स किं गमणमागमए च । अम्हकेरोवएस-पडिवालणमेव अम्ह दसण । जहाकाल पच्छावि आगमए ण किं सभावणिज्ज ? एव कहिअ तक्खण राउलो णिव आसीसाए तोसेमाणो[2] तओ चलिओ । णिवेण अग्गेगाणि जच्च[3]-वसह-जुत्ताणि सगडाणि उवईकयाणि । णिवसमीवत्तो गहिऊण ताणि चदणरासि-ससीममागओ । भरिअ ह्रिअदए तेसु । पुराओ किंचि दूर भरिअ-सगडाण सेढी ठाविआ पुरिमताल-पुर-पहम्मि । एव सव्व कज्ज जहट्ठिअ काऊण जिणदत्त भाणुमई-समीवमागम्म भणिअ—"गम्मइ[५] मए अज्ज पुरिमताल भो ! बहुदिणाणि अईआणि एत्थ । का समीहा भवयाण णणु ? पुट्ठ मग्ग-पत्थिएण इव राउलेण ।

"जम्मि वासरम्मि आयण्णिआ तुह मुहेण पुत्तस्स मगलपउत्ती (तओ पभिइ) जागरिआ अवखमा उक्कठा पुत्त-दसणट्ठ । ण रइ लब्भेमो खणमवि यत्थइ । पडिपल

---

१ जङ्गमतीर्थानि २ तोषयन् ३ जात्यवृषभयुक्तानि ४ उपढौकितानि ५ गम्यते ।

गमन त्वरा ? स्तोकानि दिनानि व्यतिक्रान्तानि इहागतस्य भवत । निस्सगमानसाना ना सङ्ग-दोष-शङ्का ? पुनस्त्वादमान तव रागमेन अस्मादृशा पापा मन्दा अपि । तस्माद जङ्गम-तीर्थानि मुनय । का मार्गणा शकटानाम्, यावन्ति युज्यन्ते तावन्ति गृह्णन्तु किल । किमनदान-गौरवम् ? अन्यत् किमपि गृहीतव्य महाप्रसादेन भदन्तेन, परन्तु न साम्प्रतिक गमन भविष्यति।

इच्छा-प्रधाना मुनयो हु (निश्चये) नाग्रहप्रधाना । पवनस्य किं गमनमागमन च । अस्मदीयोपदेश-प्रतिपालनमेव अस्माय दर्शनम् । यथाकाल पश्चादपि आगमन किं न सभावनीयम् ? एव कथयित्वा तत्क्षण राउलो नृपमाशिषा तोषयन् ततश्चलित । नृपेणानेकानि शकटानि जात्य वृषभ-युगलानि उपदीकृतानि । नृप समीपाद् गृहीत्वा तानि चन्दनराशि-समीममागत । भरित हरिचन्दन तेषु । पुरात् किञ्चिद दूर भरित-शकटाना श्रेणि स्थापिता पुरिमतालपुर-पथे । एव सर्व कार्य यथास्थित कृत्वा जिनदत्त-भानुमती-समीपमागम्य भणितम्—"गम्यते मयाद्य पुरिमताल भो । बहुदिनानि अतीतानि अत्र । का समीहा भवता ननु ?" पृष्ट मार्गप्रस्थितेन इव राउलेन।

यस्मिन् वासरे आकर्णिता तव मुखेन पुत्रस्य मगल-प्रवृत्तिस्तत प्रभृति जागरिता अक्षमा उत्कण्ठा पुत्र दर्शनार्थम् । न रतिं लभावहे क्षणमपि कुत्रापि । प्रतिपल प्रतीक्षावहे इवा सङ्गोपितसण्डोपकरणौ

विरमालेमो तुमं, संगोविअ-भंडोवगरणा विहिअ-कारणिज्ज-कज्जा वयं सहगमणट्ठ"' झडिति उत्तरिअं जिणदत्तेण ।

"तुरीअउ ता, कस्स पडिक्खा विज्जइ विरत्तचित्ताणं? गच्छेमि इआणिमेवाहं तु ।" अग्गओ पयण्णासं कुणंतेण इव राउलेण उईरिअं ।

भाणुमईए अणुगमिज्जमाणमग्गो खंधारोविअ-णिअ-भारो सेट्ठी फुरंताहरपुड-फुडणमुक्कारो[1] अणुपयं राउलस्स गंतुमाढत्तो । तुरंतमागया एए सगडसेढीए समीवं । सावि संचालिआ राउलेण ।

"कहं मुहा भारो वहिज्जइ परिणयवएण भवया? सगडेसु का गणणा अस्स? किवाए ठाविअव्वो णीसंकं" चोइअं राउलेण अणाउलं ।

'णत्थि दुव्वहो भारो राउल! सुहं तं वहामि अहय' कहिअं रिउमइणा सेट्ठिणा ।

तहवि सइ संजोगम्मि भारणिव्वहणं ण सोहणं 'ति लवंतेण राउलेण सेट्ठिखंधाओ णिअ-हत्थेण भारपोट्टलिआ उत्तारिआ, सुरक्खिअं रक्खिआ य सगडमज्झयारम्मि । भाणुमई-हत्थगयं किमवि लहुं वत्थुं तहेव ठविअं सग्गहं । उल्लंघिए पुण थेवमेत्ते पहम्मि पुणो राउलेण उल्लविअं— "अत्थि एगंमि सगडम्मि रित्तं ठाणं, कहं ण अच्छिज्जइ[2] तुब्भेहिं तत्थ? ण थेरेहिं पायगमणं सुसक्कं 'ति किवाए आसिआ कायव्वा ।"

---

१ स्फुरदधरपुटस्फुटनमस्कारः २ आस्यते ।

चिन्तितकरणीय-कार्यो आवां सहगमनार्थम्" झटिति उक्तमिति जिनदत्तेन ।

'त्वर्यतां तत कस्य प्रतीक्षा विद्यते विरक्त-चित्तानाम् । गच्छामी-दानीमेवाहं तु"—अग्रत पदन्यास कुर्वतैव राउलेन उदीरितम् ।

भानुमत्याऽनुगम्यमानमार्गं स्कन्धारोपितनिजभार श्रेष्ठी स्फुरदधरपुट-स्फुट नमस्कारोऽनुपद राउलस्य गन्तुमारब्ध । त्वरित-मागता एते शकटश्रेण्या समीपम् । साऽपि सम्भालिता राउलेन ।

'कथ मुधा भार उह्यते परिणतवयसा भवता ? शकटेषु का गणनाऽस्य ? कृपया स्थापयितव्यो निस्संकम्' चोदित राउलेनाना-कुलम् ।

'नास्ति दुर्वहो भारो राउल ! सुखं त वहामि अहम्' कथित-मृजुमतिना श्रेष्ठिना ।

तथापि सति सयोगे भारनिर्वहण न शोभनम् इति लपता राउलेन श्रेष्ठि स्कन्धाद् निजहस्तेन भारपोट्टलिका अवतारिता, सुरक्षित रक्षिता च शकटमध्ये । भानुमती-हस्तगत किमपि लघुवस्तु तथैव स्थापित साग्रहम् । उल्लङ्घित पुन स्तोकमार्गे पथि पुन राउले-नोल्लपितम्—'अस्ति एतस्मिन् शकटे रिक्त स्थानम्, कथ नास्यते युष्माभिस्तत्र ? न स्थविरै पादगमन सुकरमिति कृपया आसितव्यम् ।'

"विलिआ भवेमु अम्हे तुह सेवाए जोगिंद ! अत्थि अम्हारिच्छाण कत्तव्व साहूण सेवाए, तत्थ पच्चुल्ल घेप्पइ तुह सेवा अम्हेहिं। ण जुग्गमिण, तो ण चिट्ठिहामो सगडम्मि अम्हे" साहिअ साभार सेट्ठिणा ।

'पढुम किर थेराण वेयावच्च कायव्व, ण अम्हारिसाण बालगाण । णूणमासिअव्व तुब्भेहिं' एव 'मा मा' कहेतावि दंपइणो साणुरोहमारोहाविआ सच्छायम्मि सगडतरालम्मि राउलेण ।

केरिसो महाणुभावोऽय णिक्कारणमुवयारी राउलो ! कहमुवचरइ गुरुजणे इव णे ! अहवा पयडि-सिद्धमिण मणसीण ! अहो ! कह पिवासाहारग णीर ? कह छुहा-सामग वा कूर ? कहं पयासयरो भाणू ? कह सीअलो वा चदो ?

अत्थु, इमेहिं वहु अणुरुद्धो वि ण सयमारुहए कयावि सगड । भिक्खायरिआए भत्तमाणेऊण सहत्थेण रधेऊण अमुणो भोएऊण पच्छा सय एगहुत्त भोअण कुणइ । इत्थ बहुसुहेण एए णेतो अविच्छिण्ण पह कप्पतो अहिपुरिम-ताल सत्तर वच्चइ राउलो । अहो केरिस पोरिस !

इअ सिरिचदणमुणि-विरइआए णिअगिहगमण-राउल-
पट्ठवण-जिणदत्तमेलण-चदणगहण-पच्चाव
लणाइवण्णणेहि सोहिआए
रयणवालकहाए छट्ठो
ऊसासो समत्तो
॥ ६ ॥

"व्रीडिता भवामो वयं तव सेवया योगीन्द्र ! अस्ति अस्मादृक्षाणां कर्तव्यं साधूनां सेवायाः तत्र प्रत्युत गृह्यते तव सेवाऽस्माभिः । न योग्यमिदम्, तस्मात् न स्थास्यामः शकटे वयम्" कथितं साभारं श्रेष्ठिना ।

'प्रथमं किल स्थविराणां वैयावृत्यं कर्त्तव्यं, नास्मादृशानां बालकानाम् । नूनमासितव्यं युष्माभिः' एवं मा ! मा ! कथयन्तावपि जम्पती सानुरोधमारोहितौ सच्छाये शकटान्तराले राउलेन ।

कीदृशो महानुभावोऽयं निष्कारणमुपकारी राउलः ! कथमुपचरति गुरुजनान् इव अस्मान् ! अथवा प्रकृतिसिद्धमिदं मनस्विनाम् । अहो ! कथं पिपासाहारकं नीरम् ? कथं क्षुधाशामकं वा क्रूरम् ? कथं प्रकाशकरो भानुः ? कथं शीतलो वा चन्द्रः ?

अस्तु, एताभ्यां बहु अनुरुद्धोऽपि न स्वयमारोहति नवापि शयटम् । भिक्षाचर्यया भवतमानीय स्वहस्तेन रन्ध्वा, इमौ भोजयित्वा पश्चात् स्वयमेकवारं भोजनं करोति । इत्थं बहुसुखेन एतौ नयन् अविच्छिन्नं प्रस्थानं कल्पयमानोऽभिपुरिमतालं सत्वरं व्रजति राउलः । अहो ! कीदृशं पौरुषम् !

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितायां निजगृहगमन-राउल
प्रस्थापन-जिनदत्तमेलन-चन्दनग्रहण-प्रत्यावर्त-
नादिवर्णनैः शोभितायां रत्नपाल-कथायां
षष्ठ उच्छ्वासः समाप्तः ।

॥ ६ ॥

७

सत्तमो ऊसासो



वईअप्पाया छम्मासा । ण कहमागओ अज्जप्पभिइ राउलो ? किं ण मिलिआ मे पिअरा तस्स ? वच्चंतो सो किं पहभट्ठो जाओ ? कम्मि पुरम्मि अच्चंत-जणभत्ती-मोहिओ वा किं तत्थेव ठिओ ? पाइअ-सोहा-मंडिए कम्मि वि गिरि—कंदरम्मि झाणत्थो वा भूओ ? हा ! चुविकअं मए जाणगेणावि, कहमजाणगो राउलो पट्ठविओ देसंतरम्मि ? णो, णो, अत्थि सो अईव कज्ज-कुसलो महप्पा इंगिआगारसंपण्णो समयण्णू उज्जमसीलो पवड्ढमाणुच्छाहो सच्चसंधो अ जोई । ता वच्चेमि दक्खिणापहं पडिवालेमि आगच्छमाणे पहिए । संभावेमि काइ राउल-पउत्ती पत्ता हवेज्जा । एवं विचिंतेंतो रयणवालो उच्छुअयाए गच्छइ पच्चहं दाहिणं दिसिभायं । दूरेण आगतुअ-जणे पलोएइ, विरमालेइ, णिरिक्खइ य तस्स मिलणासाए । तद्दिसिभायत्तो

७

सप्तम उच्छ्वासः



व्यतीत-प्राया षण्मासा । न कथमागतोऽद्यप्रभृति राउल ? किं न मिलितो मे पितरौ तस्मै ? व्रजन् स किं पथभ्रष्टो जात ? कस्मिन् पुरेऽत्यन्त-जनभक्ति-मोहितो वा किं तत्रैव स्थित ? प्राकृत-शोभा-मण्डिते कस्मिन्नपि गिरिकन्दरे ध्यानस्थो वा भूत ? हा ! स्खलित मया ज्ञामकेनाऽपि, कथमज्ञायको राउल प्रस्थापितो देशान्तरे ? नो, नो, अस्ति सोऽतीव कार्य-कुशलो महात्मा इङ्गिताकार-सम्पन्न समयज्ञ उद्यमशील प्रवर्धमानोत्साह सत्यसन्धश्च योगी । तस्मात् व्रजामि दक्षिणापथ प्रतिपालयामि आगच्छन पथिकान् । सभावयामि काऽपि राउल-प्रवृत्ति प्राप्ता भवत् ' एव विचिन्तयन् रत्नपाल उत्सुकतया गच्छति प्रत्यह दक्षिण-दिग्भागम् । दूरेण आगन्तुक-जनान् प्रलोकते, प्रतीक्षते, निरीक्षते च तस्य मिलनाऽऽशया । तद्दिग्भागात् आगतान् आध्विकान् रुन्ध्वा-रुन्ध्वा राउलस्य

आगए अद्धाणिए[1] रोहिअ-रोहिअ[2] राउलस्स वेसभूस, आगिइ, वयण-माहुरिअ च वण्णिअ एआरिसो कोई बाल-जोई केणावि दिट्ठो पलोइओ 'त्ति पडिपुच्छेइ, तक्केइ च सउक्कठ। परं ण तारिसो दिट्ठो, मिलिओ, सगओ'त्ति जणावेति केइ। अते हयासो भविअ पुण गिहमागच्छेइ, सकप्पविगप्पण अहोरत्त गमेइ, ण खणपि रइ लब्भइ।

एगया सुमिण-सकेएण पुणरवि पच्चूस-समयम्मि गओ रयणवालो तस्स पहं णिभालेउ। गिद्ध-दिट्ठीए पह पलोए-माणस्स राउल-सरिच्छो कोइ आगच्छतो णयणायण गओ। अहह! काइ अणणुहूअ-पुव्वा सुहाणुहूई हिअएण अणुहूआ। पुणो पुणो सुण्ह-दिट्ठीए पेच्छमाणेण राउलोऽय 'त्ति विण्णाय णेण। सो च्चिअ सो च्चिअ कहेतो तद्दिसाए तक्खण धाविओ। अणहूअ विरह-विअण विम्हरेतो अहो 'सागय-सागयं' आमेडतो सम्मुहीणो जाओ। अते दोण्णि वि परोप्पर बाहुणिप्पीड मिलिआ, अण्णुण्ण-बाहजलेण ण्हाया, कुसल-समायारेहिं य अवगया जाया। कत्थ मे पडिच्छणिज्जा जणणी-जणग 'त्ति पुच्छा-परम्मि रयणवालम्मि राउलेण साहिअ—"समीवम्मि णयरुज्जाणम्मि चिट्ठ ति तुह दसण-रणरणाइया ते। सपइ सपरिअर गतव्व तुमए तत्थ सयराहं।" इअ आयण्णिअ अइउच्छुओ जाओ रयणवालो। तत्तो तक्खण णयरमागओ। पुरम्मि वित्थरिआ जिणदत्ता-गमणपउत्ती। सव्वेवि कुडु विणो, मित्ता, णयरप्पमुहा, समा-णवयाय रयणवालेण सद्धि जिणदत्ताहिमुह गतु समुच्छुआ

१ आधिवाए २ रुष्वा रुष्वा

वेषभूषामाकृतिं, वचनमाधुर्यं च वर्णयित्वा 'एतादृशः कोऽपि बालयोगी केनाऽपि दृष्टः, प्रलोकितः' इति प्रतिपृच्छति, तर्कयति च सोत्कण्ठम्, परं तादृशो दृष्टो, मिलितः, समतः इति न ज्ञापयन्ति केऽपि। अन्ते हताशो भूत्वा पुनर्गृहमागच्छति, सङ्कल्प-विकल्पेन अहोरात्रं गमयति, न क्षणमपि रतिं लभते।

एकदा स्वप्न-सङ्केतेन पुनरपि प्रत्यूष-समये गतो रत्नपाल-स्तस्य पथं निभालयितुम्। गृध्रदृष्ट्या प्रलोकमानस्य राउल-सदृशः कोऽपि आगच्छन् नयनायनं गतः। अहह! वाप्यननुभूतपूर्वा सुखानुभूतिर्हृदयेनानुभूता। पुनः पुनः सूक्ष्मदृष्ट्या प्रेक्षमाणेन राउलो ऽयमिति विज्ञातं तेन। स एव स एव कथयन् तद् दिशि तत्क्षणं धावितः। अनुभूता विरह वेदना विस्मरन् अहो! 'स्वागतं स्वागतं' आक्रन्दयन् सम्मुखीनो जातः। अन्ते द्वावपि परस्परं बाहुनिष्पीडं मिलितौ, अन्योन्य-वाष्पजलेन स्नातौ, कुशलसमाचारैश्च अवगतौ जातौ। 'कुत्र मे प्रतीक्षणीयौ जननीजनकौ' इति पृच्छापरे रत्नपाले राउलेन कथितम्—"समीपे नगरोद्याने तिष्ठतः तवदर्शन-रणरणायितौ तौ। सम्प्रति सपरिकरं गन्तव्यं त्वया तत्र शीघ्रम्।' इति आकर्ण्य अत्युत्सुको जातो रत्नपालः। ततस्तत्क्षणं नगरमागतः। पुरे विस्तृता जिनदत्तागमन-प्रवृत्तिः। सर्वेऽपि कुटुम्बिनो, मित्राणि, नगर-प्रमुखाः, समानवयसश्च रत्नपालेन सार्धं जिनदत्ताभिमुखं गन्तु

जाया। राउलेण पुव्वमेव तत्थ गंतूण भाणुमईए जिणदत्तस्स य दिप्पिरा वेस-भूसा कया। नाणालंकारेहिं मंडिआ समुण्णयासणम्मि णिवेसिआ एए। सव्वावि उब्भडा ववत्था जाया।

इओ सपरिवारं महया विड्डरेण णिग्गओ रयणवालो जणणी-जणय-दंसणट्ठं। जयजय-रवेण सद्धिं संपत्तो तत्थ सो। चक्खुपहे पिअराणं कयंजली ऊसलिअ-रोमकूवो संसूपायं तेसिं चरणकमलेसुं णिवडिओ। आणंदाइरेगेण पिअरेहिं पिअपुत्तो बाहाहिं पगिज्झ उट्ठाविओ, उरसा गाढ-मालिगिओ, मत्थयम्मि ओसिंघिओ[3], सुहपण्हेहिं ससिणेहं च पुच्छिओ। भाणुमई तु कमवि अवत्तव्वं ठिइं पत्ता। णयणेहिं पेमसुधारं वाहेंती अणिमिसं पुत्तं पलोअंती अज्जाहं पुत्तवंती, सोहग्गवंती, अणण्णपुण्णा, धण्णा य संवुत्त 'त्ति अणुहवीय। संमिलिआ सव्वेवि कुडुंबिणो सुहदुहकहाणयं कुणेमाणा। सुण्णं तुह ठाणं अणहूअ 'ति णयरमहंतएहिं सेट्ठि सम्माणमाणेहिं साहिअं। वायाणमगोअरो तत्थ आणंदो वट्टिओ। अंते सव्वेहिं सद्धिं जिणदत्त-सेट्ठिणो आडंबरिल्ला णयरप्पवेस-जत्ता णिग्गया। अणच्छाइअ-जाणम्मि पुत्तं अग्गओ णिवेसिअ दंपइणो णाणावाइत्तेहिं, जय-जय-सद्देहिं, परसहस्सणायरेहिं च सभं पुरं पविट्ठा। साणंदमागयया णिअं गिहं सोलस-वासाणतरं पुणो एए। अभूअपुव्वो सेट्ठि-हम्मम्मि जणाण मेलो लग्गो। उप्पेहड[4]

---

१ विड्डरेण-आडम्बरेण २ सास्रुपातम् ३ ओसिंघिओ (दे०) घ्रात इत्यर्थः ४ उप्पेहड (४) साडम्बरम्।

समुत्सुका जाता । राउलेन पूर्वमेव तत्र गत्वा भानुमत्या जिनदत्तस्य दीप्रा वेशभूषा कृता । नानालङ्कारैर्मण्डितौ समुन्नतासने निवेशितौ एतौ । सर्वाऽपि उद्भटा व्यवस्था जाता ।

इत सपरिवार महता विड्डिरेण (आडम्बरेण) निर्गतो रत्नपालो जननी-जनक-दर्शनार्थम् । जयजयरवेण सार्धं सम्प्राप्तस्तत्र स । चक्षुष्पथे पित्रो कृताञ्जलिरुल्लसित-रोमकूप साश्रुपात तयो चरणेषु निपतित । आनन्दातिरेकेण पितृभ्या प्रियपुत्रो बाहुभि प्रगृह्य उत्थापित उरसा गाढमालिङ्गित, मस्तके ओसिंघिओ (घ्रात) सुखप्रश्नै सस्नेह च पृष्ट । भानुमती तु वामपि अवक्तव्या स्थिति प्राप्ता । नयनाभ्या प्रेमाश्रुधारा वाहयन्ती अनिमिष पुत्र प्रलोकमाना अचाह पुत्रवती, सौभाग्यवती, अनन्य पुण्या धन्या च सवृत्ता इति अन्वभवत् । सम्मिलिता सर्वेऽपि कुटुम्बिन सुख-दु ख-कथानक कुर्वन्त । शून्य तव स्थानमनुभूतमिति नगरमहत्कै श्रेष्ठिन सम्मानयद्भि कथितम् । वाचामगोचरस्तत्रानन्दो वर्तित । अन्ते सर्वै सार्ध जिनदत्तश्रेष्ठिन आडम्बरवती नगर-प्रवेश-यात्रा निर्गता । अनाच्छादिते याने पुत्रमग्रतो निवेश्य दम्पती नानावादित्रै जयजयशब्दै , पर-सहस्रनागरैश्च सम पुर प्रविष्टौ। सानन्दमागतो निजगृह षोडश-वर्षानन्तर पुनरेतौ। अभूतपूर्व श्रेष्ठिहर्म्ये जनाना मेलो लग्न ।

जाया। राउलेण पुव्वमेव तत्थ गंतूण भाणुमईए जिणदत्तस्स य दिप्पिरा वेस-भूसा कया। नाणालंकारेहिं मंडिआ समुण्णयासणम्मि णिवेसिआ एए। सव्वावि उब्भडा ववत्था जाया।

इओ सपरिवारं महया विड्डिरेण[1] णिग्गओ रयणवालो जणणी-जणय-दंसणट्ठं। जयजय-रवेण सद्धिं संपत्तो तत्थ सो। चक्खुपहे पिअराणं कयंजली ऊसलिअ-रोमकूवो संसूपायं[2] तेसिं चरणकमलेसुं णिवडिओ। आणंदाइरेगेण पिअरेहिं पिअपुत्तो बाहाहिं पगिज्झ उट्ठाविओ, उरसा गाढ-मालिंगिओ, मत्थयम्मि ओसिंघिओ[3], सुहपण्हेहिं ससिणेहं च पुच्छिओ। भाणुमई तु कमवि अवत्तव्वं ठिइं पत्ता। णयणेहिं पेमसुधारं वाहेंतो अणिमिसं पुत्तं पलोअंती अज्जाहं पुत्तवंती, सोहग्गवंती, अणण्णपुण्णा, धण्णा य संवुत्त 'त्ति अणुहवीय। संमिलिआ सव्वेवि कुडुंबिणो सुहदुहकहाणयं कुणेमाणा। सुण्णं तुह ठाणं अणहूअ 'त्ति णयरमहंतएहिं सेट्ठि सम्माणमाणेहिं साहिअ। वायाणमगो-अरो तत्थ आणंदो वट्टिओ। अंते सव्वेहिं सद्धिं जिणदत्त-सेट्ठिणो आडंबरिल्ला णयरप्पवेस-जत्ता णिग्गया। अणच्छा-इअ-जाणम्मि पुत्तं अग्गओ णिवेसिअ दंपइणो णाणावाइत्तेहिं, जय-जय-सद्देहिं, परसहस्सणायरेहिं च समं पुरं पविट्ठा। साणंदमागयया णिअं गिहं सोलस-वासाणंतरं पुणो एए। अभूअपुव्वो सेट्ठि-हम्मम्मि जणाणं मेलो लग्गो। उप्पेहडं[4]

---

१ विड्डिरेण-आडम्बरेण २ साश्रुपातम् ३ ओसिंघिओ (दे०) घ्रात इत्यर्थः ४ उप्पेहड (४) साडम्बरम्।

समुत्सुका जाता । राउलेन पूर्वमेव तत्र गत्वा भानुमत्या जिनदत्तस्य दीप्रा वेशभूषा कृता । नानालङ्कारैर्मण्डितौ समुन्नतासने निवेशितौ एतौ । सर्वाऽपि उद्‌भटा व्यवस्था जाता ।

इत सपरिवार महता विड्डिरेण (आडम्बरेण) निर्गतो रत्नपालो जननी-जनक-दर्शनार्थम् । जयजयरवेण सार्धं सम्प्राप्तस्तत्र स । चक्षुष्पथे पित्रो कृताञ्जलिरुल्लसित-रोमकूप साश्रुपात तयो चरणेषु निपतित । आनन्दातिरेकेण पितृभ्या प्रियपुत्रो बाहुभि प्रगृह्य उत्थापित उरसा गाढमालिङ्गित, मस्तके ओसिंघिओ (घ्रात) सुखप्रश्नं सस्नेह च पृष्ट । भानुमती तु कामपि अवक्तव्या स्थितिं प्राप्ता । नयनाभ्या प्रेमाश्रुधारा वाहयन्ती अनिमिष पुत्र प्रलोक-माना अद्याह पुत्रवती, सौभाग्यवती अनन्य-पुण्या धन्या च सवृत्ता इति अन्वभवत् । सम्मिलिता सर्वेऽपि कुटुम्बिन सुख-दु ख-कथानक कुर्वन्त । शून्य तव स्थानमनुभूतमिति नगरमहत्कै श्रेष्ठिन सम्मान-यद्‌भि कथितम् । वाचामगोचरस्तत्रानन्दो वर्तित । अन्ते सर्वै सार्धं जिनदत्त श्रेष्ठिन आडम्बरवती नगर-प्रवेश-यात्रा निर्गता । अनाच्छादिते याने पुत्रमग्रतो निवेश्य दम्पती नानावादित्रै जयजयशब्दै, पर-सहस्रनागरैश्च सम पुर प्रविष्टौ । सानन्दमागतौ निजगृह षोडश-वर्षानन्तर पुनरेतौ । अभूतपूर्व श्रेष्ठिहर्म्ये जनाना मेलो लग्न ।

पीइ-भोयणं जायमेएसिं । पुव्व-परिचिआ कम्मगरा भिच्चा चेडीओ बाणोत्तरा य सयमागम्म मिलिआ । सव्वं कज्जं सुट्ठिअं जायं । अघणो धणं, गयक्खो लोअणं, बुभुक्खिओ भोअणं च पप्प जहासुहमणुहवइ, तहा एए पुत्तं पप्प निब्भंत-सुहिआ जाया । खणमवि ण पुत्तं परोक्खं काउमिच्छंति । सयण-भोअण-पाणाइसु जुवाणं पि पुत्तं सिलिवायइ[1] माया भाणुमई ।

इओ हरिचंदणं विक्किणिअ, अमिअं धणं मुत्ताहलाइअं च गहिअ राउलो तत्थ समागओ । सेट्ठिणो समक्खं रयण-वालमहिमुहं कुणमाणेण तेण वुत्तं—"सेट्ठिणंदण ! गिण्हसु, तुह पिउपाय-विढविअं अमिअं धणं" एवं कहिअ अग्गओ रक्खिअं विरिथिण्णं दविणजायं । तं विलोइअ सच्छरिज्ज सहासं जिणदत्तेण भणिअं—"राउल ! कुओ आणिआ इमिआ धणरासी ? कट्ठहारग-कम्मकारगेण मए कहमेत्तिल्लं धणं संचिणिउं सक्किज्जइ । णं मोरउल्ला मे गारव-गाहा गेआ । ण आणिअं विसिट्ठं किमवि पएसंतराओ ।"

हसमाणेण राउलेण पुणो वज्जरिअ सगज्जं—"अत्थि सव्वं भवईयं, णत्थि अण्णस्स किमवि । ण मए जोइणा मुहा पलावो कायव्वो । सिट्ठिवर ! जं सुक्कं कट्ठं तुमए दुवालस-वरिस-पेरंतं विक्किअं तं सव्वममरचंदणं । तेण धुत्तेण जाण-माणेणावि ण गुज्झं पयडीकयं, किंतु मए परिलक्खिअं तं । पच्छा केणवि छलेण विक्कीअ मोल्लेण समं[2] पुणरावट्टिअं समं[3] चंदणं, जाव सव्वोवि जहाभूअं साविओ वुत्तंतो ।"

---

१ पोतमिवाचरति २ सार्धं ३ समस्त ।

उप्पेहड (साडम्बर) प्रीति-भोजन जातमेतेषाम् । पूर्वपरिचिता कर्मकरा भृत्याश्चेट्यो वाणोत्तराञ्च स्वयमागम्य मिलिता । सर्वं कार्यं सुस्थित जातम् । अधनो धन, गताक्षो लोचन, बुभुक्षितो भोजन च प्राप्य यथा सुखमनुभवति तथा एतौ पुत्र प्राप्य नितान्त सुखितौ जातौ । क्षणमपि न पुत्र परोक्ष कर्तुमिच्छत । शयन-भोजन-पानादिषु युवानमपि पुत्र सिलिबायति (पोतमिवाचरति) माता भानुमती ।

इत हरिचन्दन विक्रीय अमित धन मुक्ताफलादिक च गृहीत्वा राउलस्तत्र समागत । श्रेष्ठिन समक्ष रत्नपालमभिमुखी कुर्वता तेनोक्तम्—श्रेष्ठिनन्दन ! गृहाण तव पितृपादार्जितममित धनम् एव कथमिवा भ्रमतो रक्षित विस्तीर्ण द्रविणजातम् । तद् विलोक्य साश्चर्यं सहास जिनदत्तेन भणितम्—"राउल ! कुत आनीतोऽय धनराशि ? काष्ठहारककर्मकारेण मया कथमियद् धन सचेतु शक्यते ? न मुधा मे गौरव-गाथा गेया । मानीत विशिष्ट किमपि प्रदेशान्तरात् ।

हसता राउलेन कथित सगर्जम्—"अस्ति सर्वं भवदीयम्, नास्ति अन्यस्य किमपि । न मया योगिना मुधा प्रलाप कर्त्तव्य । श्रेष्ठि-प्रवर ! यच्छुष्क काष्ठ त्वया द्वादशवर्षपर्यन्त विक्रीत तत् सर्वममर-चन्दनम् । तेन धूर्तेन ज्ञायमानेनाऽपि न गुह्य प्रकटीकृतम्, किन्तु मया परिलक्षित तत् । पश्चात् केनाऽपि छलेन विक्रीत-मूल्येन सम पुनरावर्तित मम चन्दनम्, यावत् सर्वोऽपि यथाभूत श्रावितो वृत्तान्त ।

अच्चुच्छं बुद्धिकोसलमवगंतूण सव्वेवि विम्हयसेरा-णणा जाया । अव्वो ! धण्णोऽयं राउलो केरिसो दक्खो ! एगकज्जम्मि अणेगकज्ज-साहगो । कहं विप्पतारिअं धणं पुणो हत्थगयं कयं ? सव्वेसिं मुहकमलेसुं राउलस्स जय-सोरहं महमहिअं । पवुड्ढ-धणेसु अईव धणवुड्ढी जाया पुण । अच्चाणंदेण खणा इव दिअहा अइक्कमंति एएसिं ।

एकसिअं रयणवालेण राउलं पइ सखेयं साहिअं—"राउल ! णिवडिओम्हि चिंता सायरम्मि, जओ गंतव्व-मवस्सं अत्थि मए ससुरालए सहम्मिणिमाणेउं, परंतु चिर-विरह-पीलिआ मे अम्मापिउणो खणमवि णयण-वत्तणीओ ण मं दूरेउमिच्छंति । दुद्धदड्ढा जहा तक्कमवि सफुक्कारं पिबेति, तहा मे विरहग्गि-संधुक्किआ दूरगमणक्खरमवि ण ते सहेउं सक्का । संपइ किं कायव्वं मए 'त्ति ण णज्जइ दुविहा-गएण माणसेण ।"

सेराणणेणावि गहिरीहोतेण[1] राउलेण पाउक्कयं—'ण विम्हरिज्जइ[2] किं तं अणुहविणो ससुरस्स सिक्खा तुमए। जहा—अत्थि लंबो पवासो, दुल्लहं पुणरागमणं, सद्धिं चिअ णेअव्वा सहम्मिणी । ण चत्तव्वा एगागिणी एत्थ । परं ण तुम्हेहिं आदेज्ज-वयणस्स गारवं लक्खिअं, मुणिअं, चिंतिअं पुण । संपइ चिंताए किं संपज्जइ ? भज्जा-णयणं आवस्सगं विज्जइ, जइ कहेइ भवं[3], तया अहं गच्छेमि एगागो तं णेउं । को अत्थि अण्णो उवाओ ?"

---

१ गभीरीभवता २ विस्मर्यते ३ भवान् ।

अतुच्छ बुद्धिकौशलमवगत्य सर्वेऽपि विस्मय-स्मेराननाः जाता । अव्वो ! धन्योऽय राउल कीदृशो दक्ष ! एककार्ये अनेक-कार्य-साधक । वथ विप्रतारित धन पुनर्हस्तगत कृतम् । सर्वेषा मुखकमलेपु राउलस्य जय सौरभ प्रसृतम् । प्रवृद्धघनेपु अतीव घनवृद्धिर्जाता पुन । अत्यानन्देन क्षणा इव दिवसा अतिक्रमन्ति एतेषाम् ।

एकदा रत्नपालेन राउल प्रति सखेद कथितम्—"राउल ! निप-तितोऽस्मि चिन्तासागरे, यतो गन्तव्यमवश्यमस्ति मया श्वसुरालये सधर्मिणीमानेतुम्, परन्तु चिरविरहपीडितौ मे माता पितरौ क्षणमपि नयन-वर्तनीतो न मा दूरयितुमिच्छत । दुग्धदग्धा यथा तक्रमपि सफुत्कार पिबन्ति तथा मे चिरविरहाग्नि-सधुक्षितौ दूरगमनाक्षरमपि न तौ सोढु शक्तौ । 'सम्प्रति किं कर्त्तव्य मया' इति न ज्ञायते दुवि धागतेन मानसेन ।"

स्मेराननेनाऽपि गभीरीभवता राउलेण प्रादुष्कृतम्—"न स्मर्यते किं अनुभविन श्वसुरस्य शिक्षा त्वया ? यथा—अस्ति लम्ब प्रवास, दुर्लभ पुनरागमनम्, सार्धमेव नेतव्या सधर्मिणी, न त्यक्तव्या एकाकिनी अत्र । पर न युष्माभिरादेयवचनस्य गौरव लक्षित, ज्ञात, चिन्तित पुन । सम्प्रति चिन्तया किं सम्पद्यते ? भार्यानयनमावश्यक विद्यते, यदि कथयति भवास्तदाऽह गच्छाम्येकाकी ता नेतुम् । कोऽस्ति अन्य उपाय ?

सुणिऊण राउलस्स भणिइं हित्थो जाओ रयणवालो। कहमेव भणसि राउल ! जत्थ मए च्चिअ गतव्व तत्थ तुह सपेसण लज्जापय। दत्त मए ससुरस्स सम्मुह वयणं ज पच्चावलिस्सामि सिग्घमेव सहयरिं[1] णेउ। वयण-पालण अत्थि सप्पुरिसाणं कत्तव्व। पुणो जाए करो गहिओ, जा मे अद्धगिणी जाया, अहमेव जाए एगाहारो, ताए हेउणो मे तत्थ गमण समुइअ। पिअरे[2] विण्णविअ सिग्घाइसिग्घ गतु-कामोम्हि अहय। णत्थि अण्णो विगप्पो। इइ पइदेवस्स कत्तव्व-पालण-तप्परत्तिम परिलक्खिअ अईव आणदिआ जाया राउलरूवा रयणवई। सपइ अहमवि मूलरूवा होमि 'त्ति णिच्छिअ णाए। तक्खण पविट्ठा मज्जण-घरम्मि। उत्तारिओ राउल-वेसो। सद्धिमुव्वट्टणेण विसुद्धणीरेण ण्हाया। कओ झडिल-पदत्ताए जडिआए पओगो। विलुत्त णरत्तण। पयडिओ[3] पयडिजो[4] णारीभावो। उग्घाडिअ पेडग परिहिआइ चीणसुअ-वत्थाइ। धारिआणि महग्घाणि अलंकाराणि। एव सज्जिअ-सोलस-सिंगारा सक्ख मणुअ-रूवा देवीव सभूआ। अब्भपडलओ चदलेहा विव ण्हाणगिहत्तो इक्कवए गिहचत्तरम्मि पाउब्भूआ सा। आसी तम्मि समयम्मि रयणवालो चदसालाए। कलहसीव चलण-विण्णास कुणेमाणी सोवाण-मग्गेण झडिति तत्थ ओइण्णा। सेराणणपोम्मा[5] पयडा पोम्मावईव सा जाहे रयणस्स णयण-पहमागया तया सो अच्चत विम्हिओ जाओ। 'कासि तुम

---

१ सहचरीम् २ पितृन् ३ प्रकटित ४ प्रकृतिज ५ स्मेराननपद्मा।

श्रुत्वा राउलस्य भणितिं ह्रियो (लज्जित) जातो रत्नपालः। कथमेव भणसि राउल ! यत्र मयैव गन्तव्य तत्र तव सम्प्रेषण लज्जापदम्। दत्त मया श्वसुरस्य सम्मुख वचन यत् प्रत्यावर्तिष्ये शीघ्रमेव सहचरी नेतुम्। वचनपालनमस्ति सत्पुरुषाणा कर्तव्यम्। पुनर्यस्या करो गृहीत, या मे अर्धाङ्गिनी जाता, अहमेव यस्या एकाधार, तस्या हेतो मे तत्र गमन समुचितम्। पितरौ विज्ञप्य शीघ्रातिशीघ्र गन्तुकामोऽस्मि अहम्। नास्त्यन्यो विकल्प। इति पतिदेवस्य कर्तव्य-पालन-तत्परता परिलक्ष्य अतीवानन्दिता जाता राउलरूपा रत्नवती। सम्प्रत्यहमपि मूलरूपा भवामीति निश्चित तया। तत्क्षण प्रविष्टा मज्जनगृहे। उत्तारितो राउल-वेष। सार्धमुद्वर्तनेन विशुद्धनीरेण स्नाता। कृतो जटिलप्रदत्ताया जटिकाया प्रयोग। विलुप्त नरत्वम्। प्रकटित प्रकृतिजो नारीभाव। उद्घाटित पेटकम्। परिहितानि चीनाशुकवस्त्राणि। धारितानि महार्घ्याणि अलङ्काराणि। एव सज्ज-षोडश शृङ्गारा साक्षात्मनुजरूपा देवी इव सभूता, अभ्रपटलाच्चन्द्रलेखेव स्नानगृहात् एकपदे गृहचत्वरे प्रादुर्भूता सा। आसीत् तस्मिन् समये रत्नपाल चन्द्रशालायाम्। कलहसीव चरणविन्यास कुर्वती सोपानमार्गेण झटिति तत्रावतीर्णा। स्मेरानन-पद्मा प्रकटा पद्मावतीव सा यदा रत्नस्य नयनपथमागता, तदा

विबोट्ठी ? कुओ पयडीभूआ सुअणु ! किमच्छ पयोअण ममाहि[1] मयच्छि ?" ससभम पुट्ठ रयणेण ।

ईसिहसिएण उज्जलदतपति दसेमाणी पइदेवस्स चलणेसु णिवडिआ । किं पाणिग्गहिई[2] वि ण उवलक्खिज्जइ अज्जउत्तेण ? अहमेव राउलरूवम्मि लुक्किआ रयणवई पइदेवेण सहसमागया । किं णम्हि हु दिट्ठपुव्वा ? सक्किअ तीए ।

तमसि रयणवई राउलरुव-पडिच्छण्णा ? हो ! ण तक्किआ, ण लक्खिआ, ण चिंतिआ य मए णाममेत्तमवि । खण रयणवालोवि विम्हय-भरिओ जाओ । अहह ! केरिसी कला कलिआ तुह जणएण ? कहमलक्खिआ तुम पट्ठविआ मए सद्धि । णूण तओ चिअ धुत्ताण आहेवच्च करेइ सो महाणुहावो । पइदेवस्स चरणकमल छिवती[4] सविब्भम सा विहुमुही[5] हरिसभरुब्भिण्ण-रोमचेण रयणवालेण कोडीकया, अहरामय पिबतेण समासणम्मि य णिवेसिआ । वायाण-मगोअर अतुल्ल पइमेलणसुह अणुहवती रयणवई सोवालम्भ किमवि वोत्तुमाढत्ता–"दयिअवर ! कहमेगागिणी अबला णिराहारा पेइहरम्मि[6] चत्ता ? किं ण याणह तुम्हे पउत्थपइआए णवोढाए ठिइ । अजाय-सवधवधा इव ण तत्थ तुब्भेहिं कयाइ सलाविआ, ण पेम्ममइअ-वयणेहिं पोसिआ, ण उण जहत्थ-ठिईए बोहिआ, हरे ! णीरसीहूअ हिअयेण एमेव उज्झिआ । किं उइओ आसी अज्जउत्ताण

---

१ मत्समक्षात २ पाणिगृहीती भार्या ३ आधिपत्यम् ४ स्पृशन्ती ५ विधुमुखी ६ पितृगृहे ।

सोऽत्यन्त विस्मितो जात । 'काऽसि त्व विम्बौष्ठि ! कुत प्रकटीभूता सुतनु ! किमच्छ प्रयोजन मत्तो मृगाक्षि !' ससभ्रम पृष्ट रत्नेन !

ईषद्धसितेन उज्ज्वलदन्तपङ्क्ति दर्शयन्ती पतिदेवस्य चरणयो निपतिता। किं पाणिगृहीती अपि नोपलक्ष्यते आर्यपुत्रेण ? अहमेव राउलरूपे निलीना रत्नवती पतिदेवेन सह समागता। किं नास्म्यह दृष्टपूर्वा ? तर्कित तया।

त्वमसि रत्नवती राउलरूप-प्रतिच्छन्ना !! हो ! न तर्किता, न लक्षिता, न चिन्तिता च मया नाममात्रमपि। क्षण रत्नपालोऽपि विस्मय भरितो जात । अहह ! कीदृशी कला कलिता तव जनकेन ? कथमलक्षिता त्व प्रस्थापिता मया सार्धम्। नून तत एव धूर्तानामाधिपत्य करोति स महानुभाव । पतिदेवस्य चरणकमल स्पृशन्ती सविभ्रम सा विधुमुखी हर्षभरोदभिन्नरोमाञ्चेन रत्नपालेन क्रोडीकृता, अधरामृत पिबता समासने च निवेशिता। वाचामगोचरमतुल्य पतिमेलनसुखमनुभवन्ती रत्नवती सोपालम्भ किमपि वक्तुमारब्धा—"दयितवर ! कथमेकाकिनी अबला निराधारा पितृगृहे त्यक्ता ? किं न जानीथ यूय प्रोषित-पतिकाया नवोढाया स्थितिम् ? अजात-सम्बन्धवन्धा इव न तत्र युष्माभि कदापि सलापिता, न प्रेममय वचनै पोषिता, न पुनर्यथार्थस्थित्या बोधिता, हरे ! नीरसीभूत-हृदयेन एवमेवोज्झिता । किमुचित आसीदार्यपुत्राणामेष

एसो ववहारो ? किं कोइ साइज्जइ[1] तारिसं किच्चं धीधणो जणो। मह पिउपाया वि अईव चिंतिआ संजाया किंतु कस्सइ महप्पणो पसाएण एयं कज्जं संपण्णं। राउलरूवम्मि अहमेत्थ समागया। जणणीजणय-गवेसणट्ठं गया। पइग्गाम-णयरे भमंतीए मए किं किं णाणुहूअं। सव्वं मए णिअ-कत्तव्वं मुणिअ कयं। अज्जाहं मूलरूवेण कयकज्जा अज्ज-उत्ताए सम्मुहं उवट्ठिआ" एवं भणमाणी सा चंदमंडलं चकोरीव पिअ-मुहं पेक्खंती आणंद-मग्गा जाया।

सच्चं भणसि तुमं सुहासिणि! खलिअं मए पेअसि छड्डमाणेण तत्थ। अपरिपक्क-बुद्धीए ण किं हवंति ईइसा हु परिणामा, किंतु तुह अणुहविणो जणगस्स अणुग्गहेण सव्वं समुइअं चउरंसं च जायं। इयाणिं तत्थ गमणं ण सुसगमत्थि। जणणी-जणयाण गवेसणट्ठं तु तए जो साहसो कओ सो अबला-बलाइरित्तो। तत्थ जेद्दहा धण्णवाया दिज्जंति तेद्दहा थेवा। पिअरा अवि फुडमुहेहिं पसंसंति राउलस्स सेवाभावं। एव मुल्लवंता जपइणो जुम्मयाए पिइचरणाणं दंसणट्ठं चलिआ। जत्थ जणणीजणआ विराय-माणा आसी, तत्थ एए पसण्णवयणारविंदा समागया। रईए सह पज्जुण्णमिव तीए सद्धिं रयणं विलोइअ पिअरा अच्छेरगं पत्ता, झत्ति पुच्छिउं लग्गा—"का इमिआ दिव्व-रूवधारिआ रमणी तुह सद्धिं अतक्किआ समोइण्णा ? किं काइ आराहिआ देवया पयड माणुसिं तणुमस्सिआ ? को संबंधो इमिआए अम्हकेरो ?" एवं तक्कणा-परेसु तेसु

---

[1] साइज्जइ-अनुजानाति इत्यर्थः।

व्यवहार ? किं कोऽपि साइज्जइ । (अनुजानाति) तादृश कृत्य धी-धन जन । मम पितृपादा अपि अतीव चिन्तिता सजाता, किन्तु वस्यापि महात्मन प्रसादेन एतत् कार्यं सम्पन्नम् । राउलरूपे अहमत्र समागता । जननीजनक-गवेषणार्थं गता । प्रतिग्रामनगर भ्रमन्त्या मया किं किं नानुभूतम् । सर्वं मया निजकर्त्तव्य ज्ञात्वा कृतम् । अद्याह मूलरूपेण कृतकार्या आर्यपुत्राणा सम्मुखमुपस्थिता" एव भणन्ती सा चन्द्रमण्डल चकोरीव प्रियमुख प्रेक्षमाणा आनन्द-मग्ना जाता ।

सत्य भणसि त्व सुहासिनि ! स्खलित मया प्रेयसी मुञ्चता तत्र । अपरिपक्वबुद्ध्या न किं भवन्ति ईदृशा खलु परिणामा, किन्तु तव अनुभविनो जनकस्यानुग्रहेण सर्वं समुचित, चतुरस्र च जातम् । इदानी तत्र गमन न सुखकमस्ति । जननी जनकाना गवेषणार्थं तु त्वया य साहस कृत सोऽबलाबलातिरिक्त । तत्र यावन्तो धन्यवादा दीयन्ते तावन्त स्तोका । पितरोऽपि स्फुट-मुखेन प्रशसन्ति राउलस्य सेवाभावम् । एवमुल्लपन्तौ दम्पती युग्मतया पितृचरणाना दर्शनार्थं चलितौ । यत्र जननीजनकौ विराजमानौ आस्ताम्, तत्र एतौ प्रसन्नवदनारविन्दौ समागतौ । रत्या सह प्रद्युम्नमिव तया सार्धं रत्न विलोक्य पितरौ आश्चर्य प्राप्तौ झगिति प्रष्टु लग्नौ—"केय रत्न दिव्यरूपधारिका रमणी त्वया सार्धमतर्किता समवतीर्णा ? किं काऽपि आराधिता देवता प्रकट मानुषी तनुमाश्रिता ? क सम्बन्ध अनया अस्मदीय ?' एव तर्कणापरेषु तेषु सलज्ज रत्नवती

सलज्जं रयणवई सासू-ससुराण चलणेसु पणमिआ । मउलिअ-पाणिपल्लवा वोत्तुं पउत्ता—"अहं म्हि किर तत्थभवयाणं सुण्हा। तुम्ह पियपुत्तस्स सहम्मिणी रयणवई णाम। विज्जावलेण राउलरूवम्मि गुत्ता पइणा सह समागया। तो तुम्हकेरा हं पुत्तवहू णण्णा[1] ।" एवं कहिअ अत्ताए चरणकमलम्मि सहरिसं णिवडिआ। इअ जाणिऊण भाणुमईए जिणदत्तस्स य अच्छरिज्जेण सह उक्कडो आणंदो जाओ।

बहूआए मत्थयं करेण छीवंती अत्ता साहेउं पउत्ता—"अहो ! एसा णिवघूआ पुत्तबहूडी[2] रयणवई ! ण लक्खिआ अम्हेहिं मणसा वि राउलरूव-गोवाइआ । अवला भुच्चावि दंसिअं णाए असाहारणं पउरिसं । अब्भुआ इमिआए समयसूअया[3] । अणेगहुत्तं अम्हेहिं चिंतिअं जमेसो असंथुओ अपत्त-सयण-संबंधो वि कहं अम्हे अईव सुस्सूसइ, परिअरइ, अणण्णभत्तिभावेण पुण संरक्खेइ'त्ति । पुत्तबहु ! तुह मईए धिईए केवइअं पसंसणं कुणेमो जमम्हाणं आणयणे अणेगाइं कट्ठाइं सहिआइं, विवइ-णिण्णगाओ य तीरिआओ । एआरिसिं सेवाहिमुहिं सुण्हं पप्प धण्णा जाया अम्हे" एवं भणमाणीए ताए रयणवई पिट्ठभायम्मि ससिणेहमाहया, मत्थयंमि ओसिंघिआ, पुत्त-पोत्तवई होहि'त्ति सुहाए आसीसाए य वड्ढाविआ । जया परिअणम्मि एसा पउत्ती वित्थारं गया तया सच्चोज्ज[4] सव्वेवि ते आगया सुण्हं दट्ठुं सुच्छाह । रयणाणुरूवं रयणवइं पेक्खिऊण सव्वेवि आणंदिआ जाया । सेट्ठिणोऽईव सोहग्गं पसंसता सयणा णिअं-णिअं गिहं

१ नान्या २ पुत्रवधूटी ३ समयसूचकता ४ साश्चर्यम् ।

श्वश्रूश्वशुरयोः चरणेषु प्रणमिता। मुकुलित-पाणिपल्लवया वक्तुं प्रवृत्ता—'अहमस्मि इह तत्रभवतोः स्नुषा युष्माकं प्रियपुत्रस्य सह-धर्मिणी रत्नवती नाम। विद्याबलेन राउलस्य गुप्ता पत्या सह समागता। तस्माद् युष्मदीयाऽत्र पुत्रवधूः नान्या" एवं कथयित्वा अत्ताया. (श्वश्र्वाः) चरणकमले मस्तकं निपातिता। इति श्रुत्वा भानुमत्या जिनदत्तस्य च आश्चर्येण महोत्कट आनन्दो जातः। वत्सा. मस्तकं करेण स्पृशन्ती अत्ता (श्वश्रूः) कथयितुं प्रवृत्ता—"अहो! एषा नृपदुहिता पुत्रवधूटी रत्नवती? न लक्षिता अस्माभिः. सततमपि राउलस्य-गोपायिता। अथवा भूम्यामपि दर्शितमनया असाधारणं पौरुषम्। अद्भुतास्या. समय-सूचकता। अनेकदूरतो ऽस्माभिर्विचिन्तितं यदेष अस्मत्सुतः अप्राप्त-स्वजन-सम्बन्धोऽपि कथमस्मान् अतीव शुश्रूषते, परिचरति, अनन्यपरिभावेन पुनः सर-क्षतीति। पुत्रवधु! तव मते. धृते. कियत् प्रगतं कृतं यदस्माक आनयने अनेकानि कष्टानि सोढानि, विविधविघ्नजालान्यतीतानि। एतादृशी सेवाभिमुखा स्नुषा प्राप्य धन्या जाता वयम्। एवं भणन्त्या तया रत्नवती पृष्ठभागे सस्नेहमाहता मस्तके च ओलिम्पिता (घ्राता) पुत्र-पौत्रवती भव इति शुभया आशिषा च वर्धापिता। यदा परिजने एषा प्रवृत्तिविस्तारं गता तदा सर्वोऽत्र (सान्त्वयेन) सर्वेऽपि ते आगता स्नुषां द्रष्टुं सोत्साहम्। रत्नानुरूपां रत्नवतीं प्रेक्ष्य सर्वेऽपि आनन्दिताः जाताः। श्रेष्ठिनोऽतीव सौभाग्यं प्रशंसन्तः स्वजनाः

पडिगया। विणयेण, विवेगेण, चाउज्जेण,[1] दक्खयाए य सव्वेवि परिअणा गुरुअणा मंतमुद्धा, संमोहिआ, कीलिआ, वसगा इव य कया णाए। पिअरा पुत्तस्स पुत्तबहूए य महुरववहारेण, सव्वकज्ज-णेउण्णेण य ओहरिअ-भारा[2] भारवाहा इव जाया। रयणवालोवि रयणवईए सद्धि पंचिंदिअ-विसय-सुहाइं अणुहवंतो जहासमयं धम्मिअं वावहारिअं च कज्जमणुचिट्ठंतो सुहं सुहेण कालं जवेइ।

अह एगया पुव्वरत्तावरत्तकाले धम्मजागरणं जागरमाणेण जिणदत्त-सेट्ठिणा एआरिसी भावणा भाविआ–"अहो णं मए एगम्मि वि भवम्मि विचित्ता सुहदुहपरंपरा दिट्ठा, अणुहूआ, कायेण फुसिआ य। तहवि कहं ण मे मणो विरत्तो जाओ? ण कहं इंदिय-विसय-परंमुहया संपत्ता? ण कहं सिणेह-सिढिलया जाया परिअणेसु? ण कहं धणाईसु मुत्ति-भावणा परिवड्ढिआ? हा! हा! ण पुणो पच्चावलंति वइक्कंता खणा। ण उणाइ[3] बोलीणं जुव्वण, लाअण्णं, सरीरबलं च आवट्टइ पच्छा। अरे! तुच्छजीवण-हेउआ एरिसी चिंता! केरिसं धावणं? केद्दहा छल-कवड-पवंचा! किं ण छड्डिअव्वं रंकव्व राइणावि एअं सव्वं? एत्थ का विइगिच्छा? *सव्व-साहारणो कयंतस्स णिच्छिओ णिअमो।* ण तस्स पुरओ कस्सइ सफलो विणय-प्पओगो बल-प्पओगो वा। ता किणो हं ण अप्पणो हिअं चिंतेमि, आयरेमि य। अव्वो! गअं आउसस्स महग्घं भायतिगं। किं अवसिट्ठं संपइ। तुरिअव्वं मए अप्प-हिअम्मि धम्म-कज्जम्मि पेच्च-

---

१ चातुर्येण २ अपहृतभाराः ३ न पुनः।

निज-निज गृह प्रतिगता। विनयेन, विवेकेन, चातुर्येण, दक्षतया च सर्वेऽपि परिजना गुरुजना मन्त्रमुग्धा, सम्मोहिता, कीलिता, वशगा इव च कृता अनया। पितरौ पुत्रस्य पुत्रवध्वाश्च मधुर व्यवहारेण, सर्वकार्यनैपुण्येन च अवहृतभारौ भारवाहौ इव जातौ। रत्नपालोऽपि रत्नवत्या सार्धं पञ्चेन्द्रियविषयसुखानि अनुभवन् यथासमय धार्मिक व्यावहारिक च कार्यमनुतिष्ठन् सुख सुखेन काल यापयति।

अथैकदा पूर्वरात्रापररात्रकाले धर्मजागरणा जाग्रता जिनदत्त-श्रेष्ठिना एतादृशी भावना भाविता—अहो ण' मया एकस्मिन्नपि भवे विचित्रा सुखदु खपरम्परा दृष्टा, अनुभूता, कायेन स्पृष्टा च, तथापि कथ न मे मनो विरक्त जातम्? न कथमिन्द्रिय-विषय-पराङ्-मुखता सम्प्राप्ता? न कथ स्नेह-शिथिलता जाता परिजनेषु? न कथ धनादिषु मुक्तिभावना परिवर्धिता? हा! हा! न पुन प्रत्यावर्तन्ते व्यतिक्रान्ता क्षणा। न पुनरतिक्रान्त यौवन, लावण्य, शरीरबल च आवर्तते पश्चात्। अरे! तुच्छजीवनहेतुकी ईदृशी चिन्ता? कीदृश धावनम्? कियन्तश्छल-कपट-प्रपञ्चा? किं न मोक्तव्य रङ्कवद् राज्ञाऽपि एतत् सर्वम्? अत्र का विचिकित्सा? सर्वसाधारण कृतान्तस्य निश्चितो नियम। न तस्य पुरत कस्यापि सफलो विनय-प्रयोगो बल-प्रयोगो वा। तत कस्मादह नात्मनो हित चिन्तयामि, आचरामि न। अन्त्रो! गत आयुषो महार्घ्य भागत्रिकम्।

हिआए, सुहाए, खेमाए य।" एवं भावेमाणो सेट्ठी विरत्तिं पत्तो, वेरग्ग लद्धो, भव-बंधण छेत्तु तप्परो य जाओ। भाणुमईए पुरओ सेट्ठिणा णिआ भावणा रक्खिआ। सावि इएण सुट्ठ किच्च साइज्जमाणा पइ अणुगतु उच्छुआ जाया। आपुच्छिऊण पुत्ताइ-परिअणे च धम्मघोसस्स आयरिअ-पायस्स समीव सभज्ज पव्वज्जमुवगओ। विविहघोरतवेहिं सरीर तावयता सज्झाय-झाणेहिं अप्पाणं भावेता, अंते ससलेहणमणसणमाराहिअ कप्पविमाणवासिणो देवा जाया।

अहुणणया रयणवई आवण्णसत्ता जाया। पसूअ णाए पुत्तरयणं। सुह सुहेण परिवड्ढिओ सो। कराविअ विज्जा-ज्झयणं जाव कयपाणिग्गहणो विणयी, विवेगी, सव्वकज्ज-कुसलो, गिहत्थासम-धुरधरो य जाओ।

इओ य समागया अमिअगइ-णामाणो महातवस्सिणो चउणाणिणो आयरिअ-वसहा। मुणिअ मुणीणमागमणं सतुट्ठा जाया णयरी। णिग्गया अणेगे सेट्ठि-गहावइ-सेणावइ-रायाणो वंदिउ मुणिंद-पायकमल। रयणवई-सहिओ रयण-वालोवि गओ मुणिंद-दसणट्ठ। वागरिआ गुरुवरेण धम्म-देसणा। जाणाविआ मणुसभवस्स दुल्लहा पत्ती। एस खलु दार चउग्गइमयस्स ससार-दुग्गस्स। एत्थ खलिएहिं, णरय-णिगोआईसु पडिएहिं, ससारचक्कवालम्मि णडिएहिं, चउसीइलक्खजीवजोणीण वहमतो णेअव्वो ? हत ! सत्तर-कोडाकोडीसायरमिआ मोहणिज्ज-कम्मस्स ठिई। तेण मोहिआ जीवा ण परिलक्खति पच्चक्खमवि सच्च।

किमवशिष्ट सम्प्रति त्वरितव्य मया आत्महिते धर्मकार्ये प्रेत्यहिताय, सुखाय, क्षेमाय च । एव भावयन् श्रेष्ठी विरक्ति प्राप्त, वैराग्य लब्ध, भवबधन छेत्तु तत्परश्चजात । भानुमत्या पुरत श्रेष्ठिना निजा भावना रक्षिता । साऽपि इद शुभ कृत्य अनुमोदयन्ती पतिमनुगन्तु उत्सुका जाता । आपृच्छ्य पुत्रादि परिजन जिनदत्तो धर्मघोषस्य आचार्यपादस्य समीप सभाय प्रव्रज्यामुपगत । विविधघोरतपोभि शरीर तापयन्तौ स्वाध्याय-ध्यानैरात्मान भावयन्तौ अन्ते ससलेखनमनशनमाराध्य कल्पविमान वासिनौ देवौ जातौ ।

अथान्यदा रत्नवती आपन्न-सत्वा जाता । प्रसूत तया पुत्ररत्नम् । सुख सुखेन परिवर्धित स । कारायित विद्याध्ययन यावत् कृतपाणिग्रहणो विनयी, विवेकी, सवकार्यकुशलो, गृहस्थाश्रमधुरन्धरश्च जात ।

इतश्च समागता अमितगतिनामानो महातपस्विनश्चतुर्ज्ञानिन आचार्य-वृषभा । ज्ञात्वामुनीनामागमन सतुष्टा जाता नगरी । निर्गता अनेके श्रेष्ठि-गाथापति-सेनापति-राजानो वन्दितु मुनीन्द्र-पद-कमलम् । रत्नवती-सहितो रत्नपालोऽपि गतो मुनीन्द्र-दर्शनार्थम् । व्याकृता गुरुवरेण धर्म-देशना । ज्ञापिता मनुष्यभवस्य दुलभा प्राप्ति । एतत् खलु द्वार चतुर्गतिमयस्य ससार-दुर्गस्य । अत्र स्खलितैनरक-निगोदादिपु पतितै ससार चक्रवाले नटितैश्चतुरशीति-लक्ष-जीव-योनीना कथमन्त नेतव्य ? हन्त ! सप्तति-कोटी-कोटी-सागरमिता मोहनीय कर्मण स्थिति । तेन मोहिता जीवा न परिलक्षन्ते

मज्जवा इव विवेगविगला जत्थ तत्थ भमति, अडति, पवडति हसति रुवेंति, पलवति गायति, मिलायति पुणो पुणो। हो ! सुहमिच्छूणमविकह सुहप्पत्ती जाव परवत्थुम्मि तेसिं सुह-गवेसणा, मग्गणा य। अत्थि अणतसुहसरूवो अत्ता। तत्थ परवत्थुणो सगमो च्चिअ दुक्खकारण, भतिकारण, भमण-कारण च। तम्हा पढम जहत्थ-णाण कायव्व। णाण-विहूणा किरिआवि अघवाणपरपरा विव ण समोचीरा लक्ख भिंदेउ खमा। अहह ! अप्पाराममम्मि रमता मुणिणो केरिस-माणदाणुहव कुणेति। अणुकूल पडिकूलेसु सुहदुहाईसु सम्मं भावेमाणा वीअरागा ण कत्थइ खिज्जति, कोसति, परितवति, विमणा दुमणा य हवति। हंदि ! मुणीण सव्वओ उव्वेलिओ आणद-समुद्दो। समता पसरिल्ला सति-लहरी। भव्वा ! सइ[1] अणुहवतु अप्पुल्ल[2] सुहलव। लद्धासाया तुम्हे ण त परिजहिस्स सत्ता। खलु अणुहव-गम्मो अयं मग्गो।

सक्ख अमिअ-पाणमिव महुर मुणिकुंजराण वयण सोऊण पफुल्लिआ जाया परिसा, उब्बुद्ध जाय माणसमइ-अर[3]।

देसणाणतर पुट्ठो रयणवालेण णिअ-पुव्वभव-वुत्ततो जहा किंमए एआरिस दुक्कड कय, जेण सोलस-वास-पेरत पिउविओगो, धणणासो य जाओ। णाण-बलेण मुणिणा भणिअ—"अण्णाण-वसवएण तुह जीवेण माइप्पदत्तस्स सुपत्त-दाणस्स सकोह गरिहा कया, सुमिणणो णिंदिआ,

---

१ सकृत् २ आत्मीयम् ३ अतितराम्।

प्रत्यक्षमपि स्वरूपम् । मद्यपा इव विवेक-विकला यत्र तत्र भ्रमन्ति, अटन्ति, प्रपतन्ति, हसन्ति, रुदन्ति, प्रलपन्ति, गायन्ति, म्लायन्ति पुन पुन । अहो ! सुखमिच्छूनामपि क्व सुखप्राप्ति यावत् परवस्तुनि तेषा सुखगवेषणा, मार्गणा च । अस्ति अनन्त-सुख-स्वरूप आत्मा । तत्र परवस्तुन सगम एव दु खकारण, भ्रान्तिकारण, भ्रमणकारण च । तस्मात् प्रथम यथार्थ-ज्ञान कर्तव्यम् । ज्ञान-विहीना क्रियाऽपि अन्धवाण-परम्परेव न समीचीन लक्ष्य भेत्तु क्षमा । अहह ! आत्मारामे रममाणा मुनय कीदृशमानन्दानुभव कुर्वन्ति ! अनुकूल-प्रतिकूलेषु सुख दु खादिषु सम्यग् भावयन्तो वीतरागा न कुत्रापि खिद्यन्ते, क्लिश्यन्ते, परितपन्ति, विमनसो दुर्मनसश्च भवन्ति । हन्दि ! मुनीना सर्वत उद्वेलित आनन्दसमुद्र । समन्तात् प्रसृमरा शान्तिलहरी । भव्या सकृदनुभवन्तु आत्मीय सुखलवम् । लब्धास्वादा यूय न तत् परिहातु शक्ता । खलु अनुभवगम्योऽयं मार्ग ।

साक्षात् अमृतपानमिव मधुर मुनिकुञ्जराणा वचन श्रुत्वा प्रफुल्लिता जाता परिषत्, उद्बुद्ध जात मानसमतितराम् । देशनानन्तर पृष्टो रत्नपालेन निज-पूर्वभव-वृत्तान्त —यथा किं मया एतादृश दुष्कृत कृत येन षोडशवर्षपर्यन्त पितृवियोगा, धननाशश्च जात । ज्ञानबलेन मुनिना भणितम्—"अज्ञानवशवदेन तव जीवेन मातृ प्रदत्तस्य सुपात्रदानस्य सक्रोध गर्हा कृता, सुमुनयो निन्दिता

तस्स कडुअ फल तुमए एत्थ भीसणयर भुत्त। पच्छा माईए वोहिएण दाणमाहप्प पत्तेण तुमए सुसाहुदाणस्स अणुमोअणा कया। धम्मे वि रुई समुप्पण्णा। तप्पभावेण पुणरवि सव्व पत्त। आयण्णिअ पुव्वभववुत्ततं विसेसओ वेरग्ग पत्तो रयणवालो सभज्जो। आलित्त[1]-पलित्त-ससाराओ णिक्का-सेमि णिअ अप्पाण सत्तर। इणमेव पायड मेहाए फल ज णिउध्दारम्मि तप्परो होमि 'त्ति विचिंतमाणो णिव्वुइ गओ। समप्पिअ पुत्तम्मि गिहभार अप्पणो रयणवई-सहिओ भागवइ दिक्खं पवण्णो। कया विमला किरिआ, अमल झाणं, उज्जलो सज्जाओ, तिव्वो तवो, अप्पमत्तो विहारो य। अणेग-वासाइ सजमपज्जाय पालिऊण बंभदेवलोअ गया एए। तओ चइऊण महाविदेहे वासे सिज्झिस्संति, बुज्झिस्सति, मुच्चिस्सति जाव सव्वदुक्खाणमत करिस्सति य।

इअ सिरिचदणमुणि-विरइआए पिउमिलण-चदण-
मुद्दाग्गहण-राउलरूवपरिवट्टण-पिउदिक्खा-
दाण-गिहचायप्पभिइवण्णणेहिं वण्णि-
आए रयणवालकहाए सत्तमो
ऊसासो समत्तो
॥ ७ ॥

---

१ आदीप्त प्रदीप्त ससारात्।

तस्य कटुक फल त्वया अत्र भीषणतर भुक्तम्। पश्चात् मात्रा बोधितेन दान-माहात्म्य प्राप्तेन त्वया सुसाधुदानस्य अनुमोदना कृता धर्मेऽपि रुचि. समुत्पन्ना। तत्प्रभावेण पुनरपि सर्व प्राप्तम्। आकर्ण्य पूर्वभववृत्तान्त विशेषतो वैराग्य प्राप्तो रत्नपाल: सभार्य:। आदीप्त-प्रदीप्त-ससारात् निष्कासयामि निजमात्मान सत्वरम्। इदमेव प्रकट मेधाया: फल यद् निजोद्धारे तत्परो भवामीति विचिन्तयन् निर्वृति गत:। समर्प्य पुत्रे गृहभार स्वय रत्नवती-सहितो भागवती दीक्षा प्रपद्य'। कृता विमला क्रिया, अमल ध्यान, उज्ज्वल: स्वाध्याय: तीव्र तप., अप्रमत्तो विहारश्च। अनेकवर्षाणि सयमपर्याय पालयित्वा ब्रह्मदेवलोक गतौ एतौ। ततश्च्युत्वा महाविदेहे वर्षे सेत्स्यते, भोत्स्येते, मोक्ष्यत यावत् सर्वदु:खानामन्तकरिष्यतश्च।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिताया पितृमिलन-चन्दन-
मुद्राग्रहण-राउलरूपपरिवर्तन-पितृदीक्षादान-
गृहत्याग-प्रभृतिवर्णने वर्णिताया
रत्नपाल-कथाया सप्तम
उच्छ्वास समाप्त
॥ ७ ॥

कव्वकारगस्स पसत्थी

सोऊण चरिअमेअं, जगवेचित्ती विआणिआ होज्जा।
चावल्लं लच्छीए सत्थपरो बन्धु-पेम्मो य ॥१॥
तओ धम्मकज्जम्मि अ भव्वाणं भावणा थिरा हवइ।
धम्माओ सव्वाणं सुक्खाणं सोहणा पत्ती ॥२॥
किं वहुणा धम्मो च्चिअ भव्वेहिं सव्वया सयं सेव्वो।
अज्झत्थसुहणिआणं, तेलुक्के सारभूओ जो ॥३॥
तेरापहस्स पढमो आयरिओ भिक्खुणामगो जाओ।
धीरो जलहिगहीरो अक्खलिआयारसंजुत्तो ॥४॥
पिहं पहो मोक्खस्स य संसारस्स य तहा पुह मग्गो।
एगीहवंति ण कया इअ वागरणं कयं जेण ॥५॥
पावकारणं राओ मूलं धम्माणमत्थि जीवदया।
कहं णु मीसीभावं लहंति ते, साहिअं जेण ॥६॥
णाणाविहाणि पुणरवि दारुणकट्ठाणि जेण सहिआणि।
तहवि ण सम्मं मग्गो परिचत्तो जेण दढदिहिणा ॥७॥
भारमलो से सीसो गणवो जाओ विइज्जओ धीरो।
रिसिराओ तइओ पुण भूओ चोत्थो जयायरिओ ॥८॥
जाओ पंचमपट्टे मघवगणिंदो महाविमलहिअओ।
छट्ठो माणकलालो, डालमचंदो उ सत्तमिओ ॥९॥
सिद्धिपयासीणो पुण, महाकिवालू अ कालुगणणाहो।
जस्स सासणे वुड्ढिं-अउलं पत्तो गणो एसो ॥१०॥
मंदो मह सारिच्छो[1] जस्साणुग्गहसुहा-सुसंसित्तो।
पत्तो सक्खरअं हो! गुरुमाहप्पो अवत्तव्वो ॥११॥

---

१ सदृक्ष.।

णवमासणस्स णाहो संपइ तुलसी पहाविआयरिओ ।
उज्जमसीलो सुअरं, जुगाणुऊलं उवइसंतो ॥१२॥
अणुव्वयंदोलणओ आहुणिआ जेण संगया विहिआ ।
काउं वत्तालावं उवेंति णाणाविहा लोआ ॥१३॥
तेसिं गुरुचरणाणं अणुओ मुणिकेवलस्स जो पुत्तो ।
धणमुणिणो दीवाए अज्जाए अवरजो भाया ॥१४॥
मुणिचंदणाभिहाणो वट्टइ जो कव्व-कप्पणा-रसिओ ।
एगावण्णमवरिसे पढिआ पाइअ-गिरा जेण ॥१५॥
बालेहिं पि सुगेज्झं अप्प-समास, तहा कहामहुरं ।
लिहिअं गज्जं कव्वं पाइअ-भासा-पवेसट्ठं ॥१६॥
गुज्जरभासागेया मोहणविजयेण जा कया रयणा ।
कहाणयं तत्तो च्चिअ साभारं गहिअमेअम्मि ॥१७॥
पढमिल्लेत्थ, पयासे दोसाणं संभवो हवे कोइ ।
संखावंता पुरिसा, दोस-विसुद्धिं करिस्संति ॥१८॥
२ २ ० २
कर कर णह कर वरिसे जयपुरणयरे कया चउम्मासी ।
लाल-मूलमुणि - जुग्गं कुणेइ सेव्वं सुभावेणं ॥१९॥
अक्कमणे साणाणं जा जायाऽतक्किया करे पीला ।
तम्मि विरइअं कव्वं, कल्लाणं सव्वओ हवउ ॥२०॥

इअ कव्वकारगस्स पसत्थी
समत्ति पत्तोऽयं गंथो ।

---

१ सं० २०२२, २ श्वानानाम्—मृगयाश्वानाना अतर्किते आक्रमणे जाते चन्दनमुनेः करपीडा जाता, बद्धःपक्वपट्टः । तस्मिन्-तत्रान्तराले काले इद काव्यं विरचितम् ।

नवमासनस्य नाथ. सम्प्रति तुलसी प्रभाविधाचार्य ।
उद्यमशील सुतरा युगानुकूलमुपदिशन् ॥१२॥
अणुव्रतान्दोलनत आधुनिका येन मगता विहिता ।
कर्तुं वार्तालाप उपयन्ति नानाविधा लोका ॥१३॥
तेषा गुरुचरणानामनुगो मुनि केवलस्य य पुत्र ।
धनमुनेर्दीपाया आर्याया अवरजो भ्राता ॥१४॥
मुनिचन्दनाभिधानो वर्तते य काव्यकल्पनारसिक ।
एकपञ्चाशद्वर्षे पठिता प्राकृतगिरा येन ॥१५॥
बालैरपि सुग्राह्य अल्प-समास तथा कथामधुरम् ।
लिखित गद्य काव्य प्राकृतभाषा-प्रकाशार्थम् ॥१६॥
गुर्जरभाषागेया मोहनविजयेन या कृता रचना ।
कथानक तस्मादेव साभार गृहीतमेतस्मिन् ॥१-॥
प्राथमिकेऽत्र प्रयासे दोषाणा सभवो भवेत् कोऽपि ।
सत्यानन्त पुरुषा दोष विशुद्धि करिष्यन्ति ॥१८॥
२ २ ० २
कर-कर-नभ कर-वर्षे जयपुर नगरे कृता चतुर्मासी ।
लाल-मूल-मुनियुग्म करोति सेवा सुभावेन ॥१९॥
आक्रमण श्वानाना या जाताऽनकिता करे पीडा ।
तस्मिन् विरचित काव्य कल्याण सर्वतो भवतु ॥२०॥

इति काव्यकारकस्य प्रशस्ति ।
समाप्ति प्राप्तोऽय ग्रन्थ ।

श्री चन्दनमुनि विरचित

प्राकृतभाषा-निबद्ध रत्नपाल-कथा

(हिन्दी रूपान्तर)

मंगलाचरण

(१) मैं भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेव का स्मरण करता हूँ। उनमें सहज ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तचारित्र और अनंतबल प्रस्फुटित होते हैं।

(२) आठों ही कर्मों का समूल नाश कर स्वभाव में लीन तथा जन्म-मरण से रहित सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि प्रदान करें—मुझे मेरा लक्ष्य प्राप्त कराएं।

(३) आचार्य समस्त प्राणियों को सम्यक्त्व और ज्ञान की सम्प्राप्ति कराकर उनका महान् उपकार करते हैं। कौन उनकी स्तुति नहीं करेगा ?

(४) जिनके सान्निध्य से विद्या का विस्तार सुलभ होता है, वे भवतप्ति का उपशान्त करने वाले उपाध्याय मेरे शरणभूत हों।

(५) उन साधुओं के पद-पंकज में कौन प्रणत नहीं होता, जिनके दर्शन मात्र से कोटि-कोटि भव परंपराओं का नाश होता है।

१

पहला उच्छ्‌वास

प्राचीन काल मे पुरिमताल नामक नगर था। वह प्राकृतिक सौन्दर्य से शोभित और अनेक उद्यानो तथा पर्वतो से परिमडित था। वहा शूरसन नाम का राजा राज्य करता था। वह राजनीति और धर्म-नीति मे अत्यन्त निपुण, चोर, लपट और लुटेरो के लिए क्रूर होते हुए भी अत्यधिक सौम्य था। उस उद्यमी राजा ने अपने भुजबल से शत्रुओ को भयभीत कर दिया था।

वहा अनेक इभ्य, श्रेष्ठी तथा गाथापति रहते थे। वे बहुत धनाढ्य, मान और मात्सर्य से रहित थे। वे मितव्ययी थे, किन्तु उनका धन अच्छे कामो मे नदी के स्रोत की तरह बहता था। उनकी लज्जालुदृष्टि परस्त्रियो को माता की दृष्टि स देखती थी। वे तत्वज्ञ थे। कभी अपराध हो जाने पर तत्काल प्रायश्चित्त स्वीकार करने के लिए उद्यत रहते थे। कल या परसो करने वाला शुभ कार्य हम अभी करले इस प्रकार वे विशेष जागृत रहते थे। प्राय वहां के धनाढय व्यक्ति भी दूसरो के दु ख मे स्वय दु खित होते थे। वे क्षमाशील होते हुए भी धार्मिक पराभव को कभी सहन नही करते थे। दूसरे-दूसरे कार्यो का भार आ जाने पर भी वे धर्म-कार्य को प्रधान मानते थे। अहो आश्चर्य! मनुष्य जन्म की उनकी सफलता देखकर देव भी वैसा बनने के लिए स्पर्द्धा करते रहते थे।

इस प्रकार सेठ जिनदत्त के सारी अनुकूलताएँ थी, किन्तु वह एक चिंता-शल्य से उद्विग्न रहता था। कुलदीपक पुत्र के बिना सारा धन-धान्य भृत्य और नौकरो से परिपूर्ण सुसज्जित और सुमडित घर भी श्मशान की भांति परिलक्षित होता था। हा! विधि कितनी निष्ठुर और कृपण है। वह किसी का सर्वांग सुख सह नही सकती। सभी प्रकार से सुखी होते हुए भी मनुष्य प्राय कुछ प्रतिकूलता का अनुभव करता ही है। यह ठीक ही है कि अमृत के स्रोत मे कही न कही कालकूट जहर की कोई सूक्ष्म रेखा रहती है। मनुष्य अल्पज्ञ है, मनुष्य के भाग्य मे क्या शुभ-अशुभ लिखा है, वह जान नही सकता। जिनदत्त अध्यात्मतत्व का वेत्ता था। वह जानता था कि पुद्गलों की परिणति आपात भद्र और परिणाम-दारुण होती है। इसलिए वह अन्तर्गत चिन्ताशल्य को बहुत नही मानता था। वह प्रतिक्षण नमस्कार महामत्र का स्मरण करता हुआ, सुख से जीवन बिताता था।

एक बार कौमुदी महोत्सव का समय आया। बहुत सारे पौरजन अनेक प्रकार के वस्त्र और मूल्यवान आभूषणो को धारणकर, अपने-अपने परिवार से परिवृत हो सानन्द यान मे या पैदल ही उद्यान की ओर चल पडे।

भानुमती भी भोजन आदि सभी गृहकार्यों से निवृत्त हो अपने भवन के वातायन मे जा बैठी और चौराहे को देखने लगी। अकस्मात् उसकी दृष्टि स्त्रियो के समूह पर जा पडी। वे सब अपने पुत्र-पौत्रो से परिवृत हो अनेक क्रीडाओं मे ससक्त थी। वे परस्पर मिलती थीं हँसती थी और खेलती थी तथा बालको के सम्बन्ध मे नाना प्रकार की बाते करती थी। कई स्त्रिया अपने बच्चो की अगुली पकड कर मधुरालाप करती हुई, उनको धीरे-धीरे चला रही थी। कई स्त्रियाँ अपने रोते बच्चो को अनेक प्रकार खिलौने देकर उनको सन्तुष्ट कर रही थी। हमे गोद मे उठाओ—इस प्रकार कई बच्चे हठ कर रहे थे। उनकी माताएँ उन्हे गोद मे उठाकर, उनके मुखकमल का चुम्बन ले सुख का अनुभव करती थी। कहीं पर धान्यकण भक्षण मे सलग्न कबूतरो के समूह को देखकर कोई अजान बालक माता को विचित्र प्रश्नो से विस्मित बना रहा था। कई माताएँ आगे चलनेवाले किसी जटाधारी को दिखाते हुए अपने बच्चो को शीघ्र ही दौडने के लिए कह रही थी। अनेक स्त्रियाँ नाना प्रकार की मिठाइयाँ खरीद कर बडे प्रेम से अपने बच्चो के मुँह म दे रही थी। कई स्त्रियाँ बच्चो के साथ, मन को आह्लाद देने वाली बातें करती हुई अनेक प्रकार के गृह-कार्यों से उत्पन्न मानसिक खेद को कम कर रही थी। इस प्रकार अनेक बाल क्रीडाओ मे रत माताओ को

बाझ भानुमती ने देखा। तत्क्षण वह बाल-शून्य अपनी गोद को निहारकर अगाध शोक-सागर मे डूब गई। उसने सोचा—'हाय! मेरा जन्म निरर्थक है। मैंने व्यर्थ ही स्त्रीत्व प्राप्त किया है। हाय! निर्लज्ज विधि ने हमे व्यर्थ ही अतुल सपत्ति दी। ओह! चारो ओर अधकार दीख रहा है। हाय! किसके आगे अपना दुख प्रस्तुत करू? धन्य है वे माताए, कृत-पुण्य हैं वे माताए जिन्होने साक्षात् पुण्यफल की तरह सुदुर्लभ पुत्र के मुख को देखा है। ओह! वे माताएं किस निरुपम अनुभवगम्य सुख का सवेदन करती होगी, जिनके कानो मे क्रीडारत बालको का कोलाहल पडता रहता है। ओह! बालको की व्याकरण के नियमो से रहित तुतली बोली भी इक्षुखण्ड से भी अधिक मधुर होती है। ओह! मैं वह स्वर्णिम दिन कब देखूंगी जबकि मेरी गोद बच्चो से भरी होगी। हाय! मैने पुत्र-प्राप्ति के लिए कितने अगणित यन्त्र-मन्त्र और तन्त्र के उपाय किए है, किन्तु किसी ने भी कोई प्रतिफल नही दिया। मैं मानती हूं कि अग्नि मे डाली हुई आहुति की भांति वे सारे प्रयत्न निष्फल होगये। ओह! जडप्रकृति का राज्य कितना अव्यवस्थित और अविचारित है कि इस राज्य मे कुछ भी यथार्थ नही होता। जहां दारिद्रय का निश्चल निवास है, वहां अपार परिवार की वृद्धि होती है। किन्तु जहां के भडार मोतियो से परिपूर्ण है वहां द्वितीया के चन्द्र की तरह एक भी बालक नही दीखता।' इस प्रकार भानुमती विविध प्रकार के विकल्पो के ताप से उत्तप्त होकर शीघ्र ही जोर-जोर से रोने लगी। आंखो का अञ्जन आसुओ के साथ बहकर उसके गोरे गालो को मलिन करने लगा। 'बस इस मनोरथ शून्य जीवन से बहुत हो चुका' इस प्रकार सोचती हुई वह हिमशीत से दग्ध कमलिनी की भांति शोभा विहीन हो गई। सचेतन वह भानुमती उच्छ्वास और नि श्वास लेती हुई भी लुहार की धमनी की भांति चेतना रहित होगई।

आश्चर्य! मोह की विडम्बना अलक्षित होती है। पुत्र पौत्रो से युक्त व्यक्ति भी खेद-खिन्न होते हैं और उनसे रहित भी खिन्न होते हैं। मोह-रूपी मदिरा की सूक्ष्म अज्ञान रेखा दुर्राधिगम होती है। सुख के सकल्प मे दुख और दुख मे सुख हो जाता है। वस्तुत पौद्गलिक पदार्थों से प्राप्त क्या सुख और क्या दुख? इस ससार मे उत्साह का परिणाम भी शोक से आविष्ट होता है। खेद है कि इतना होने पर भी कषाय से कलुषित जीव, तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म पर न श्रद्धा करता है, न विश्वास और न उसमे रुचि रखता है।

इतने मे जिनदत्त श्रेष्ठी उसके पास आ पहुँचा। उसने भानुमती के म्लान और अश्रुस्नात मुखकमल को देखकर सोचा कि अवश्य ही कुछ अशुभ घटना घटी है। वह अतुल वेदना का अनुभव करता हुआ प्रेमयुक्त मधुरवाणी मे बोला—"प्रिये! आज तू विमनायमान क्या है? कौन ऐसा मदभाग्य व्यक्ति था जिसने तुम्हारा मन दुखाया है। उस दुष्ट का नाम तू मुझे शीघ्र ही बता ताकि मैं उसे पकड सकू और उस दुसाहसी को मैं कठोर प्रायश्चित्त देकर उसके दर्प का नाश कर सकू।" कोमल रूमाल से उसके अश्रुरस्य आंसुओ को पोछते हुए उसे अपनी चिन्ता का कारण बताने के लिए कहा, किन्तु वह मौन थी। उसने एक अक्षर भी नही कहा। प्रत्युत टूटे हुए मोतियो की माला की तरह उसकी आंखो स आंसू टपकने लगे और वह अधिक दुख म डूब गई।

जिनदत्त ने कहा— प्राणप्रिये! तू मौन रहकर मुझे क्यो दुखित कर रही है? तेरी उदासी का कारण मुझे ज्ञात नही है ऐसी दशा मे मैं उसका प्रतिकार कैसे करू? उस गृहस्थाश्रम को धिक्कार है जहां प्रतिकूलता को प्राप्त स्त्रीजन मन म विषाद का अनुभव करती है। जहां पुरुष नारी का अपमान करते हैं, वहां विपत्ति रूप बिजली गिरने वाली है। मैं अपनी अर्द्धाङ्गिनी के दुख को सहने म असमर्थ हू। वह दुख दूर किया जा सकता है। इसप्रकार कहते हुए जिनदत्त ने अपनी पत्नी का आलिंगन कर बिना कारण ही उत्पन्न शोक के कारण को प्रकट करने के लिए उससे अनुरोध किया।

पति के इस प्रेमपूर्ण व्यवहार से पत्नी ने अपने आपको आश्वस्त किया। उसने पतिदेव का अभिनन्दन किया और उसे ज्यो-त्यो अपनी चिन्ता का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसने कहा—'आर्यपुत्र! आज मैं भोजनादि गृहकार्यों को सम्पूर्ण रूप से सपन्नकर गवाक्ष म बैठी थी। अचानक ही मेरी दृष्टि चौराहे पर जा पडी जहां पुत्र-पुत्रो के परिवार से घिरी हुई स्त्रियां घूम रही थी। उन्हे देखकर मेरे हृदय म पुत्र प्राप्ति की प्रसुप्त भावना जाग उठी। मैंने सोचा—धन्य और भाग्यशाली हैं ये स्त्रियां, जिनके समक्ष धूलि-धूसरित बालक कभी कुछ मागते हुए तुतली बोली म बोलते हुए, कभी हँसते हुए, कभी रोते हुए, कभी विशिष्ट वस्तु को लेने की हठ पकडते हुए क्रीडा करते हैं खेलते हैं और पृथ्वी पर लोटते हैं। मैं कैसी अधन्या और अपुण्या हू कि जिसमे बजर भूमि की भांति एक भी बीज प्रस्फुटित नही हुआ। इस

देव अकथनीय प्रभाव वाले होते हैं। हम पर आप अनुग्रह करें। महानुभाव अनुग्रहशील होते हैं।" इस प्रकार भानुमती विनय-पूर्वक कहती हुई उनके चरणों मे गिर पड़ी।

तत्काल कृपालु यक्षाधिपति ने अवधिज्ञान से उनका भविष्य देखा और कुछ म्लान से बनते हुए प्रत्युत्तर मे कहा—"श्रेष्ठिवर! मैं वर देते हुए लज्जित होता हूँ। सुनो, यदि पुत्र होगा तो लक्ष्मी का नाश होगा। तुम्हें घर-बार छोड़ना होगा, पुत्र भी औरों के हाथों मे वृद्धि पाएगा। बोलो, क्या वरदान दूं? भानुमती का हृदय हर्ष से प्रफुल्लित और मुख-कमल विकसित हो गया। पति के बोलने के पहले ही वह कहने लगी—"आपके वरदान का मैं अभिनन्दन करती हूँ—आप अनुग्रह करें, अनुग्रह करें। यक्षनाथ! यदि ऐश्वर्य के विनिमय से कुल सूर्य (पुत्र) के दर्शन होते हैं तो कुछ भी चिन्तन करने की आवश्यकता नही है। पुत्र से विहीन व्यक्तियों का हृदय प्रतिपल विक्षुब्ध रहता है। उस दरिद्रता से उत्पन्न दुःख को पुत्र का मुख देखकर विस्मृत हो जायेंगे। इसलिए देव! कृपा करें।"

कृपालु यक्ष ने उसी क्षण 'तथास्तु' कहा। दपति हाथ जोड़े खड़े रहे। यक्ष युगल तत्क्षण अन्तर्ध्यान हो गया।

कुछ काल बीता! भानुमती गर्भवती हुई। हर्ष का सागर उमड़ पड़ा। सभी स्वजनों ने यह जाना कि सेठानी भानुमती गर्भवती हुई है। उन्हें आनन्द हुआ। किन्तु अब चिरसंचित ऐश्वर्य प्रतिदिन नष्ट होने लगा। एक ओर से यह समाचार प्राप्त हुआ कि विविध बहुमूल्य पदार्थों से भरे हुए जहाज समुद्र मे डूब गए हैं। एक ओर से यह सदेश आया कि कहीं गेहूँ आदि धान्यों के भडार अकस्मात् अग्नि से जल गए हैं। दूसरे स्थान से यह वृत्तान्त प्राप्त हुआ कि अमुक प्रमुख मुनीम बहुत सम्पत्ति लेकर भाग गया है। इधर व्यापार मे सभी वस्तुओं के भाव मन्द हो गए। छः महीनों मे सेठ जिनदत्त चारों ओर दरिद्रता से घिर गया। सभी कर्मचारी, भृत्य, व्यापारी और चिर-परिचित व्यक्ति सेठ को छोड़कर दूसरों के अधीन चले गए। इसी प्रकार मित्र, स्वजन, भागीदार और सहचर भी विमुख होगए। ऋण मांगने वाले लोगों ने सेठ की तत्रस्थित स्थावर और जगम सारी सपत्ति पर अधिकार कर लिया। अदृष्ट भूमिगत धन भी कोई चुरा लेगया। इस प्रकार जिनदत्त निर्धन हो गया। सेठ ने सोचा—"अरे!, यह क्या हुआ? वश परपरा से संचित लक्ष्मी बादलों की तरह कैसे नष्ट हो गई? विधि का कार्य विचित्र

होता है। स्वप्न में भी जिन दिवसों की कल्पना भी नहीं करता था, वे दिन प्रत्यक्ष सामने आगए हैं। जो स्नेहीजन मुझ से अत्यन्त परिचित थे, वे भी स्नेहहीन होगए है।"

"धिग् धिग ! जगत की प्रीति स्वार्थपरक होती है। कौन किसका है—यह नहीं कहा जा सकता है। तो भी कैसा ममत्व है ? विचित्र प्रकार की मूर्च्छा होती है। अव्याकृत आसक्ति होती है। ओह ! यह महान् कौतुक है। जो व्यक्ति अत्यन्तहीन अवस्था में थे, तुच्छ और अकिंचन थे, वे मेरे प्रयत्नों से बड़े बने और जो यह कहते थे कि हम आपका उपकार जीवन भर नहीं भूलेंगे वे आज विमुख और दूर हो रहे हैं। निश्चित ही किसी का दोष नहीं है। यह सारी भाग्य की चपलता है। क्या यक्षपुंगव ने यह पहले ही नहीं कह दिया था ? इसलिए हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। प्राप्त विपदा को हम सहन करेंगे, स्वय अपने हाथों से लिया हुआ कष्ट अन्यथा कैसे होगा ?"

गर्भवती भानुमती का सातवां महीना प्रारम्भ हुआ। प्रतिदिन प्राप्त होने वाले अशुभ समाचारों से वह उत्त्रस्त होती, किन्तु गर्भगत सुत को देख कर सुख का अनुभव करती थी। एक बार समयज्ञ भानुमती ने पतिदेव से कहा—"आर्यपुत्र ! मेरे गर्भ का सातवां महीना चल रहा है। क्या आप पुत्र के निमित्त कोई भी अनुष्ठान नहीं करेंगे ? नगर में अपनी प्रतिष्ठा कैसी है। प्रथम अवसर पर साधारण लोग भी अपने सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ करने के लिए प्रयत्न करते हैं। आप तो लब्धप्रतिष्ठ हैं। राजा के द्वारा भी आप सम्मानित हैं। ऐसी स्थिति में आप अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप कार्य करने की क्यों नहीं सोचते ?"

अपनी ही चिन्ता से म्लान सेठ ने कहा—"प्रिये ! सातवें महीने में प्राप्त 'साध पुराई' का कृत्य मुझे याद है। अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप सब कुछ करूँ—ऐसा मेरा उत्सुक मन चाहता है। किन्तु धन के अभाव में सारी दिशाएँ शून्य हैं। उसके बिना कैसा महोत्सव ? हा ! यह जनश्रुत सत्य है कि दरिद्रता के समान कोई पराभव नहीं है। हाय ! क्या करूं ? कहां जाऊँ ? प्रयत्न करने पर भी किसी से उधार के रूप में भी धन नहीं मिल रहा है। स्वजन तो मेरे से बातचीत भी नहीं करते। चिर परिचित मित्र मुझे आँख से देखने में भी लज्जा का अनुभव करते हैं। यह कुछ याचना करेगा इस शंका से वे दूर से ही भाग जाते हैं।"

दरिद्रता से दु:खित अपने पति को देखकर मर्मयज्ञा भानुमती ने कहा—"नाथ! यह संसार ऐसा ही है। यहां की संपूर्ण प्रवृत्ति स्वार्थ-परायण होती है। भाग्य की अनुकूलता में सभी परकीय लोग स्वकीय बन जाते हैं। और प्रतिकूलता में अपने भी पराये बन जाते हैं, और तो क्या, विपरीत परिस्थिति में वस्त्र भी प्रतिकूल हो जाते हैं, तो भी हीन भावना नहीं लानी चाहिए, आशा रूपी रज्जु को नहीं तोड़ना चाहिए, प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए। कभी प्रयत्न रूपी जल से सिंचित आशावल्ली फलीभूत हो सकती है। मैं सोचती हूं कि मम्मन नाम का सेठ आपका परमप्रिय बाल साथी है। कदाचित् वह ऐसी विपत्ति में आपका सहायक हो सके। मेरे कहने से उसकी एक बार पुनः परीक्षा करनी चाहिए।"

सेठ जिनदत्त मम्मन की क्लिष्ट कृपणता को जानता था, किन्तु विश्वस्त भार्या से बारबार प्रेरित होकर वह उसके घर की ओर जाने के लिए उत्कंठित हुआ। मार्ग में जाते हुए, ज्यों-ज्यों कृपण मम्मन का घर नजदीक हो रहा था त्यों-त्यों जिनदत्त का अन्तःकरण उद्विग्न बनता जा रहा था। उसने सोचा—'धिक्कार है, धिक्कार है, 'जिनदत्त!' तू जी रहा है। तू अधम से अधम याचना के कार्यों को स्वीकार कर रहा है। क्या याचना से मरण पवित्र नहीं है, अच्छा नहीं है? वेग से चलते हुए सेठ के चरण वहीं स्तम्भित हो गए। धैर्य का आलम्बन ले उसने पुनः सोचा—'इस आकुलता से बस!' पुरुष पुरुषार्थ के द्वारा निश्चित ही सभी दुःखों पर विजय पा सकता है—इस प्रकार वह सोचता हुआ आगे चला। विषाद से भरे अन्तःकरण से वह ज्यों-त्यों मम्मन सेठ के घर पहुंचा।

खेदखिन्न जिनदत्त को आते देखकर मम्मन विस्मित हुआ। वह तत्काल उठा और ससम्भ्रम उसके सामने गया और 'स्वागत' है ऐसा कहता हुआ उसको आसन देकर संतुष्ट किया। उसने उसके आगमन का कारण पूछा और मधुर वचनों से उसे आश्वासन दिया।

जिनदत्त ने विचलित हृदय से अपनी मनोवेदना कह सुनाई। उसने कहा—"मित्रवर! मेरा वृत्तान्त अकथनीय है। उसे मैं क्या कहूं? मैं विपत्ति के भयंकर जाल में गिर पड़ा हूं। मेरे किए हुए सारे प्रयत्न विफल हो चुके हैं। अन्त में तुम मेरे बालसाथी और मेरी आशा के आलम्बन हो। ऐसा सोचकर तुम्हारे पास आया हूं। तुम कुछ सामयिक सहायता दो जिससे कि मेरी गर्भवती पत्नी का सप्त-मासिक महोत्सव सुसम्पन्न हो सके। तुम्हारे

जैसे व्यक्तियो के लिए कुछ भी दुष्कर नही है। मित्र ! गाढ कारण के बिना कौन किसकी देहली पर याचना करने के लिए आता है ?" इस प्रकार कहते हुए सेठ जिनदत्त की आखे डबडबा आई।

जिनदत्त की प्रार्थना को सुनकर कृपण मन्मन विचारो मे डूब गया। वह सोचने लगा कि इसे क्या जवाब देना चाहिए ? 'आहार और व्यवहार में लज्जा नही रखनी चाहिए'—ऐसा सोचकर मन्मन ने सिर धुनते हुए कहा—"मित्र ! मैं ऐसे चिन्ता जाल मे फँस गया हूँ कि उससे निकलने का मार्ग दीख नही पडता। एक ओर आज तक पालन किया हुआ मेरा अदानव्रत है और दूसरी ओर मेरे परम मित्र की सामयिक प्रार्थना है। मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? इसका निर्णय मेरा मूढ मन नही कर पा रहा है। मैं विपत्ति के वशवर्ती व्यक्तियो की स्थिति जानता हूँ, किन्तु मित्र ! मैं इस विषय मे कुछ भी करने मे असमर्थ हूँ।"

लज्जा से नीचे देखते हुए जिनदत्त ने पुन कहा—'भ्रात ! मैं दान रूप में धन नही चाहता, किन्तु उधार चाहता हूँ। यदि तू देना चाहे तो अपनी उदार भावना का परिचय दे।"

मन्मन स्वभावत महान लोभी था। उसे इस बात की आशका थी क्या भविष्य मे वह मेरा धन मुझे लौटा देगा ? उसने कहा—"बन्धुवर ! मैं और क्या कहूँ ? मैं वस्तु के विनिमय के बिना कुछ भी देने मे असमर्थ हूँ। तुम वस्तु के परावर्तन के द्वारा जो कुछ चाहो प्राप्त कर सकते हो। खेद है कि मेरी जीवन पर्यन्त की ऐसी ही प्रतिज्ञा है।"

जिनदत्त का मुख कमल मुरझा गया। उसने कहा—"अरे ! यदि रखने योग्य कोई वस्तु होती तो उसके विनिमय से धन देने वाले सैकडो व्यक्ति इस नगर में मिल सकते है। यही महान कष्ट की बात है कि वैसी वस्तु मेरे पास नही है। भ्रात ! पुन कुछ ध्यान दो।"

वज्र की तरह कठोर हृदय वाले मन्मन ने स्पष्ट कहा—'मेरे पास उसका कोई उपाय नही है। ज्यादा क्या कहूँ ? मेरी प्रतिज्ञा भग होती है। इसलिए तुम सुख से अन्यत्र जाओ। अनेक उदार धनी लोग इस नगर मे है।"

'अन्यत्र कहाँ जाऊँ"—इस प्रकार चिन्ता करते हुए सेठ जिनदत्त ने अन्त मे निश्चय किया कि—'मैं गर्भस्थ पुत्र के विनिमय के द्वारा धन प्राप्त करूँ।" कुछ विमर्श कर जिनदत्त ने दीर्घ नि श्वास के साथ मन्मन से कहा—

सके। यदि तुम विनिमय के बिना कुछ भी देना नहीं चाहते तो मेरी पत्नी का गर्भ (गर्भ में रहे बालक को) रखकर मुझे यथायोग्य धन दो।"

जिनदत्त की बात सुनकर मम्मन तत्काल ही सहर्ष सहमत हो गया। उसने कहा—"मित्र! तुमने अच्छा निर्णय किया है। पुत्र के विनिमय से जो कुछ तुम चाहो वह शीघ्र ही लो, मैं देने के लिए तैयार हूँ।"

उसी समय एक प्रतिज्ञा पत्र लिखा गया। उसमें लिखा था—जन्म के अनन्तर मेरा पुत्र मम्मन के घर पर पुत्र रूप में बड़ा होगा। जब वह युवा अवस्था को प्राप्त हो, अच्छी तरह से विद्या का अध्ययन करले, तब सेठ मम्मन उसे धन कमाने के लिए देशान्तर में भेजे। जब वह धन कमाकर अपने घर में लौटे और व्याज सहित सारा ऋण मम्मन को अर्पित करे तब ही वह अपने पिता के घर जा सकेगा।' इस प्रकार दोनों ने सम्मत होकर यह लेख लिखा। इस पर नगर के पाँच प्रमुख व्यक्तियों के साक्षी रूप हस्ताक्षर हुए और उसकी एक प्रति मम्मन ने और दूसरी जिनदत्त ने ली। उसके विनिमय में जिनदत्त ने हजार दीनार (सोने का सिक्का) प्राप्त किए।

इधर धन की चिन्ता से सन्तप्त भानुमती पति की चिर प्रतीक्षा कर रही थी। "आर्यपुत्र धन लेकर क्यों नहीं आए? क्या सारी पृथ्वी हमारे लिए दरिद्रता से स्पृष्ट होगई है? क्या सभी ने कृतज्ञता भुलादी है? क्या सभी सहचरों ने आँखों की शर्म भी छोड़ दी है?"

इतने में ही उसने देखा कि म्लान मुख लिए पतिदेव धीरे-धीरे भवन में प्रवेश कर रहे हैं। वह शीघ्र ही उनके सम्मुख गई और अधैर्य से उसने पूछा—"क्या हुआ?"

अपने अकरणीय कार्य से बाधित होता हुआ, सेठ जिनदत्त मौन रहा। 'मेरे द्वारा विहित कार्य का, यह मातृ हृदया मेरी पत्नी, अनुमोदन करेगी या नहीं' इस आशंका से वह व्याकुल हो उठा। थोड़े समय के पश्चात् उसने अपनी पत्नी के सामने सारा वृत्तान्त ज्यों का त्यों कह डाला और उसे हजार दीनार दे दिए। अवसरज्ञ और विनीत भानुमती 'आप ही प्रमाण हैं'—इस प्रकार कहती हुई मौन हो गई।

२

दूसरा उच्छ्वास

●

प्रायः मनुष्य गतानुगतिक होते हैं। जो मुखिया लोग हैं—जिनका नाम विख्यात है, वे प्रतिकूल भाग्य और सर्वाङ्गीण विपत्ति के समय में भी उस आडम्बर युक्त कार्य (रूढि) को छोडना नही चाहते जो कि अनुकूल समय मे निर्वहनीय, परपरा से प्रतिष्ठित और क्षणिक गौरव को बढाने वाला है। वे लोग 'कल क्या होगा'— इसका विमर्श नही करते। उनकी गर्वीली आँखें भविष्य में होने वाले परिणाम को नही देख पाती।

जिनदत्त ने भी अपने पिता-पितामह के गौरव को बढाने वाले सप्त-मासिक गर्भ महोत्सव को सपन्न किया। उसने अपने स्वजनो को विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थ खिलाए। अपने पूर्व-पूज्यों का यथोचित सम्मान देकर उनका आदर किया। मगल पाठक और कुल-गुरुओं को अपने कुलानुरूप दान देकर सतुष्ट किया।

गर्भ का समय बीता। भानुमती ने सुख-पूर्वक पुत्र का प्रसव किया। सर्व लक्षण युक्त पुत्ररत्न पैदा हुआ। अहो! उसका सूना घर गृहमणि से शोभित हुआ। स्वजनो के मन में अपूर्व उत्सव जगा। सेठ ने पुत्र रूप में वशसूर्य को प्राप्त कर अपने को धन्य माना। धर्म-रूपी कल्पवृक्ष दानादि जल से सिंचित होकर फलित और पुष्पित हुआ। भानुमती अपने बालक के

मुखचन्द्र को देखकर परम प्रसन्न हुई। भाग्य ने उसके चिरपरिकल्पित दोहद की पूर्ति की। अनेक मित्र आनन्दित हुए और उन्होने सेठ से उपहार प्राप्त किया।

जब मम्मन ने जिनदत्त के पुत्रोत्पत्ति की बात सुनी तब उसने पुत्र को लाने के लिए शीघ्र ही अपने सेवक भेजे। वे जिनदत्त के घर आए और बोले—'हम मम्मन के यहाँ से इस नवजात शिशु को लेने के लिए आए है।'

उनकी याचना सुनकर सेठ का हृदय सहसा टूट गया। उसने सोचा—'हा! हा! अभी लेने आ गए? इतना अविश्वास? तो भी अपने भाव को छिपाता हुआ उदास मुख से वह बोला—''भद्र! आज ही पुत्र जन्मा है। अभी तक कोई उत्सव नही किया है। पुत्र का नाम भी नही रखा है। अभी प्रीतिभोज आदि भी नही किए है। आप अपने स्वामी से कुछ प्रतीक्षा करने की प्रार्थना करे। मैं उनकी वस्तु उनको निश्चित रूप से समर्पित करूँगा, इसमे कोई सदेह नही है। किन्तु उस उदारमना महानुभाव को सत्ताईस दिन-रात तक ठहरना होगा।''

सेवक लौट गए। सारी घटित बाते मम्मन को कह सुनाई। मम्मन का अविश्वस्त मन चिन्ता से व्याकुल हो गया। 'जिनदत्त अपनी भार्या के साथ बालक को लेकर भाग न जाय, इसलिए मैं पहले ही सरक्षण करूं'—ऐसा सोचकर मम्मन न तत्काल अपने सशस्त्र पुरुषो को बुला भेजा। उन्हे आज्ञा देते हुए कहा—'तुम्हे जिनदत्त के भवन क सामने जागरूकता से रहना है और रात दिन यह देखना है कि कुछ अनिष्ट घटना घटित न हो जाए और अतीत म निश्चित किए हुए काल के अनुसार बच्चे को लेकर मरे पास आ जाना है।'

सशस्त्र पुरुष शीघ्र ही वहा आ गए और भवन के आगे जागरूकता से बैठ गए। कौन बाहर आ रहा है, कौन अन्दर प्रवेश कर रहा है—इस बात को वे सलक्ष्य और सावधानी से देख रहे थ। सेठ ने बालक का अपूर्व जन्म-महोत्सव सम्पन्न किया। इस अवसर पर उसे अनेक शुभसदेश प्राप्त हुए। अनेक स्वजन वहां सम्मिलित हुए। अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप सेठ न प्रीति-भोज आदि व्यय किए और यथोचित दान दिया। बालक की भुआ ने बालक का शुभनाम 'रत्नपाल' रखा। परम प्रेम से पोषित कौटुम्बिक जन बालक को शुभ आशीर्वाद देते हुए अपने-अपने स्थान पर लौट गए।

क्षणो की तरह अलक्षित ही सत्ताईस रात दिन बीत गए। अपने परम प्रिय पुत्र के दर्शन म बाधा उपस्थित करने वाला प्रातःकाल उदित हुआ।

बालक को लेने के लिए मन्मन के पुरुष आए। हाय! जिनदत्त का अति उदार हृदय भी आज पुत्र को समर्पित करने में अतीव कृपणताका अनुभव कर रहा था। 'आज मेरे द्वारा कुछ अघटित घटना घटित हो रही है,—इस प्रकार सेठ के आकुल-व्याकुल चित्त की वेदना देखी नहीं जा सकती थी। 'नव प्रसविनी भानुमती विद्युत्-निपात से भी अधिक दुःसह 'पुत्र-प्रत्यर्पण' के शब्द को कैसे सहन करेगी'—यह सोचकर सेठ—किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया। 'उसका मृणाल-सा कोमल हृदय किसी अप्रत्याशित स्थिति का अनुभव न करे'—ऐसा चिन्तन कर उसने सात्त्विक और कोमल वचनों से सबोधित करते हुए भार्या से कहा—'शक्तिमति! समय का बीतना अकल्पित है। पल्य और सागर—इनका भी अन्त होता है, तो फिर संख्या से संकेतित काल का तो कहना ही क्या? आज वह अनिष्ट अठाईसवा दिन आ गया है, जिसमें की हमारा यह नन्दन दूसरे का हो जाएगा। धर्मिष्ठे! धर्म प्राप्ति की यह प्रत्यक्ष पहचान है कि प्रतिकूल समय में भी धैर्य को नही खोना चाहिए।

भयभीत हृदयवाली भानुमती ने आश्चर्य और सखेद उत्तर देते हुए कहा—'आर्यपुत्र! आज ही वह अठाईसवा दिन कहा से आ गया? आप बुद्धिमान हैं, आपको संख्या का विभ्रम कैसे हो गया?"

'भद्रे! तेरा मातृहृदय शीघ्र ही बीत जानेवाले समय को नहीं जान पाता। क्या तुझे याद नहीं है कि चन्द्रदर्शन के लिए योग्य शुक्ल पक्ष की द्वितीया को पुत्र जन्म हुआ था। और आज कृष्ण पक्ष की रिक्ता तिथि चतुर्दशी है। देख, ये मन्मन के व्यक्ति पुत्र को हथियाने के लिए उपस्थित हो गए हैं।

'ओह! ये मृतहृदय व्यक्ति पुत्र को हथियाने के लिए आ गए हैं? मैं दुधमुहे बच्चे को दूसरों को कैसे सौंप दूँ? धिक्कार है, धिक्कार है, आपने ऐसे अविचारित वाणी का अनुबंध क्यों किया?'—इस प्रकार विलाप करती हुई भानुमती तत्काल मूर्च्छित हो गई। जिनदत्त का मुख-कमल विवर्ण हो गया। उसने अनेक प्रकार के उचित उपचार किए और भानुमती को सचेत किया। भानुमती ने रोते-रोते कहा—'मैं मूर्च्छित अवस्था म ही क्या नही मर गई? क्या पुत्र-विहीन जीवन से मरण अच्छा नहीं है? धिक्कार है, कृतान्त-यमराज भी अकृतान्त हो रहा है। मेरा अन्त नहीं कर रहा है।"

जिनदत्त ने कहा—'भामिनि! स्वस्थ हो! सब कुछ अच्छा ही होगा। हमें अब प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए। बच्चे को ला, जिससे कि उसे समर्पित कर हम अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करें—पूर्ण करें। कांपते हुए हाथों

से तथा आसुओ को बहाती हुई भानुमती म्लानहृदय और दु खित मन से अन्त मे पुत्र को समर्पित करती हुई बोली—'भद्र ! यह पुत्र हमारे हृदय का टुकडा, नयन की ज्योति, कृपण का धन और जीवन का सर्वस्व है । इस पर अनेक आशाए हैं । एक क्षण के लिए भी इसे दूर करने के लिए मन नही होता, किन्तु भवितव्यता की बात अकथनीय होती है । भाग्य की रेखा अनुल्लघनीय होती है । इसलिए विधिवत् इसकी सम्यक् सुरक्षा करें, कल्पवृक्ष की तरह इसकी सतत सेवा करें और धर्म की भाति इसका प्रतिपल पालन करे । और अधिक क्या कहूँ, इसका एक भी बाल बाका न हो—ऐसा आप प्रयत्न करें ।' इस प्रकार बहुत कुछ बोलती हुई भानुमती ने बालक रत्नपाल को जोर से छाती से लगाया और सस्नेह उसके मुख का चुम्बन लिया । उस बालक को आसुओ से सीचती हुई, अनेक शुभ आशीर्वादो से परितुष्ट करती हुई उसने अपने हाथो से उन भृत्यो के हाथो मे उसे समर्पित कर दिया ।

देव द्वारा प्रदत्त उस हंसते हुए सुकुमार बालक को लेकर वे पुरुष शीघ्र ही मम्मन के पास आए । उन्होने बालक की माँ भानुमती के अभिप्राय को ज्यो का त्यो निपुणता से प्रकट करते हुए अपन स्वामी मम्मन के हाथो मे बालक को सौप दिया ।

अनेक सामुद्रिक लक्षणो से युक्त तथा अनुकूल ग्रहबल को प्राप्त, उज्ज्वल भविष्य वाले उस बालक को देखकर मम्मन श्रेष्ठी बहुत प्रसन्न हुआ । उसने अपनी वाझ भार्या की गोद मे उस देवार्पित पुत्र रूपी भेट को रखते हुए कहा—'किसने इस कल्पवृक्ष को बोया और सीचा है और कहा आकर यह फलित हुआ है ? यह किसने जाना था कि यह वशभास्कर अपने घर को प्रकाशित करेगा ? कौन जानता था कि शुभ फल देने वाला भाग्य कब कैसे अतर्कित रूप से शुभ फल दे देता है ! निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि यह बालक हमारा ही है, दरिद्रता से अभिभूत जिनदत्त का नही है । कब सोलह वर्ष पूरे होंगे ? कब यह पुत्र युवा होकर प्रस्थान करेगा ? कब यह ब्याज सहित धन कमाकर मुझे देगा ? यह सारी बाते बादलो के चित्र की तरह कल्पना से ही मनोहर है । कौन जिएगा, कौन मरेगा—यह कौन जान सकता है ? सुभगे ! इसको अपना औरस पुत्र समझकर इसका तू पालन कर। इसके लालन-पालन मे तनिक भी न्यूनता का अनुभव मतकर ।

आश्चर्य है कि मम्मन का क्षुद्र, तुच्छ और कृपण मन भी बालक के प्रबल पुण्य से उदार, प्रेम युक्त और अनुकूल हो गया । बालक को गोद मे उठाकर

सेठ मम्मन अनेक प्रकार की क्रीड़ा करने लगा। ऐसे-वैसे बोलता हुआ वह उसको खिलाने लगा। अपने घर के कार्य को विस्मृत कर सेठ उस बच्चे को अपने कंधों पर बिठाकर इधर-उधर घुमाने लगा और उसकी देखभाल के लिए धायों की भी उचित व्यवस्था करदी। वह बालक गिरिकन्दरा में लीन चम्पक वृक्ष की भांति मम्मन के घर में सुखपूर्वक बढ़ने लगा। खेद! विधि के कार्य विचित्र होते हैं।

इधर भानुमती अपने बच्चे को दूसरे के हाथ में सौंप कर रस निकाले हुए ईख की तरह तथा पत्र, पुष्प, और फल से हीन वृक्षावली की तरह चेतना-हीन हो गई। अहो! प्रात काल में भी सर्वत्र घना अन्धकार छा गया। उसके नीरोग शरीर में भी कोई असह्य और अतुल वेदना उत्पन्न हो गई। वह पागल की तरह सोचने लगी—"क्या मैं जागती हुई भी प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न देख रही हूं? मेरे सारे योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) प्रकट और तीव्र है, फिर भी क्या मैं मृत हूं? अहो! मैंने ऐसी कौनसी बहुमूल्य वस्तु गवादी है, जिसके बिना सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं की भांति दीख रहा है। किसने मेरे हृदय के टुकड़े को चुरा लिया है कि जिसके बिना सारा विस्मृत हो गया है। मां की गोद से वंचित वह बेचारा बालक क्या कर रहा होगा? हाय! विधाता! स्तनपान करने वाले बालक को माता से अलग क्यों कर डाला? पराए घर में रहे हुए उस मन्द भाग्य बालक की कैसी परिपालना होगी?" इस प्रकार अनेक विकल्पों का जाल बुनती हुई भानुमती कभी मूर्च्छित होती है, कभी म्लान होती है और कभी म्लान हो जाती है। उसके अनवरत बहने वाले आंसुओं से सारा भूतल कीचड़मय हो गया। पागल की तरह वह इधर उधर घूमने लगी। क्षण मात्र के लिए भी उसे सुख का अनुभव नहीं हो रहा था। सेठ जिनदत्त की भी वही दशा हो गई, किन्तु भाग्य की दावाग्नि में जले व्यक्ति की पुकार कौन सुनता है?

उस समय जिनदत्त की विचित्र अवस्था थी। वह अपनी भार्या के साथ यह सोच रहा था कि—'अब क्या करना चाहिए? 'द्रव्य के विनिमय से पुत्र को परगृह में रखा है'—इस जनापवाद का उसे भय था, इसलिए वह अपना मुंह दिखाने में भी लज्जा का अनुभव करने लगा। अन्त में दोनों ने यह निश्चय किया कि नगर के लोगों को यह वृत्तान्त ज्ञात हो इससे पूर्व ही हमें गुप्त रूप से गृह, नगर और देश का परित्याग कर देना चाहिए।' उत्त्रस्त मन वाली भानुमती ने सारे गृहभाण्डों को व्यवस्थित किया और आवश्यक

वस्तुओ की एक छोटी पोटली बाधली। अनेक दिनो तक खाने मे काम आने वाली सूखडी' आदि कुछ पाथेय बनाया। 'यह दूसरे जान न ले' इसलिए उसने अपने घर के कपाट बद करके सारा कार्य किया। पुत्र के वियोग से विधुर बहुत लम्बा दिन भी घर के काम की अधिकता से ज्यो-त्यो बीत गया। मन्द प्रकाश वाली सध्या का आगमन हुआ। पर्यंत कालिमा वाली लालिमा ने अल्प समय के लिए अपना अधर राग दिखाया। 'अवसर का लाभ उठाना चाहिए' मानो इस सिद्धान्त को प्रकट करता हुआ अधकार बढने लगा। हमसे क्या होना है, मानो ऐसा विचार करते हुए बिन्दु के आकार वाले तारे आकाश मे मन्द किरणो से चमकने लगे। 'रात्रि माता की तरह शान्तिप्रद होती है' ऐसा मानकर बच्चो की आँखे निद्रामुद्रित होने लगी। एक दूसरे के प्रति ससक्त चक्रवाक के युगल वियुक्त हो गए। चोरो की मलिन भावना अपने लक्ष्य के प्रति साक्षात् जागरूक हो उठी। अपनी पत्नियो से सतुष्ट मानस वाले सद्गृहस्थ अपने घरो मे प्रविष्ट हुए। 'ऐसी रात मे पलायन करने का अनुकूल अवसर है।' ऐसा जानकर जिनदत्त ने धीरे से अपनी बूढी पडोसिन को बुला भेजा। वह कृतज्ञ, दक्ष, अपनी दादी के समान, विश्वस्त थी। जिनदत्त ने उसे सारी बात ज्यो की त्यो कह सुनाई। भविष्य मे किए जाने वाले सभी कार्यों से उसे परिचित कराया और अपने घर की सुरक्षा का सारा भार उसे सौपते हुए घर के तालो की चाबियो का गुच्छा भी उसे दे दिया। अन्त मे उसके चरणो मे गिरकर सौहार्द पूर्ण आशीष ली और माथे पर पाथेय की पोटली रखकर अपनी भार्या के साथ जिनदत्त कोई हमे देख न ले'—इस प्रकार शकित होकर धीरे-धीरे पैर रखता हुआ, रत्नपाल का बार-बार स्मरण करता हुआ घने अधकार मे विलीन हो गया।

बेचारा अल्पज्ञ मनुष्य क्या क्या कल्पनाए करता है, किन्तु भाग्य कुछ अदृष्ट घटनाए घटित कर देता है। पवन से प्रेरित बादलो के समूह की भाति भाग्य से प्रेरित प्राणियो की आशाए नष्ट हो जाती हैं। हाय ! चर्म-चक्षु के धारक मनुष्य के लिए भाग्य की परिणति को जानना दुष्कर होता है। देखिये, जिनदत्त का प्रत्यक्ष विधि पराभव ! आकाश सी विशाल किस किस आशा से पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना की थी, वहाँ कैसा अनभिलपणीय समय आ पडा। जिसके सामने अनेक भृत्य हाथ जोडे 'क्या आज्ञा है ?'' ऐसा बोलते हुए हाजिर रहते थे, वह जिनदत्त आज अपने मस्तक पर पोटली रखे, अपने अस्तित्व को छुपाते हुए, मित्र और सहोदरो की सहायता से रहित, पुत्र के वियोग से सक्षुब्ध, वाहनों से वचित अपनी भार्या के साथ अकेला ही चला जा

रहा है। ज्यों त्यों उन्होंने गुप्त रूप से नगर की गलियों को पार किया। जब नगर का द्वार पीछे रह गया तब अनिर्वचनीय लज्जा को पार पा लिया—ऐसा उन्हें महसूस होने लगा। तीन चार कोस चल चुके थे, फिर सूर्य उदित हुआ। "कोमलांगी ? क्या तू लम्बी दूर तक चलने के कारण थक गई है ? क्या विश्राम के निमित्त कहीं बैठें"—इस प्रकार जिनदत्त रत्नपाल की माता भानुमती को बार-बार पूछ रहा था।

यह सुनकर विनम्र वचनों से भानुमती बोली—"आर्यपुत्र ! आपका मुख-कमल खिन्न दीख रहा है, अतः आप मार्ग में चलने का महान खेद अनुभव कर रहे हैं। ऐसा मैं अनुभव करती हूं।"

"प्रिये ! चलने से मुझे तनिक भी खेद नहीं है, किन्तु......................।" आगे बोलने से सेठ रुक गया।

'पत्नी ने आंसू पोंछते हुए पूछा—'खेद का कारण क्या है ? आपने 'किन्तु' कहकर आगे बोलना बंद क्यों कर डाला ? क्या जीवन के आधार प्रिय पुत्र की स्मृति हो आई ? डबडबाई आंखों से एक दीर्घनिःश्वास छोड़ते जिनदत्त ने कहा—'रत्नमाल ! तू पूछने में स्खलित हो गई ! मैंने प्रिय पुत्र की कब विस्मृति की थी कि आज स्मृति करूं" इस प्रकार दोनों, पुत्र विरह से उत्पन्न दुःख की बातें करते हुए, बात-बात में पुत्र को याद करते हुए मार्ग काट रहे थे।

पर रखी हुई पोटली को एक ओर रख दिया। 'आगे कहां जाना है, क्या करना है'—इस प्रकार वे दोनो विचार करने लगे।

इतने मे ही एक स्त्री ने अपने झरोखे से देखा कि कोई अपरिचित पथिक घर की वेदिका पर बैठे बातचीत कर रहे हैं। तत्काल वह वहां आई और आखो से अस्नेह दिखाती हुई वज्र की भांति कठोर वाणी मे बोली 'आप बिना जान पहचान के इस घर की वेदिका पर कैसे बैठे है ? जो परिचित नही है, उन्हे हम स्थान नही दे सकते। इसलिए आप अपने किसी परिचित व्यक्ति के घर शीघ्र ही चले जाइए।'

जिनदत्त ने सद्भावना से कहा—'बहन ! हम पथिक हैं। मध्याह्न वेला मे विश्राम का यह उपयुक्त स्थान देखकर हम थोडे समय के लिए यहां ठहरे हैं। क्योकि मनुष्य मनुष्य का ही आश्रय चाहता है। हम स्वय अपराह्न मे आगे चले जायेगे। अभी तुम अपने मन को उदार कर हमे न उठाओ।'

उस स्त्री ने अपने अहकार से उसका प्रतिरोध करते हुए कहा—'मानवता का उपदेश बहुत हो चुका। अनेक चोर अपना वेश बदलकर, मीठे बोलते हुए लोगो को लूटने के लिए यहां घूमते रहते है। इसलिए आप कोई दूसरा स्थान देखें, यहां एक क्षण भर के लिए भी न ठहरे।'

इस प्रकार गृहस्वामिनी द्वारा अपमानित होकर उन दोनो ने झट से अपनी पोटली उठाई और आगे चल पडे। हाय ! जिनका भाग्य-दरिद्रता के कारण मद हो चुका है, उन व्यक्तियो के दु ख को कौन पूछता है ? आपत्ति मे अपने भी पराये हो जाते है तब अपरिचित व्यक्तियों की बात ही क्या ? ससार ऐसा ही है। यहा की सारी लीला बादलो की छाया की तरह चचल है। यहां गाढ स्नेह मे भी अप्रीति का प्रादुर्भाव होता है, दिव्य आलोक मे भी अन्धकार की रेखा अन्तर्हित रहती है और मधुर आलाप मे भी कटु उक्ति का प्रसग रहता है। धिक्कार है, धिक्कार है, तब भी ससारी व्यक्तियो की आखें क्यो बद रहती हैं ? मनुष्य को पग-पग पर ऐसे सशक्त अनुभव पराभूत करते रहते है फिर भी उनमे आन्तरिक वैराग्य परिस्फुरित क्यो नही होता ? ओह ! अज्ञान का आवरण घना होता है। यह सब कुछ प्रत्यक्ष है फिर भी मोह से धृष्ट मति उसे ग्रहण नही करती।

भानुमती को सबोधित करते हुए सेठ जिनदत्त ने कहा—'भार्ये ! अपने दिन अभी अनुकूल नही हैं। इसलिए इस प्रकार के, पहले कभी अनुभव मे न आने वाले प्रसग आ रहे हैं। फिर भी हमें विमन या दुर्मन नही होना है।

यहा हमारे चिरपालित धर्म की परीक्षा हो रही है। आज से आगे हम किसी की शरण नही लेंगे। जहा-कही हम स्वतत्र जीवन यापित करेंगे। धन चला गया, इसका दु ख नही है, किन्तु स्वाभिमान रूप अपना धन न खो जाय—इसकी चिन्ता है। उस ताडित, तिरस्कृत कुत्ते के जीवन से क्या ? जहां मनुष्यो के गुणो का नाम मात्र भी मूल्याकन नही है।' 'आर्यपुत्र'! आप ही मेरे लिए प्रमाण हैं'—यो कहती हुई भानुमती मौन हो गई।

उन दोनो ने मध्याह्न दिन का आतप तालाब की पाल पर रहे एक वट-वृक्ष के नीचे बिताया। अपराह्न मे वे पुन दक्षिण दिशा की ओर चल पडे। एक मुहूर्त रात बीत जाने पर उन्हे एक सुरक्षित वननिकुज मिला। वहां वे विश्राम के लिए बैठ गए। उन्होने वन के फलो को खाकर अपना पेट भरा और कदलीदल की शय्या बिछाकर सो गए। पुत्र के विरह के कारण उनकी नीद नष्ट हो चुकी थी। कदाचित् आखें बद होती तो भी वे प्रत्यक्षत पुत्र को देखते हुए बडबडाते ?—'पुत्र! माता की गोद के सुख से वचित तू मत रो! आशा से समीप वह समय भी दूर नही है जब कि हमारा चिरप्रतीक्षित मिलाप होगा। यह क्रूर काल समय के विपाक से बुद्बुदे की तरह विलीन हो जाएगा। सभी प्रतिकूल सयोग स्वय नष्ट हो जायेंगे' इस प्रकार कहते हुए, कल्पना करते हुए जब जागते थे तब पुत्र को सामने न देखते हुए, 'यह सारा स्वप्न था'—ऐसा मानकर विधि को उपालभ देते। इस प्रकार वे करवट बदलते हुए ज्यो-त्यो रात बिताई। प्रभात हुआ। उन दोनो ने प्रतिदिन किए जाने वाले प्रात कालीन सामायिक आदि आवश्यक अनुष्ठान श्रद्धा और भक्ति से सपन्न किए। सत्पुरुषो का यही लक्षण है कि वे आपत्काल मे भी धार्मिक कृत्यो को नही छोडते। क्या अग्नि परीक्षा मे उत्तीर्ण स्वर्ण देदीप्यमान नही होता ?

नही गए। नगर के बाहिर भाग मे एक सुरम्य स्थान को देखकर उन्होंने वहा एक झोपडी बनाई। उसे मिट्टी और गोबर से लीप कर सब कुछ व्यवस्थित किया और सुखपूर्वक वहीं रहने लगें। आजीविका के निमित्त सेठ ने एक कुठार खरीदा। वह जगल मे जाकर लकडियो का गट्ठर लाता और नगर मे उसे बेच आता। उससे जो कुछ (धन) मिलता, समयज्ञ भानुमती आय के अनुरूप व्यय करती हुई गार्हस्थ्य का पूर्ण सतोष के साथ सचालन करने लगी। देशान्तर मे उन्हे कोई नही पहिचानता था। वे ऐसे कार्य को बिना लाज-शर्म के करते हुए अपना समय बिता रहे थे।

सेठ मम्मन ने जब यह सुना कि जिनदत्त अपनी भार्या के साथ किसी असक्षित जनापवाद से लज्जित होकर दुर्भाग्य से प्रताडित, बिना कुछ कहे ही सहसा रात्रि मे भाग गया है, तब उसका कृपण मन प्रमुदित हो उठा। 'ओह! अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ। अनायास ही मेरी मनोभावना फलवती हो गई। अब बेचारा कर्जदार जिनदत्त दातव्य धन और उसके ब्याज के भार से विक्षुब्ध होकर पुन नही लौटेगा। अब यह कल्पना केवल आकाश-कुसुम की भाति है कि यह जिनदत्त लौटकर अपने साहूकारो का ऋण ब्याज सहित चुकायेगा और अपने पुत्र को अपने घर ले जायेगा। अत अब यह निस्सन्देह हो गया है कि रत्नपाल मेरे घर का दीपक है। भाग्य की कृपा से अपूरणीय क्षति पूरी हो गई। भाग्य की दुर्भर खाई समतल हो गई। निश्चित ही महान् कष्टो से सचित मेरे ऐश्वर्य का यही भविष्य मे स्वामी होगा।' इस प्रकार कल्पना-मधुर भविष्य का चिन्तन करता हुआ निर्दय मम्मन बालक की रक्षा के लिए अनेक यत्न कर रहा था। प्रतिदिन बढता हुआ, एक गोद से दूसरी गोद मे जाता हुआ वह बालक बहुत प्रिय प्रतिभासित होने लगा। मम्मन ने बालक को सतुष्ट करने के लिए अनेक खिलौने मगाये। उसे आकर्षक वस्त्रो से अलकृत किया। उसने उसके हाथो म वलय गले मे मोतियो की माला और कानो मे बहुमूल्य कुण्डल पहनाकर उसे सज्जित किया। 'इसे नजर न लग जाए'—इसलिए ललाट और बाहो पर कज्जल की टीकियां लगाई। और अधिक क्या वह उस बच्चे के पालन मे नाम मात्र की भी कमी नही रहने दी।

३

तीसरा उच्छ्वास



समस्त प्राणीलोक के ताप का निवारक, अनेक प्रकार के वृक्ष, लता, पुष्प, फल और गुल्म तथा विचित्र प्रकार के तृण और वनस्पतियों का उत्पादक, निर्जल प्रदेश का एक मात्र आधार और कृषकों द्वारा अतिप्रिय दृष्टि से देखा जाने वाला तथा चिर-प्रतीक्षित वर्षा-काल का आगमन हुआ। उस समय आकाश मे मेघमाला उठी। वह भ्रमर और महिष की तरह कृष्ण होती हुई भी नयनाभिराम थी, धूलि के ढेरो को उठाती हुई भी नीरज थी, अन्धकार फैलाती हुई भी मन को प्रकाशित करती थी, चञ्चल प्रकाश वाली होती हुई भी भविष्य के उज्ज्वल प्रकाश को लक्षित करती थी; कर्णभेदी गर्जना करती हुई भी कर्णप्रिय थी, प्राचीन पवन से प्रेरित होती हुई भी वह नवीन थी। 'मैं अभी सबको सतुष्ट कर दूँ' मानो ऐसा सोचकर धाराप्रवाह से वर्षने लगी। चारो ओर आकाश और भूतल जल से प्लावित हो गया। हमे संग्रह रुचिकर नही है—इस प्रकार सोचते हुए मानो पनाले मूसलाधार रूप से नीचे गिरने लगे। नगर की गलियो ने विविध नदियो का रूप धारण कर लिया था। सूने कुओ मे भी ऊपर तक पानी भर गया। जलराशि धारण करने मे असमर्थ तुच्छ तालावो से पानी छलक कर आगे बहने लगा। जल से आप्लावित नदियों ने अपने तट को विशाल बना लिया। ताप का नामोनिशान मिट

गया ! चारों ओर से उस समय मधुर लगने वाली मेंढकों की टर्-टर् सुनाई देने लगी। अपने जीवन-धन पानी को पाकर चिरमूर्च्छित वनराजी खिल उठी। कृषकों ने अपने बैलों के साथ कृषि के उपकरणों की पूजा की। वे नक्षत्रों के बलाबल को जानकर, शुभ-शकुनों को पाकर, बीजों का वपन करने के लिए अपने-अपने खेतों की ओर चल पड़े। अहो ! चारों ओर सर्वाङ्गीण सौन्दर्य फैल गया।

इधर जिनदत्त प्रातःकालिक धर्मानुष्ठान से निवृत्त होकर अपने कन्धे पर कुठार ले काठ का भारा लाने के लिए कठियारों के साथ वन की ओर चल पड़ा। किन्तु ऐसे वर्षाकाल में सूखा काष्ठ मिलना सुलभ नहीं था। जिनदत्त जहां देखता था वहां सारी पृथ्वी हरियाली से अङ्कुरित दीख पड़ती थी। सूखे और टेढ़े वृक्षों पर भी नए अङ्कुर शोभित हो रहे थे। आश्चर्य ! सूखे वृक्षों के लिए कोई अवकाश नहीं था। जिनदत्त बारहव्रती श्रावक था, अतः हरे वृक्षों के छेदन का उसे त्याग था। उसने बहुत गवेषणा की, किन्तु उसे सूखा काष्ठ कहीं नहीं मिला। 'अब मुझे क्या करना चाहिए'—इस प्रकार वह चिन्तित हो गया। उसने सोचा 'यदि मैं व्रतों की रक्षा करता हूं तो आजीविका सुरक्षित नहीं रहती'। दूसरे कठियारों ने उससे स्पष्ट कहा—"तू भोला है, क्या तू यह नहीं जानता कि अब वर्षाकाल है। नियम के परिपालन से पेट का परिपालन आवश्यक और उचित होता है। 'आपत्काल में कोई मर्यादा नहीं होती।' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। इसलिए अज्ञान अवस्था में स्वीकृत और सुखी अवस्था में पालनीय तू अपनी प्रतिज्ञा को छोड़। वे लोग धार्मिक नियमों का पालन करें, जो धनाढ्य और विपुल ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और जिन्हें कोई धनार्जन की चिन्ता नहीं है। तेरे जैसे व्यक्तियों के लिए धर्म-स्थान में प्रविष्ट होने का अवकाश ही कहा है ? इसलिए तू काट, हरित काष्ठ समूह को काट।"

धर्म-निष्ठ सेठ जिनदत्त को उनका अनुचित वचन नहीं रुचा। विवेक-पूर्ण और गम्भीर उत्तर देते हुए उसने कहा—'तुमने धर्म का तत्व नहीं जाना है। धर्म के आचरण में धनवान और गरीब का कोई पक्षपात नहीं है। तत्त्वज्ञ गरीब व्यक्ति भी बहुत बड़ा धार्मिक हो सकता है, और अतत्त्वज्ञ, धनी भी धर्म करने में समर्थ नहीं हो पाता। कसौटी पर कसे गए सुवर्ण की तरह धर्म भी आपत्ति में ही परखा जाता है। चारों ओर घूमता हुआ कुत्ता भी अपना पेट भरता है। वहां आश्चर्य ही क्या है ? मनुष्य की यही महानता है कि वह प्राणों से भी ज्यादा माहात्म्य अनुत्तर श्रेष्ठ धर्म को देता है। जब मैं कठोर

धनदत्त अकस्मात् सामने मिला। उसका मुख-कमल विकसित था। किंतु उसका अन्तःकरण अत्यंत कलुषित था। काष्ठ भार से सुगन्धि फूट रही थी। धनदत्त को यह देखकर अत्यंत विस्मय हुआ। उसने सोचा—'ओह! इस अज्ञानी व्यक्ति के सिर पर यह अमरचंदन कहां से आया? क्या घुणाक्षर के न्याय से ही तो इसे प्राप्त नहीं हुआ है? क्या मूर्ख ब्राह्मण को कभी चिंतामणि प्राप्त नहीं हुआ था? कभी-कभी प्रकृति भी कुतूहल तत्पर बन जाती है। मैं इसकी मूर्खता का अतुल्य लाभ लूं। जो व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से फूटती हुई सुगंध को भी नहीं पहचानता उस मूढ को, 'यह चंदन है' इसका ज्ञान कहां से हो सकता है'—ऐसा सोचकर वह रोमाञ्चित हो उठा। वह धूर्त प्रेमपूर्वक जिनदत्त से कहने लगा—'भाई! क्या यह ईंधन बेचना है? अगर बेचना है तो उचित मूल्य बता। सज्जन की यह प्रणाली है कि वे अपने मुंह से मिथ्या बात नहीं कहते। एक बार कहकर पुनः नहीं नकारते। मुख की आकृति से तू भी भद्र पुरुष दीख रहा है। इसलिए यथेष्ट मूल्य को बता, मैं भी उसे नहीं बदलूंगा।" सभ्य पुरुष की भांति दीखने वाले धनदत्त की सुन्दर बातों को सुनकर ऋजुहृदय और वञ्चना के रहस्य से अज्ञात, अपने आशय से दूसरे के आशय को आंकने वाला सेठ जिनदत्त आनंदित हुआ और कहने लगा—'सेठ जी! आपका कहना ठीक है। मैं निरर्थक बात नहीं करूंगा। निश्चित ही मुझे यह काष्ठ भार बेचना है। अन्यथा हम जैसे व्यक्तियों का गृहस्थाश्रम कैसे चल सकता है? हम प्रतिदिन नया कुआं खोद कर पानी पीते हैं? आप जैसे व्यक्तियों की भांति हमें अपना खजाना भरने का अवसर नहीं आता। इस काष्ठ भार का मूल्य केवल ढाई आने मात्र है। इससे ज्यादा या कम नहीं होगा, यदि आपको लेना है तो.....।'

अमरचंदन की पहचान से अज्ञात सरलमतिवाले जिनदत्त की बात सुनकर वह कुशल ठग धनदत्त बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—अच्छा, अच्छा भाई! तू ने उचित मूल्य मांगा है। मैंने भी इतना ही अनुमान किया था। हमें भी तेरे जैसे कठिन परिश्रम करने वालों का यथार्थ मूल्यांकन करना चाहिए, अन्यथा अपने पसीने की बूंदों से सिक्त परिश्रम की अवमानना होती है। हाय! कितना अन्धकार है? जो व्यक्ति सतत परिश्रम करते हैं अपने शारीरिक सुख की अवगणना करते हुए शीत और ताप आदि के क्लेश सहते हैं वे भूखे, प्यासे और बेघरबार रहते हैं तथा उन्हें विद्याभ्यास का अवसर ही प्राप्त नहीं होता, वे रोगी और नग्न रहते हैं वे उपेक्षित होते हैं। वे घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इससे विपरीत जो व्यक्ति दूसरों के श्रम का लाभ

उठाने मे प्रवीण है, जो अनेक विधि कुटिल कला मे निपुण है, जो हृदयविहीन है, जो मनुष्य धर्म से रहित है, वे धन-कुबेर व्यक्ति विशाल आवासो मे वस्त्र और अलकारो से विभूषित होकर अनेक प्रकार के वाहनो से आकीर्ण, वडी तोद वाले, आलस्य मे दिन बिताते हुए भी प्रसन्न रहते है खेलते-कूदते हैं और जो कुछ कहते हुए भी गर्वोन्मत्त होते हैं।"

आश्चर्य है ! धूर्तो की वचन प्रणाली को कोई नही जान पाता ! उनके कथन मे कुछ और, विचारो मे कुछ और ही रहता है। उनका मधुर भाषण भी विषमिश्रित होता है। उनकी हसमुख आकृति भी कषाय से कलुषित और विकृत होती है। उनका किसी को सम्मान भी अप्रत्यक्षत माया का प्रपच भाव होता है। उनकी क्षणमात्र की सगति भी प्रत्यक्ष दुर्गति है। अथवा ऐसा कौन-सा अकरणीय कार्य है जिसका दुर्जन व्यक्ति समाचरण नही करता। ज्यादा उनके विषय मे क्या कहे ?

पुन वह वञ्चक धनदत्त मधु से लिप्त खड्गधारा के समान वाणी मे बोला—'इसलिए सौम्य ! मेरे साथ मेरे घर तक चल ! मैं तुझे तीन आना दूँगा ! मनुष्य की दृष्टि से तू भी मेरा भाई है। ज्यादा क्या कहूँ।'

'यह कैसा कृपालु है'—ऐसा सोचता हुआ वह भद्र जिनदत्त उसके पीछे चला। काष्ठ भार नीचे डाला ! तीन आने लेने से इन्कार करते हुए भी धनदत्त ने उसे हठपूर्वक तीन आने ही दिए और उसे सान्त्वना देते हुए कहा —'आज के पश्चात् प्रतिदिन तुझे काष्ठ भार को बेचने के लिए अन्यत्र नही घूमना पडेगा, मैं ही उसे निश्चित मूल्य मे ले लूगा। गृहस्थो के घर मे क्या क्या नही चाहिए काष्ठ की तो नित्य आवश्यकता होती ही है।'

'एक ही स्थिर ग्राहक हो गया'—ऐसा सोचकर यत्र तत्र भ्रमण से सतप्त जिनदत्त प्रसन्न हो उठा। इस भद्र व्यक्ति को रहस्य का पता भी नही चला। इस प्रकार जिनदत्त उस धूर्त धनदत्त को प्रतिदिन महामूल्यवान हरिचन्दन का भारा साधारण काष्ठ के मूल्य मे देने लगा। वह भी 'इस रहस्य को कोई जान न ले' ऐसा सोचकर उसको गुप्त रूप से लेकर छुपा देता था। उसने यह निश्चित किया कि अनुकूल अवसर को पाकर उस चन्दन को अन्यत्र भेजकर अतुल लाभ कमाना चाहिए। 'किन्तु जब कपट फलता है तब वैसा कलुषित परिणाम देता है'—वह उस मायावी धनदत्त ने नही जाना।

इस प्रकार जिनदत्त का उदर निर्वाह सुखपूर्वक होने लगा ! प्राप्त धन मे सतुष्ट भानुमती अपने विपत्तिकाल को आनन्दपूर्वक बिताने लगी। जब-जब

उन्हें अपनी पूर्व अवस्था का स्मरण होता तब-तब अपने किए हुए पापो के परिणामो का चिन्तन कर वे अपने मन को प्रसन्न करते थे। धर्म ही एकमात्र शरण है—ऐसा जानकर वे मिथ्या चिन्ता नही करते थे। परन्तु एक भी ऐसा दिन, प्रहर या मुहूर्त नही बीतता था जिसमे कि उनको अपने प्रिय पुत्र की स्मृति ताजी नही होती। वहा के समाचार पाने के लिए उनका हृदय प्रतिपल उत्सुक रहता था। परन्तु दूर देशान्तर मे अपने चिरजीवी पुत्र के तनिक भी समाचार प्राप्त नही होते थे।

इधर अत्यन्त सुख मे लालित-पालित बालक रत्नपाल चलने मे क्षम हुआ। वह अपने साथियो के साथ बाल-क्रीडाओ से खेलता हुआ क्षण मे रूठता था, हसता था, रोता हुआ भूमि पर लोट जाता था, वह अपने पडौसी बालको के साथ मिलता-झगडता हुआ उस कृपण मम्मन के हृदय को विकसित, प्रसन्न, एव आनन्दित करता था। अनेक आधि-व्याधियो मे सरक्षित एव सगोपित वह आठ वर्ष का हुआ। तब मम्मन ने उसको अनुभवी गुरु के समीप पढने के लिए पाठशाला मे भेजा। वह बालक विनय और विवेक से सपन्न था। अपनी चपलमेधा से विद्या अध्ययन करता हुआ वह अनेक विद्याओ मे पारगत होगया। वह अध्यापक महोदय के इगित आकार के अनुरूप वर्त्तन करता हुआ उनका विशेष कृपापात्र बना। वह विद्या के भार से भारी था, किन्तु नम्रता आदि गुणो से उसकी सर्वत्र प्रशसा होने लगी। मम्मन ने भी उसको गृहकार्य, लेनदेन तथा दुकान के व्यापार से परिचित कराया और उसको उसमे सलग्न कर दिया। बारह वर्ष का होता हुआ भी वह बालक बडे व्यक्तियो की तरह कार्य मे निपुण हो गया। दुकान म बैठा व्यापार करता हुआ सबके साथ मधुर व्यवहार करता था, इसलिए वह सबको बहुत भाता था। अनेक ग्राहक उसके वार्तालाप से सतुष्ट होकर वही बैठे रहते थे। 'बालक होता हुआ भी कितना दक्ष है, इस प्रकार उसकी प्रशसा करते हुए उसे छाती से लगाकर पुलकित हो जाते थे। किन्तु विविध गृह-कार्य म कुशल होने पर भी उसे अभी तक 'मैं कौन हूँ'—यह ज्ञात नही हुआ। मम्मन ने भी चारो ओर ऐसा अनुकूल वातावरण पैदा किया कि जिससे इस विषय म उसका मन तनिक भी सदेह-युक्त नही हुआ। वह जानता था कि मम्मन ही मेरा पिता है और उसकी पत्नी ही मेरी जन्मदात्री मा है। उसने कभी कोई विपरीतता नही देखी। किन्तु अत्यन्त गोपित रहस्य भी तुषराशि (घास) से आच्छन्न स्फुलिंग की भाति जब तब प्रगट होता ही है। यह निश्चित तत्त्व है कि जो है, वह है ही, उसका नास्तित्व कैसे हो सकता है ?

एक बार रत्नपाल अपने ग्राहक से ब्याज सहित धन लाने के लिए गया। किन्तु ग्राहक अपनी स्थिति के कारण धन लौटाने मे समर्थ नही था। रत्नपाल बालक था। वह दूसरे व्यक्ति के अर्थ पारतन्त्र्य से अजान था। उसने कदाग्रह किया और वही बैठ गया। उसने कहा 'आज मैं ब्याज सहित धन लिए बिना खाली हाथ नही लौटूंगा। मैं अनेक बार यहा धन लेने के लिए आया हूँ, किन्तु तू कुछ न कुछ बहाना लेकर मुझे लौटा देता है। हाय! धिक्कार है, मनुष्यो की नीति कैसी हो गई? जब धन लेना होता है तब मीठे-मीठे बोलते हैं और कहते हैं आप ही हमारे सरक्षक हैं, पालक हैं और जीवनदान देने वाले है! इस प्रकार वे बार-बार कहते हुए अद्वितीय सौजन्य प्रकट करते हैं। जब कार्य बन जाता है, हाथ मे धन आ जाता है, तब वे दूर से निकलते हैं, मानो कि कोई सम्बन्ध ही न हो! जब दाता उनसे धन लौटाने की बात करता है तब वे आखें लालकर जो कुछ भी कहते हुए उत्तेजित हो जाते हैं। खेद! कैसा विचित्र समय आया है कि लोग लिया हुआ धन लौटाना भी भूल जाते हैं। किन्तु मैं अपने दिये धन को थोडा भी नही छोडूंगा। आज तो मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि धन लिए बिना इस स्थान से नही हटूंगा" ऐसा कहकर रत्नपाल वही पालथी लगाकर बैठ गया।

रत्नपाल के सगर्व और रोषयुक्त वचन को सुनकर उसके (प्रतिदाता के) होठ क्रोध से काप उठे। उसने मन ही मन कहा अरे! यह दुधमुँहा वाचाल बच्चा कुछ का कुछ बक रहा है। मैं भी इसके अकथनीय अतीत को जानता हूँ। यह धृष्ट अपने त्यक्तगृह की स्थिति को नही जानता! अरे! यह स्वच्छदभाषी! नीति का उपदेश देते नही लजाता! अत मैं इसके समक्ष इसके माता-पिता का दुखद वृत्तान्त प्रकट करूँ।' ऐसा सोचकर क्रोध से अपनी आँखें लाल कर उसने गर्हा करते हुए कहा—'अरे! मौन रह! व्यर्थ ही अपनी धृष्टता मत दिखा! अरे महामूर्ख! तू नही जानता कि तेरे माता पिता के प्रवास का कारण तेरा जन्म ही है। अरे क्रीतदास! तू इतनी धृष्टता क्यो दिखा रहा है? क्या तेरे बाप ने मुझे धन दिया था। मेरे से अपना कलुषित अतीत सुनने के लिए यहा मत रह, यहाँ से निकल जा। जन्माध! क्या ऊँचा शिर किए घूम रहा है? मैं तुझे कुछ भी नही दूंगा! यहा तुझे मागने का कोई अधिकार नही है।" इस प्रकार रत्नपाल विकृत मुखाकृति वाले अपने ग्राहक के कर्कश वचन रूपी तीरो से ताडित और मर्माहित हो गया! उसे उपालभ का रहस्य ज्ञात नही हुआ। उसका मन शकित और कलुषित हो गया और वह असमजसता मे पड गया! उसने

सोचा—यह अविचारित वाक्य रूपी पाषाणो को फेंककर मुझे क्यो उपालभ दे रहा है और क्यो मेरा तिरस्कार कर रहा है ? इसने 'क्रीतदास' कहकर मुझे क्यो दूषित और कलंकित किया ? क्या मुझे जन्म देने वाले माता-पिता दूसरे हैं ? क्या वस्तुत मम्मन मेरे पिता नहीं हैं ? अच्छा जब तक मैं रहस्य को स्पष्ट रूप से जान न लूँ तब तक मुझे इसे कुछ भी उत्तर नही देना चाहिए। ऐसा सोचकर रत्नपाल तत्काल ही वहा से उठा। उसके मन मे अनेक विकल्प पलने लगे। वह मौन रहा और रहस्य की गवेषणा मे तत्पर होकर वहा से चला। मार्ग मे एक बूढा व्यापारी दुकान पर बैठा दीखा। विमनस्क रत्नपाल अतीत के रहस्य को प्रकट कराने के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर उस बूढे के समीप आया।

हिम से दग्ध कमल की तरह रत्नपाल के म्लान मुख को देखकर, उसके कारण की गवेषणा करते हुए बूढे ने पूछा—"वत्स ! आज तू गभीर चिंता से विह्वल क्यो दीख रहा है ? प्रतिदिन प्रफुल्लित रहने वाला तेरा मुख कमल आज मुझे भयभीत और लज्जित क्यो प्रतीत हो रहा है ? तू मुझे बता शीघ्र बता, ताकि मैं तेरे दुःख का कुछ प्रतिकार कर सकूँ।"

दीर्घ और उष्ण निःश्वास छोडते हुए रत्नपाल ने सारा वृत्तान्त सही-सही सुनाया, और किस प्रकार उस ग्राहक ने 'क्रीतदास' शब्द से उसकी भर्त्सना की—यह भी कह डाला। 'यहा क्या रहस्य है ? ऐसी कौन-सी गुप्त बात है ? हे तात ! मैं ये सारी बातें यथार्थ रूप से जानना चाहता हूँ।"

रत्नपाल का प्रश्न सुनकर वह वृद्ध कुछ मुस्कराया, सारा अनुभूत अतीत उसके प्रत्यक्ष परिस्फुरित हो उठा। यह गोपनीय बात अवक्तव्य है इस प्रकार कुछ कह कर वह मूक की तरह बैठ गया। प्रत्युत्तर को सुनने के लिए उत्सुक और विलम्ब को सहने म असमर्थ बालक के मुख को देखकर उस स्थविर ने निपुणता से थोडा रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—"पुत्र ! यह ससार रूप महा समुद्र विचित्र है। यहां प्राणियो के लिए कौन सा अघटित घटित नहीं होता ? तब तक ही मनुष्य उद्धत होता है, जब तक कि वह अतीत को प्रत्यक्ष नही कर लेता। आर्य ! जगत की दीखने वाली सारी लीला मृग तृष्णा के अतिरिक्त कुछ नही है। यहाँ आशा केवल आकाश तुल्य ही है। भद्र ! रहस्योद्घाटन मत करो। तेरा वृत्तान्त कहने म मेरी जीभ लडखडाती है तो भी यदि तेरी तीव्र जिज्ञासा है तो मै तुमसे अज्ञात तेरे चरित्र की बात थोडी सी बता दूँ। सुन, तेरा पिता जिनदत्त नागरिको म माननीय और बहुत धनाढ्य था। तेरी माता

प्रियवादिनी और दानशीला भानुमती साक्षात् लक्ष्मी के समान थी। जब तू गर्भ में था तब अकस्मात् तेरी समृद्धि पर आपत्ति आ पड़ी। वंश-परम्परा से संचित सारी लक्ष्मी स्वप्न की तरह विलीन हो गई। धन के विनिमय से तुझे मन्मन के घर में रखकर तेरे माता-पिता रात में बिना किसी को कुछ कहे, यहां से अन्यत्र चले गए।" इस प्रकार कहते हुए उस वृद्ध की आंखें डबडबा आई। "तेरा पिता मेरा परम मित्र था। दूसरा ऐसा सज्जन व्यक्ति मैंने नहीं देखा! पुत्र के तेरे विरह से दुर्बल होकर अपने विपत्ति के समय को अब कहां बिता रहे हैं—यह मैं नहीं जानता। कुलसूर्य! यह तेरा परम कर्त्तव्य है कि तू अपने पिता द्वारा लिखित प्रतिज्ञा पत्र के अनुसार अपने हाथ से खूब धन कमाकर, ऋण मुक्त होकर अपने माता-पिता की गवेषणा कर उनके साथ अपने घर चला जा। सौम्य! वही पुत्र आनन्ददायी होता है जो अपने वंश का उद्धार कर्त्ता, माता-पिता को सुख देने वाला तथा अपने पूर्वजों के नाम को उज्ज्वल करनेवाला होता है। देख, खेद करने से कुछ नहीं होगा। जो कुछ होगा वह बड़े पुरुषार्थ से ही होगा! मेरी कल्पना है कि तू अपने शून्य घर को अवश्य हराभरा करेगा'—इस प्रकार कहकर वह वृद्ध पुरुष रत्नपाल को विश्वास की दृष्टि से देखने लगा।

कानों को कांटों की भांति चुभने वाले अश्रुतपूर्व अपने अतीत के वृत्तान्त को सुनकर रत्नपाल लिखित चित्र की भांति, मंत्र से कीलित (सर्प) की भांति स्तब्ध, उद्विग्न, विस्मित और रोमाञ्चित हो गया। "अरे! आज तक मैंने अपना वृत्तान्त नहीं जाना। ओह! उस ग्राहक ने ठीक ही कहा था। खेद! मैं क्रीतदास हूं। माता-पिता की वैसी प्रवृत्ति मेरे हृदय को पीड़ित कर रही है। मेरे निर्लज्ज जीवन को धिक्कार है, जिसका जन्म भी सब कुछ विध्वंस करने वाला हुआ है। मैंने ऐसा कौन-सा कलुषित आचरण किया है? हा! मैं कुलांगार हूं, मेरा वृत्तान्त कौन नहीं जानता। ओह। ऐसा क्यों हुआ? मैं मानता हूं कि मेरे परम श्लाघनीय पूज्य माता-पिता दुखित है। अहा! यदि मैं गर्भ से गिर जाता तो मेरे माता-पिता की ऐसी दशा नहीं होती। अब मुझे क्या करना चाहिए? ज्यादा चिन्तन करने से क्या होगा? पुरुषार्थ से सब कुछ अच्छा होगा" इस प्रकार उसका हृदयसागर अनेक विकल्पों से विलोडित हुआ, वह उस स्थविर को प्रणाम कर शीघ्र ही वहां से लौट पड़ा और कहीं भी आनन्द न पाता हुआ सीधा घर चला आया। घर आकर वह आंसुओं से गीले कपोल पर हाथ रख पैर भूमि को कुरेदता हुआ एक ओर खुली जमीन पर चुपचाप बैठ गया!

इधर मन्मन भी मध्याह्न की भोजन वेला जानकर 'पुत्र रत्नपाल बहुत देर तक भूखा न रह जाए'—ऐसा सोचकर शीघ्र ही घर आ गया। किन्तु उसे अपने नयनों का चन्द्र पुत्र रत्नपाल नहीं दीखा। 'क्या ऋण लेने के लिए गया हुआ वह अभी तक नहीं लौटा? भार्ये! तेरी गोद में क्रीडा करने वाला पुत्र अभी क्यों नहीं आया? तू पुत्र की चिंता से निरपेक्ष होकर दूसरे कार्यों में कैसे रत है?' इस प्रकार मन्मन ने उच्च स्वर से अपनी पत्नी को पूछा।

पत्नी ने साश्चर्य कहा—'अभी-अभी मैंने उसे आते हुए देखा था। परन्तु बाद में वह चपल कहां गया—इसका मैंने ध्यान नहीं दिया।"

'वह कहां छुप गया है'—ऐसा सोचकर मन्मन विस्मय और खेद की दृष्टि से उसे ऊपर नीचे ढूंढने लगा। कृपण मन्मन ने शुष्क मुखकमल वाले रोते हुए, कंधे को नीचे किए हुए भूमि पर बैठे अपने पुत्र को देखा।

उसने कहा—'अरे! यह क्या? यह क्या? पुत्र! किस दुर्भाग्य ने तुझे पीडित किया है जिसके कारण रो रहा है? किस मदान्ध ने तेरा अपराध किया है? जो तेरी अवमानना करता है, क्या उसे अपना जीवन अप्रिय है? तू प्रतिदिन हँसमुख रहता है, आज विमन और दुर्मन क्यों है? क्या तुझे इच्छित वस्तु नहीं मिली? क्या आज रूखे स्वभाववाली तेरी मां ने तुझे डांटा है? अथवा ऋण न चुकाने वाले ग्राहक ने तेरा पराभव किया है? बोल वत्स, बोल। तेरा व्याकुल पिता तुझसे यथार्थवृत्तान्त पूछ रहा है। मैं उसका शीघ्र ही प्रतीकार करूंगा।' इस प्रकार आश्वासन देते हुए मन्मन ने भुजाओं से पकड कर अपने पुत्र को उठाया और गोद में ले लिया। उसके मस्तक को सूँघता हुआ आंसुओं से गीले उसके मुख को पोंछने लगा।

इस प्रकार मन्मन ने रत्नपाल से साग्रह पूछा। तब वह यथार्थ बात प्रकट करने के लिए प्रेरित हुआ और उसने गद्‌गद् भाषा में यथा ज्ञात रहस्य स्पष्ट रूप से कह सुनाया। उसने कहा—'श्रेष्ठीप्रवर! आप मेरे पिता के समान पूजनीय हैं, किन्तु मुझे पैदा करने वाले वास्तविक पिता नहीं है। सारा रहस्य आज मैंने जान लिया है। स्नेह रूपी अंकुर के लिए मेघ के समान महामना तथा सात्त्विक वृत्ति वाले जिनदत्त मेरे पिता हैं! प्रेम की नदी भानुमती प्रत्यक्ष रूप में मुझे जन्म देने वाली मेरी माता है। हाय! हाय! दरिद्रता रूपी दावानल से दग्ध वे धन के बदले में मुझे तुम्हारे घर में छोडकर अज्ञात रूप से कहीं चले गए हैं! आज यदि मेरे माता-पिता आकर मुझे कहे 'चलो पुत्र'—तो मैं

तत्क्षण बिना कुछ देर किए निःसन्देह रूप से उनके साथ अपने घर चला जाऊँ। ओह! दूसरे के घर मे रहने का सुख भी क्या सुख है? अपनी झोपडी चाहे वह टूटी फूटी हो, फिर भी वह अपनी है और दूसरे का घर चाहे वह कितना ही भव्य प्रासाद क्यो न हो, आखिर दूसरे का ही है। इस प्रकार कहता हुआ रत्नपाल जोर से रोने लगा।

रत्नपाल की अकल्पित, अतर्कित और अप्रत्याशित बातो को सुनकर मन्मन ने किसी असहनीय और अतुल वेदना का अनुभव किया। उसके हृदय की धड़कन तेज हो गई। आँखें विस्फारित हो गई। उसकी लम्बी और दृढ आशा हिमखण्ड की तरह पिघल गई। उसने सोचा—अरे! इसे कौन नागरिक धूर्त मिल गया जो कि मेरा जन्म जन्मान्तर का शत्रु था? हाय! उस दुष्ट ने सुघटित और सुमडित मेरे वज्र-प्रासाद को भूमिसात् कर दिया! हे पिशुन! मेरे कल्पना के कल्पतरु को उखाड कर तेरे हाथ क्या लगा? हाय! हाय! चुगलखोरो का स्वभाव विचित्र होता है। वे दुष्ट अकारण ही दूसरो के दुःख से स्वय सुख का अनुभव करते है और दूसरो के नाश से सन्तुष्ट होते है! अरे! इसका लालन पालन निरर्थक हो गया। ओह! क्या पराये पुत्र से घर बसाया जा सकता है? इस प्रकार बहुत विकल्प करता हुआ वह मन्मन कोई उपाय ढूँढते हुए बोला—"पुत्र! किस पर-सुख दुर्बल दुष्ट ने तुझे व्यर्थ ही भ्रान्त कर निरर्थक आशकाओ मे डाल दिया है? जिनदत्त कौन है? भानुमती कौन है? किस द्रोही ने ये कपोल कल्पित नाम प्रस्तुत किए हैं। भ्रान्त मत हो, शीघ्र चल और मेरे साथ भोजन कर! देख, अनेक व्यजनो से सयुक्त यह सरस भोजन शीतल हो रहा है! तेरी माता तेरी प्रतीक्षा कर रही है। वह तुझे न देख कर पागल सी हो रही है।"

"श्रेष्ठिप्रवर! यथार्थ वस्तु पर कपट का आवरण न डालें। अब तक बहुत हो चुका कि मुझे अन्धकार मे रखा। अब मेरा ज्ञान प्रदीप प्रज्वलित हो गया है अथवा भ्रान्ति शालिनी मेरी अज्ञान रूपी भामिनी विभासुर हो चुकी है। पहले मेरे प्रवास-गमन की व्यवस्था करें। मैं बाद मे ही कुछ भोजन करूँगा। खैर! यदि यह वृत्तान्त मुझे पहले ज्ञात हो गया होता तो कितना सुन्दर होता" बालक रत्नपाल ने यह बात निःशक रूप से कही।

मन्मन ने सोचा किस धूर्त ने इसे दृढता से यह विपरीत पाठ पढाया है? आश्चर्य! इसके स्वभाव मे कैसी रूक्षता आ गई है। यह अत्यन्त लज्जालु और अल्पभाषी था, परन्तु आज कितना वाचाल और उद्दण्ड हो गया है। धिक्कार है, किसी मत्सरी व्यक्ति ने सारा निष्फल कर डाला। अब यह

रोग असाध्य हो गया है। इसकी आशा अब प्रत्यक्ष रूप से निराशा में बदल गई है।

'पुत्र ! मैं शीघ्र ही सारा प्रबन्ध करूँगा ! अभी तुझे भोजन करना चाहिए'—ऐसा कहते हुए मम्मन ने पुत्र को भोजन करने के लिए उठाया। उन दोनों ने ज्यों त्यों सरस और ताजा भोजन भी बिना स्वाद खाया। बाद में मम्मन ने अपने वाणिज्य-कुशल पुरुषों को बुलाकर उन्हें क्या करना है—सारा कह सुनाया। जहाज तैयार किया और उसे तत्र सुलभ विक्रयणीय पदार्थों से भरा गया। शुभ तिथि, करण और योग से संयुक्त शुभ मुहूर्त में प्रस्थान करने का निश्चय किया। निश्चित समय आने पर सबके सामने जनक-स्थानीय मम्मन को विनय सहित प्रणाम करते हुए रत्नपाल ने कहा—'मेरे लिए किया हुआ पूज्य पिताजी का ऋण चुकाने के लिए आज मैं देशान्तर जा रहा हूँ। आज तक मैं यहां बहुत आनन्द से रहा और यहां मेरा लालन-पालन अपने पुत्र की भांति बहुत ही स्नेह से हुआ और मुझे सर्वाङ्गीण सुख मिला। इन महानुभावों का आज भी वैसा ही प्रेम है तो भी मुझे अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। मैं अब प्रवास में जा रहा हूँ। जहाज पर जितना भी माल बेचने के लिए रखा गया है, वह सारा सेठ जी का है, मेरा कुछ भी नहीं है। देशान्तर में जाकर माल बेचने पर जो भी लाभ होगा, उससे पूज्य पिताजी द्वारा लिए गए ऋण को ब्याज सहित दूँगा और साथ-साथ जहाज में रखे गए सामान का मूल्य भी अर्पित करूँगा। प्रस्थान काल में जो कुछ भी मुझे सेठ से पारितोषिक रूप में प्राप्त होगा, उसका लाभ मैं स्वयं लूँगा, सेठ को वह नहीं लौटाऊँगा," यह सुनकर महान् कंजूस मम्मन ने सोचा—इसे मैं क्या दूँ ? अन्त में अति तुच्छता दिखाते हुए उस कंजूस ने उस समय में प्रचलित एक छोटा सिक्का 'भंमुदी' रत्नपाल को भेंट स्वरूप दिया। इस अति तुच्छ दान के कारण सभी दर्शकों के मन में सेठ के प्रति हीनता के भाव आए। धिक्कार है, कंजूस के निर्दय हृदय और निर्लज्ज दान को ! चिरकाल तक पोषित अपने पुत्र के साथ भी उसका कैसा व्यवहार है ? तो भी समयज्ञ रत्नपाल ने उस भेंट को आनन्द से स्वीकार किया, उसे माथे पर चढ़ाया और सुरक्षित रख दिया। उसने कहा—"आपकी कृपा से यह लघु दीखने वाला दान भी मेरे बहुत लाभ का हेतु बनेगा ! क्या वट वृक्ष का छोटा बीज विस्तार को नहीं पाता ?"

४

चौथा उच्छ्‌वास

●

प्रकृति का यह नियम त्रैलोक्य-विदित है कि जिस व्यक्ति की जैसी शुभ-अशुभ भावना होती है, वैसा ही उसे परिणाम मिलता है। जो प्रतिदिन रोग का चिन्तन करते रहते हैं, वे रोगी हो जाते हैं और जो आरोग्य की कल्पना करते हैं, वे स्वस्थ बन जाते हैं। वे मनुष्य कभी ऊँचे पद को प्राप्त नहीं कर सकते जिनके मन में सदा निराशा, दौर्बल्य और अपने आप में अविश्वास परिस्फुरित होता रहता है। 'हमारे जैसे व्यक्तियों के दिन बीत गए, अब तो हमें ज्यों-त्यों समय बिताना है। भविष्य में जब कोई अनुकूल अवसर प्राप्त होगा, तब कुछ करने की सोचेंगे'—इस प्रकार जो व्यक्ति निरंतर अपनी असमर्थता का अनुभव करते हैं वे कभी अपने प्रयोजन को पूरा नहीं कर पाते, उनका मनोरथ कभी फलित नहीं होता और उनके स्वप्न कभी साकार नहीं होते। जिनके विचार उदार हैं, कल्पनाएँ कल्याणकारी हैं, जो सर्वाङ्गीण हित सोचते हैं और जिनका चित्त निर्मल है, वे सर्वत्र सुखी होते हैं, सुख उनके सम्मुख रहता है। आपत्ति में भी उनका आशारूपी निर्झर नहीं सूखता। भयानक रात्रि में भी उन्हें प्रभात दीखता है। उन्हें स्वतः दूसरों की अकल्पित सहायता प्राप्त होती है। इसलिए उत्साह सभी सफलताओं का मूल, कल्-

नाओं की त्रियान्विति के लिए कल्पवृक्ष, कामनाओं की पूर्ति के लिए कामकुंभ और इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए चिन्तामणि के समान है।

अनुकूल वातावरणों से प्रेरित होकर रत्नपाल ने मन्मन के घर से देशान्तर के लिए प्रस्थान किया। उस समय उसका आन्तरिक उत्साह बढ़ रहा था। अनेक साथी उसे घेरे हुए थे। गुरुजनों के आशीर्वाद को पा वह आश्वस्त था। स्तुतिकार मंगलमय वचनों से उसकी स्तुति कर रहे थे। उस समय वह स्वतः समुपस्थित शुभ शकुनों से वर्धापित हो रहा था। रास्ते में एक मालिन माथे पर फूलों की टोकरी लिए सामने मिली। 'देशान्तर जाने वालों के लिए यह अति शुभ शकुन है—ऐसा सोचकर रत्नपाल ने मन्मन द्वारा अर्पित लघु-मुद्रा को देकर तत्काल फूलों की टोकरी ले ली। उसमें दाडिम और धातकी के ताजे सुगन्धित फूल थे। ये शुभ हैं—ऐसा सोचकर विवेकी रत्नपाल ने उन्हें सुरक्षित रख लिया। परमेष्ठिमंत्र का स्मरण करता हुआ अनेक मुनीमों के साथ गुरुजनों को प्रणाम करता हुआ जब वह नौका पर चढ़ने लगा तब एक अनुभवी स्थविर ने आकर कहा— पुत्र! जहां इच्छा हो वहां जाना। पूरे लाभ को प्राप्त करना। परन्तु 'रत्नकूट' द्वीप में कभी मत जाना, क्योंकि वहां जाने वाले वहां के धूर्त-शिरोमणियों से ठगे जाते हैं।' अच्छा! कहकर रत्नपाल ने उसकी बात स्वीकार की। नाविकों ने नौका चलाई। ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ी त्यों त्यों वह गहरे पानी में चलती गई। ऊपर आकाश था, चारों ओर पानी पानी दीख रहा था। क्या सारी भूमि जल-जलाकार हो गई है? ओह! तत्वज्ञों के लिए सागर की स्थिति दर्शनीय होती है। 'सीमा का उल्लंघन न हो जाए'—इस प्रकार शंकित होकर आगे बढ़ने वाली लहरें मानो पुनः पीछे सरक जाती थीं। 'महान् व्यक्तियों को शक्ति का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए'—इस बात को व्यक्त करता हुआ महान् सामर्थ्यशाली और क्षण भर में सारे संसार को जलमग्न कर देने में समर्थ समुद्र मर्यादा में रहता है। इसीलिए आगमकारों ने तीर्थंकरों के लिए 'सागर की तरह गम्भीर' ऐसी उपमा दी है। 'दान देने से दानवीरों के धन में न्यूनता नहीं आती। समुद्र बड़े-बड़े बादलों के शून्य उदर को भरता हुआ भी कभी रिक्त नहीं होता' यह दिखाते हुए मानो वह ऊंची उछलती हुई लहरों से शोभित होता है। समुद्र इस बात का साक्षी है कि वे ही व्यक्ति महामूल्य रत्नों और मुक्ताओं को पा सकते हैं जो निडर हो गहरे जल में जाने में समर्थ होते हैं और अपने प्राणों को हाथ में लेकर चलते हैं। जो व्यक्ति डरपोक हृदय वाले हैं और जो केवल सतह पर ही चलने वाले हैं वे इन रत्नों

को कभी नहीं पा सकते हैं—इस तथ्य को बताते हुए समुद्र कितने शख, शुक्ति और कौडिओ के ढेरो से युक्त तटों मे शोभित होता है। इस प्रकार काव्य कल्पना मे निपुण भानुमती का पुत्र रत्नपाल समुद्र मे सकुशल यात्रा कर रहा था। अल्पज्ञ मनुष्य जो-जो सोचता है, वह सारा वैसे ही हो, यह कोई निश्चित नियम नहीं है। अरे मनुष्य जो सोचता है यदि वह सारा साकार हो जाए तो जगत् का सारा कार्य एक ही क्षण मे अस्त व्यस्त हो जाए और अदृष्ट की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाए। यहाँ का रहस्य विचित्र है। अलक्षित लक्ष्य को लक्षित करने वाले कुछ एक महामेधावी जन ही इसे जान सकते हैं।

रात्रि मे अचानक ही बिजली चमकने लगी। बादल उठे। बादलों की गर्जना सुनाई दी। भारी वृष्टि होने लगी। घना अधकार छा गया। वेग से झझावात चलने लगा। पूर्ण नियन्त्रण करने पर भी स्वच्छद व्यक्ति की तरह, भाग्य से प्रेरित दिग्भ्रान्त नौका इधर-उधर दौड़ने लगी। उसमे बैठे हुए सभी व्यक्ति शकित हो गए, उनका हृदय काप उठा, वे किंकर्तव्यविमूढ होकर अपने-अपने इष्टदेव की स्मृति करने लगे। नाविको ने नौका रोकने के लिए बहुत प्रयत्न किया, परन्तु प्रतिकूल पवन से प्रेरित, भावी के वशवर्ती, वह नौका एक अलक्षित द्वीप पर जा लगी। प्रभात हुआ। वृष्टि शान्त हुई। तट के पास नौका को बाध दिया, सूर्योदय हुआ। 'यह कौन सा द्वीप है ?'—सबके मन मे प्रबल जिज्ञासा जगी। रत्नपाल नौका से नीचे उतरा और तट पर इधर उधर घूमने लगा। इतने म ही उसने एक आदमी को अपनी ओर आते देखा। बुलाने पर वह समीप आया। रत्नपाल ने पूछा—'यह प्रदेश कौनसा है ?' उसने तत्काल कहा—'कुमार ! यह कालकूट नाम का द्वीप है। यहाँ कूटनामन नाम का राजा रहता है। वह अनेक माया करने मे कुशल, प्रतिदिन दभ का आचरण करने वाला और सभी धूर्त व्यक्तियो का शिरोमणि है। यहाँ के सभी नागरिक एक एक से अधिक धूर्त, मीठे बोलने वाले सदा यथार्थ व्यवहार का दिखावा करते हैं। भद्र ! कोई सामुद्रिक व्यापारी भाग्यवश यहा आ जाता है तो, जिस प्रकार गीध मृत कलेवर को खण्ड खण्डित कर देते हैं, उसी प्रकार वे भी उसको ठग लेते है और उसे महादारिद्रय अवस्था को प्राप्त करा देते हैं। मेरे साथ भी ऐसी ही माया प्रधान घटना घटित हुई है, वह घटना इस प्रकार है—एक बार मैं विक्रय वस्तुओ से नौका को भर कर समुद्र को पार कर रहा था। प्रतिकूल पवन से प्रेरित

यह काम मूर्खता का द्योतक भी है। इस प्रणाली से तुम्हारी मूल पूंजी सुरक्षित कैसे रह सकती है ?

उसने पूर्ण श्रद्धापूर्वक कहा—'तुमने ठीक प्रश्न किया है। उसका उत्तर देने के लिए मेरा मन लज्जा का अनुभव कर रहा है। परन्तु क्या करूं, मेरा दानशील स्वभाव ही ऐसा है, कि मैं उसे व्यापार मे भी नही भूल सकता। कार्य कैसे चलता है'—इसको मैं अभिव्यक्त नही कर सकता। सर्वक्षतिपूरक, सर्वशक्तिमान् और सबके योग क्षेम को करने वाला क्या कोई ईश्वर नही है ?

इधर घी लेकर वह कन्या अपने स्थान पर गई। घी को देखकर उसके पिता ने आश्चर्य से पूछा—'पुत्री ! मूल्य की अपेक्षा से घी दुगुना दीख रहा है।' जिसके यहां से तू घी लाई है उस जैसा धूर्त शिरोमणि इस नगर मे दूसरा कोई नही है। उसने ऐसा क्यों किया ? इसमे कोई रहस्य है। क्या वहां कोई प्रवासी उपस्थित था ? पुत्री ने कहा—' हा, एक अपरिचित मनुष्य वहा कोई वस्तु रखने के लिए बार-बार उससे अनुरोध कर रहा था।'

पिता ने कहा—'सत्य है, उसको ठगने के लिए उस धूर्त ने यह माया रची है। कन्ये ! उसे घी पुन: लौटाने के लिए शीघ्र जा और जैसा मैं कहूं उसे जोर से कह आ।' घी लेकर कन्या शीघ्र ही उसकी दुकान पर आ पहुंची और म्लान मुख से बोली—'दुकानदार ! तुमने यह अनुचित क्यों किया ? इसे देखकर मेरे पिता बहुत कुपित हुए। और मुझे मूर्ख कहकर तिरस्कृत किया, निर्दयता से डाटा। मुझे शिक्षा देते हुए उन्होने कहा—'भद्रे ! हम निर्धन है, इसकी चिन्ता नही करनी चाहिए। न्याय युक्त श्रमजल से सिक्त भोजन से हम सतुष्ट है और सुख से अपना जीवन बिता रहे है। न्याय से उपार्जित एक कौडी भी करोड के बराबर है और अन्याय से सचित कुटिल करोड भी हमारे लिए कार्य साधक नही है। इसलिए तू इस अहितकारी अधिक घी को लौटा आ'—इस प्रकार कहती हुई उस कन्या ने घृत पात्र को उसके समक्ष रखा और जो अतिरिक्त घी था उसे लौटाकर तत्काल वहा से मुड गई। तब मैंने सोचा—'हन्त ! बालिका का पिता निश्चित ही महान् सत्यवादी होना चाहिए, जिसने आगत अतिरिक्त घृत को नही रखा। ओह ! कैसी विशुद्ध नीति, कितना विमल चिन्तन और धार्मिक निष्ठा है। यदि मैं उसके पास अपना धन रखूं तो भविष्य मे कोई भी भय सम्भव नही है' ऐसा निश्चय कर मैं तत्क्षण धन लेकर वहां से कन्या के पीछे-पीछे चला। ऐसा देखकर उस

दुकानदार की नैया मानो समुद्र के बीच डूब गई। पीछे से उसने बहुत पुकारा किन्तु मैंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। 'यह धूर्त शिरोमणि है' ऐसा स्पष्ट अनुभव करता हुआ उसके (लड़की के) घर पहुंचा। उसने भी सम्मान-पूर्वक कुशल प्रश्न पूछे और सानुनय अपनी जिज्ञासा प्रगट करते हुए कहा—'क्या मेरे योग्य कोई सेवा है?' मैंने भी धन दिखाते हुए अपना अभिप्राय उसे बताया। यद्यपि बहुमूल्यवान द्रव्य को देखकर उसे पाने के लिए उसका अन्तःकरण बहुत आतुर हो उठा, फिर भी उपरितन भाव से वह पूर्व व्यापारी की तरह निपुणता पूर्वक लेने से इन्कार करता रहा। जैसे-जैसे वह प्रतिषेध करता रहा वैसे-वैसे ही मैं धन को वहीं रखने की भरसक चेष्टा करता रहा। इसी बीच एक ब्राह्मण भिक्षाटन करता—'स्वस्ति कल्याणम्'—इस प्रकार बोलता हुआ उसके मकान में आया। गृहस्वामी ने अपनी पत्नी से कहा—ब्राह्मण को एक सेर चावल दो'—भार्या ने सम्मान सहित विप्र को दान दिया।

दान लेकर चलते हुए ब्राह्मण ने सोचा—आश्चर्य! यह नई बात कैसे हुई जहां मुट्ठी भर आटा भी दुर्लभ है, वहां ऐसी दानशीलता! कृपणता से कर्कश यह पत्नी झूठे हाथ से कुत्ते को भी नहीं दुत्कारती, पीसती हुई भी धान्य के कणों को चबाती रहती है, वहां चावलों का दान? कोई ठगी का जाल है—ऐसा अनुसंधान करते हुए उसने पीछे मुड़कर देखा। उसे मैं दिखाई दिया। उसने सोचा—'इस प्रवासी को ठगने के लिए यह दानशीलता दिखाई है। मैं भी अवसर का लाभ क्यों न उठा लूं'—यह निश्चय कर उसने अपनी पगड़ी में एक छोटा सा तृण डाला और तत्क्षण वहां से मुड़ गया। उदास मुख से वह कहने लगा 'ओह! महान् अपराध, अभूतपूर्व दोष, अक्षम्य त्रुटि हो गई। भ्राता? मैं अत्यन्त दुखी हूं। हाय! जब मैं दान लेने के लिए झुका तब छप्पर का एक तृण आपकी बिना आज्ञा से मेरी पगड़ी में लग गया। कुछ आगे जाने के बाद मेरा हाथ उस तृण पर पड़ा। उस समय मेरा हृदय कांप उठा। मैंने सोचा—हा! हा! मैंने अज्ञान अवस्था में यह क्या अनर्थ कर डाला? आज तक मैंने किसी का बिना दिया हुआ नहीं लिया। आज प्रतिज्ञा का भंग हो गया।' यह तृण तुच्छ है, क्या यह भी चोरी है? छोटा अपराध कुछ भी नहीं है।'—ऐसा सोचकर यदि मैं उसकी उपेक्षा करूं तो मेरी वृत्ति अर्गल हो जाए और तब मैं दूसरों के सोने के अपहरण को भी दोष-रहित मानने लग जाऊं। ओह! ब्राह्मण का सारा क्रिया-कलाप विलुप्त हो जाए। हम भिक्षुकों का केवल भिक्षा लेना ही अधिकार है। भिक्षा से

संतुष्ट हम प्रतिपल परम आनन्द का अनुभव करते हैं। धन के संग्रह से हमारा क्या प्रयोजन ?—इस प्रकार कहते हुए उसने वह तृण गृहस्वामी को दे दिया और वहां से चल पड़ा। उसके अद्वितीय सत्यनिष्ठ कथन को सुनकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ। मैंने सोचा—'ओह! यह ब्राह्मण कितना अलोभी, नीति कुशल और धर्म में दृढ़ है। यह महात्मा है। यदि मैं अपना धन इसे सौंप दूं तो उसके अपहरण की शंका उठती ही नहीं। ऐसा सोचकर वहां से धन लेकर चल पड़ा। पहले के धूर्त ने मुझे रोका, किन्तु मैं वहां नहीं ठहरा। उस भिक्षु के पीछे पीछे चलते हुए मैंने उसके घर में प्रवेश किया। उसने मेरे साथ बहुत मधुर व्यवहार किया। मैंने भी अपना धन दिखलाकर उसे अपने पास रखने के लिए आग्रह किया परन्तु उस धूर्त ने स्पष्ट रूप से अपनी अनिच्छा दिखाई। उसी समय एक योगी भिक्षा के लिए आया और शंख बजाने लगा। उसे देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सभक्ति उसे वंदना की। 'धन्य है मेरा भाग्य'—ऐसा कहते हुए उसने योगी की झोली परमान्न (खीर) से भर दी और दूसरे बहुत सारे सुमधुर भोजन भी दिए। भारी झोली लेकर योगी गुरु के समीप आया। नवीन सरस भिक्षा को देखकर वृद्ध गुरु को आश्चर्य हुआ। आज कौन ऐसा नया दानी नगर में उत्पन्न हुआ है जिसने ऐसे रसों से भरपूर भोजन भिक्षा में दिया है ? गुरु ने कहा—अरे! तू प्रतिदिन रूखा सूखा, बचा-खुचा भोजन लाता है। ऐसा मनोज्ञ भोजन कभी तुझे प्राप्त नहीं हुआ। क्या वहां कोई नया धनी भद्र पुरुष बैठा था ? इसमें कोई रहस्य अवश्य है। शिष्य ने कहा—हां।

गुरु ने कहा—शिष्य! झोली लेकर वहां जाने की शीघ्रता कर। वहां जाकर मैं जो कुछ कहूं उसे कहकर अतुल सफलता प्राप्त कर। 'जैसी आपकी आज्ञा' ऐसा करता हुआ शिष्य झोली लेकर शीघ्र ही वहां आया और सखेद कहने लगा—भाई! आज मैंने गुरु का बिना कारण ही उपालंभ पा लिया। जब मैं भिक्षा लेकर गुरु के पास गया, तब वे तुम्हारे द्वारा दी गई सरस भिक्षा को देखकर विरक्त गुरु मेरे ऊपर लाल हो गए और कुपित वाणी से उपालंभ देते हुए बोले—मूर्ख! क्या साधु के लिए ऐसी भिक्षा योग्य है ? केवल तृण को खाता हुआ बकरा कामवासना से बहुत पराजित हो जाता है, तब यह भोजन करता हुआ योगी ब्रह्मचारी कैसे रह सकता है ? रस का लोलुपी और योगी भी ऐसा कभी नहीं हो सकता। अनेक प्रकार के रस और व्यंजनों से युक्त भोजन से हमें क्या प्रयोजन है ? हमें तो रूखा-सूखा भोजन करना चाहिए। एकान्त वन में रहना चाहिए और तीर्थयात्रा करनी

चाहिए। तपस्या से विहीन कोई भी साधना सफल नहीं होती ऐसा कहकर वह खीर आदि पदार्थों को वहीं छोड़कर चला गया। यह सुनकर मैं स्तंभित, विस्मित और उसके गुण से रंजित हो गया। मैंने सोचा—'ऐसा वैराग्य ! विचित्र अनासक्ति, अद्भुत विरक्ति ! मुझे अपना द्रव्य निःसंशय इसे ही सौंपना चाहिए। तत्काल उसके पीछे पीछे चलते हुए मैंने नगर के बहिर्भाग में स्थित मठ में महन्तजी के दर्शन किए। वैराग्यमय वार्तालाप चला। मैंने अपने धरोहर रखने के लिए उनसे प्रार्थना की। 'हमारा इनसे क्या प्रयोजन'—ऐसा कहकर उसने निषेध किया। अन्त में बहुत आग्रह करने पर उसने मेरी प्रार्थना स्वीकार की। 'यहां कोई भय नहीं है'—इस प्रकार मैं निश्चिन्त होकर समुद्र में आगे चला।

पीछे से धन के महान् लोभी महन्त ने सभी शिष्यों को अलग कर दिया। मठ के मुख्य द्वार का भी बदल दिया। सभी वृक्षों को काट डाला। अपनी एक आंख फोड़ डाली। सारी लीला ही बदल दी।

कुछ समय के बाद जब मैं अपनी धरोहर लेने की इच्छा से यहां आया तब कुछ भी परिचित नहीं मिला। महन्त ने मेरे साथ बात भी नहीं की। उसने कहा—'तू भूल गया है, यहां स्वप्न में भी ऐसी घटना घटित नहीं हुई।' इस प्रकार वह अपनी यथार्थ घटना सुनाता हुआ रत्नपाल से कहने लगा—

कुमार ! उसके बाद से मैं यहां-वहां घूमता हूं, परन्तु कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। अस्तु' मेरा कहने का यही तात्पर्य है कि तुम्हें यहां बहुत दक्षता से बर्ताव करना चाहिए, अन्यथा तुम्हारा कुशल नहीं है—ऐसा मानना चाहिए। संक्षेप में ऐसा निवेदन कर—'मुझे कोई देख न ले'—ऐसा सोचकर वह तत्काल वहां से चला गया।

रत्नपाल ने स्थविर के अनुभवी शब्दों को याद किया। हाय ! विधि का विधान अज्ञात होता है। मैं अनिच्छित स्थान पर आ गया। 'अब क्या करना चाहिए ?' यह सोचकर कुमार चिन्तित हो उठा।



५

पांचवां उच्छ्वास

●

अहो! पुद्‌गलजन्य सभी अच्छी परिणतियां पुण्यकर्म से प्रेरित होती है। पुण्य-बंध भी बिना शुभयोग के नहीं होता। जहां शुभ योग है वहां निश्चित ही निर्जरा है, ऐसा आगमिकों का कथन है। निर्जरा भी तप के बिना नहीं हो सकती। तप भी स्पष्ट धर्म का अंग है। अतः धर्म ही सभी सुखों का मूल है यह सुनिश्चित तथ्य है।

इधर दो राजपुरुष घोड़े पर बैठे हुए अपनी ओर शीघ्रता से आते दिखाई दिए। रत्नपाल ने शंकित होकर उन्हें देखा। ये कौन हैं? मेरे समीप क्यों आ रहे हैं? उसके मन में ऐसा कुतूहल उत्पन्न हुआ। शीघ्र ही वे इसके पास आए और अभिलाषा से पूछने लगे— 'कुमारश्रेष्ठ! क्या तुम्हारे पास दाडिम और धातकी (धाय) पुष्प है? हमारे रुग्ण राजा की चिकित्सा के लिए उनकी आवश्यकता है। यदि तुम्हारे पास हों तो हमें अवश्य दो। यह महान् मूल्यवान् अवसर है। *समयज्ञ व्यक्ति को इसे नहीं खोना चाहिए"* इस प्रकार कहकर दोनों उत्तर की प्रतीक्षा में मौन हो गए।

"अहो! धूर्त व्यक्तियों की कला अकल्पनीय होती है। उनकी विद्या को कोई नहीं जान सकता। उनके तत्त्व को कोई नहीं समझ पाता। इन्होंने दाडिम और धातकी के पुष्पों की गुप्त बात कैसे जान ली? दूसरों को ठगने

का प्रथम प्रयास विचित्र होता है"—इस प्रकार कुमार शंकित हो गया। अथवा क्या यह सारा रहस्य 'अन्धवर्तकीयन्याय' से घटित हो रहा हो? मुझे इसका उत्तर दक्षता से देना चाहिए, ताकि मेरा सामयिक कृत्य विनष्ट न हो। कुछ सोचकर रत्नपाल ने कहा—"रोगो का आक्रमण भीषण हो सकता है। उनका प्रतिकार अनेक औषधोपचार मे हो सकता है। पुष्पों के लिए आपका प्रश्न भी उचित है। किन्तु हम यहाँ के मनुष्यो से अपरिचित हैं। इसलिए हम कैसे जानें कि आपकी याचना यथार्थ है? यदि स्वय राजमन्त्री यहाँ आकर सारा वृत्तान्त उचित रूप से बताए और हमारा मन विश्वस्त करें तो सभव हैं कि यथेप्सित वस्तु प्राप्त हो सकती है।

रत्नपाल की युक्ति-युक्त बात सुनकर दोनो राजपुरुष प्रसन्न हो गए। शीघ्र ही हम महामात्य को पुष्प लेने भेजेंगे—इस प्रकार कहते हुए दोनो नगर दिशा की ओर सहसा दौड पडे।

भाग्यशाली कुमार रत्नपाल अनेक विध कल्पना करता हुआ, अपने अदृष्ट भविष्य की गवेषणा करता हुआ वही ठहर गया।

इधर मन्त्री कई सभ्य नागरिको के साथ उसके पास आया। उसकी आंखो मे अमृत बरस रहा था। आपस मे 'जयजिनेन्द्र' की विधि सम्पन्न हुई। कुशलपृच्छा के पश्चात कहा से आना हुआ—आदि परिचयात्मक प्रश्नोत्तर हुए। धृतिशील प्रधान ने कुमार को राजा की दु सह अक्षि-वेदना से परिचित कराया। उसने कहा—हमने अनेक उपचार किए, परन्तु रोग का उपशमन नही हुआ, पीडा बढती ही गई। एक कोई अनुभवी वैद्य आया। उसने निदान किया और वह यथार्थ स्थिति पर पहुँचा। उसने औषध प्रस्तुत करते हुए कहा कि यह दाडिम और धातकी पुष्पो के साथ प्रयुक्त होती है। सयोगवश बहुत ढूढने पर भी कही नही मिले। रोगी के लिए वेदना को क्षणमात्र तक सहना भी कठिन था, परन्तु अशक्य और निरुपाय अनुष्ठान के लिए क्या किया जा सकता था? अचानक ही हमने यह सुना कि कोई सामुद्रिक व्यापारी समुद्र तट पर रुका हुआ है। पीडित व्यक्तियो के मन मे चारो ओर से आशा की लहरें उमडती ही रहती हैं। अत उन्होंने सोचा सभव है कि आगन्तुक व्यक्ति के पास वह वस्तु हो? इसलिए हमारे आदमी आपके पास आए। मैं भी उन्हे प्राप्त करने आपके पास आया हूं। आप इच्छानुसार मूल्य ले और हमे वह जीवनदायक अमूल्य वस्तु दे। वस्तु मूल्यवान् नही होती, मूल्यवान् होता है समय। यदि आपके पास वह वस्तु हो तो

कृपाकर शीघ्र ही हमे प्रदान करें। नि सन्देह ही रोग से मुक्त होकर राजा आपके शुभ भविष्य का हेतु बनेगा!" मत्री की निश्छल वाणी सुनकर रत्नपाल का अन्त करण विश्वस्त हुआ। उसने सोचा—"आश्चर्य है कि इतनी तुच्छ वस्तु भी भाग्यवश अतुल लाभदायक सिद्ध हो रही है। अथवा विमल भाग्य कैसे, कब, कहा प्रतिफलित होता है—यह अगम्य और रहस्यमय है। मेरे पास व्यर्थ ही पडे हुए वे फूल मैं इन्हे दे दू"—ऐसा सोचकर कुमार ने उदारता दिखाते हुए मधुर वचनो मे कहा—"मत्रीप्रवर! आपने जिस वस्तु की बहुत खोज की है, वह अनायास ही मेरे साथ है। इससे अधिक अच्छा और क्या हो सकता है कि मेरी वस्तु नृपति के काम आए। आपने कैसे कहा कि इच्छानुसार मूल्य ले लें? हमारे जैसो के लिए तो आपके कृपा-कटाक्ष मे ही मूल्य निहित है। आप क्षण भर ठहरें, मुझे भी आपके साथ फूलो के उपहार के मिष से राजा के दर्शनो का लाभ मिल सकेगा।

मत्री ने कहा—बहुत अच्छा, आप शीघ्र ही तैयार हो जाए। राजा बहुत आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। 'अभी आया'—कहकर रत्नपाल वहाँ से चला गया। तत्काल उसने राजसभा-योग्य वेश धारण किया और अनेक अलकार पहनें। उसने राजा को भेंट करने के लिए अनेक विशिष्ट वस्तुएँ अपने साथ लीं और पुष्पकरण्डक को सज्जित किया। वह अपने अनेक व्यक्तियों को साथ ले अमात्य के साथ राजा को देखने के लिए चल पडा। राजा को भी यह वृत्तान्त प्राप्त हुआ कि एक सामुद्रिक बाल व्यापारी उन फूलो को लेकर मुझे देखने आ रहा है। राजा उससे मिलने के लिए आतुर हो उठा और वह उसके आगमन का मार्ग देखने लगा। इतने मे ही उसने देखा कि जिनदत्त का पुत्र रत्नपाल प्रसन्नता से मन्त्री के साथ आ रहा है। उसने राजा को सविनय प्रणाम किया। औपचारिक वार्तालाप हुआ। कुमार ने दूसरी महामूल्यवान् वस्तुओ के साथ-साथ पुष्प भेंट किए। राजा प्रसन्न हुआ। वैद्य ने औषधि का प्रयोग किया। उसकी अस्खलित और सुखद प्रतिक्रिया हुई। राजा को अभूत-पूर्व सुख का अनुभव हुआ। 'इसने मुझे जीवन दान दिया है'—ऐसा सोचकर राजा रत्नपाल पर प्रसन्न हुआ। उसने रत्नपाल के लिए उचित व्यवस्था की और रहने के लिए विशाल भवन दिया। उसकी सारी वस्तुओ को ठीक स्थान पर रखवा दिया। और उसे राजसभा मे स्थान दे दिया। राजा उसे कृपा दृष्टि से देखने लगा। धीरे-धीरे कुमार वहा की स्थिति से परिचित हो गया। उसने वहाँ व्यापार प्रारम

किया और अपनी वस्तुओं को बहुत लाभ में बेचने लगा। उसे अकल्पित लाभ हुआ। छह महीने बीते। उसने वहा से उचित भावों में सुलभता से प्राप्त नई वस्तुएँ खरीदी। और शीघ्र ही अपने देश की ओर जाने की चेष्टा की, किन्तु विधि क्या क्या नई घटनाएँ घटित करती है, वह भव्य लोग सुनें।

उस राजा के एक लड़की थी उसका नाम रत्नवती था। वह बड़ी समयज्ञा और विचार-दक्षा थी। वह अनेक प्रकार के शिल्प और कलाओं की ज्ञाता, सप्तस्वरों से साधने योग्य गान्धर्व विद्या में निपुण, अनेक भाषा विज्ञान में जिसकी काव्य-कला विकसित थी। साक्षात् सरस्वती, सुन्दर वर्ण और रूप से युक्त, अनुपमेय आकृति और अद्भुत आकर्षण वाली, सर्वाङ्ग सुन्दरी, मधुर आलाप करने में दक्ष एवं सभी गुणों से युक्त थी। जब वह यौवन को प्राप्त हुई तब वह माता पिता के चिन्ता का कारण बन गई। राजा ने उसके लिए बहुत बारीकी से अनेक कुमारों को देखा किन्तु उन कुल, रूप, शील, विद्या और यथेष्ट गुणों की प्राप्ति उनमें नहीं मिली। जिस किसी अयोग्य व्यक्ति को राजा अपनी पुत्री देना नहीं चाहता था। जब से राजा ने सर्वगुण-सपन्न सरूप, विनयशील और विवेकी रत्नपाल को देखा तब उसके हृदय में रत्नपाल ने राजकुमारी के वर के रूप में स्थान प्राप्त कर लिया था। उसने सोचा—प्रेम के अमृत से स्नात मेरी पुत्री के योग्य यह रत्नपाल है। मैंने रूप और गुण में सुन्दर ऐसा दूसरा व्यक्ति नहीं देखा है। परन्तु यह प्रवासी है। क्या यह इसके साथ विवाह करना स्वीकार कर लेगा? इस चिन्ता से आकुल तूल की शय्या पर सोते हुए भी राजा को रात भर नींद नहीं आती थी। राजा ने अपनी भावना मन्त्री के समक्ष रखी। उसने भी 'आपका चिंतन उचित है'—यह कहकर राजा का अनुमोदन किया। उसने आगे कहा—हमें प्रयत्न करना चाहिए, सभव है सफलता मिल जाए। एक बार राजा ने प्रसन्न वातावरण में कुमार को एकान्त में बुला भेजा। कुशल पृच्छा के पश्चात् राजा ने बहुत दक्षता से अपनी मनोभावना उसके समक्ष रखी और यह आशा व्यक्त की कि हमारी भावना निष्फल नहीं जाएगी। राजा ने कहा—भीषण रोग से मुक्ति दिलाने वाले कुमार के प्रति हम क्या प्रत्युपकार कर सकते हैं?

स्वप्न में भी अकल्पित, अदृष्ट और अविमृष्ट राजा की प्रार्थना को सुनकर कुमार अत्यन्त विस्मित और चिन्तित हो गया। उसका हृदय-समुद्र

क्या करना चाहिए' ? 'क्या उत्तर देना चाहिए ?' इन विकल्पों की लहरों से आहत होने लगा। उसने सोचा—एक और मेरा यह निश्चय है कि जब तक मुझे अपने माता-पिता न मिल जाएँ तब तक मुझे विवाह नहीं करना है। दूसरी ओर परम प्रशंसनीय राजा का अनिषेधनीय अनुरोध है। मेरे सामने सर्प और छुछुन्दरी की सी स्थिति उपस्थित हो गई है।

कुमार को मौन देखकर राजा ने साग्रह पूछा कुमार ! तुम मौन क्यों हो ?

रत्नपाल ने हाथ जोड़कर स्फुट और कोमल स्वरों में विनय सहित राजा से निवेदन किया—'मेरा परम सौभाग्य है आपने मुझे अपनी पुत्री देने के लिए कहा। किन्तु कहाँ तो धन के लोलुप हम व्यापारियों का कुल और कहाँ वीर रस से विशिष्ट जगत् विख्यात राजवंश ! कहाँ तो हमारी स्वार्थ-परायण डरपोक मनोदशा, और कहाँ क्षत्रियों की स्थिर संकल्प-वाली परार्थ-प्रवणा साहसिकी मन स्थिति। महार्घ्य मणि स्वर्ण में शोभित होता है, केवल चमक, दमक दिखाने वाले काच के टुकड़े में नहीं। योग्य के साथ योग्य की योजना करने पर ही योजक की मेधा का माहात्म्य प्रगट हो सकता है। इस-लिए अपने कुल के अनुरूप महानुरूप और शक्तिशाली दूसरे राजकुमारों को खोजें।'

राजा ने सगर्व व्यंग कसते हुए कहा—"यहाँ धूर्त शिरोमणियों के सरदार के समक्ष तुम्हारी वंचकवृत्ति नहीं चलेगी। जो मानना है उसे अभी, सायं, कल, परसों या तरसों मानना ही पड़ेगा। यह अच्छी तरह से जान लो कि इसके सिवाय यहाँ से निकलने का कोई मार्ग नहीं है। इसी में कुशल है, ज्यादा बोलने से क्या लाभ ?"

राजा की परिणाम विषम अन्तिम सूचना सुनकर कुमार का हृदय कांपने लगा और उसे यह नीति वाक्य याद हो आया कि आज्ञा प्रधान राजाओं की प्रीति सुस्थिर नहीं होती। तत्क्षण रत्नपाल ने अपनी भाषा का स्वर बदल डाला। स्वीकृति देते हुए उसने कहा'—नरनाथ ! मैंने आपके कथन को कब नकारा था ? मेरा यह परम सौभाग्य है कि साक्षात् कल्पलता की भांति यह राजकुमारी मेरे वंश-वृक्ष पर चढ़ रही है। ऐसा मन्दभाग्य कौन होगा जो आती हुई लक्ष्मी का निषेध करे ? अपनी योग्यता को प्रगट करना विवेकी व्यक्तियों का धर्म है, जिससे कोई बाद में पश्चात्ताप न हो।'

राजा कृष्णायन ने तत्काल राजकुल के ज्योतिषी को बुला भेजा और पुत्री के विवाह के लिए तात्कालिक शुभलग्न पूछा। ज्योतिषी ने पंचांग देखकर, अंगुलियों के पर्वों पर कुछ गिनते हुए तथा चन्द्र-सूर्य आदि स्वरों को ग्रहण करते हुए पक्ष के मध्य का एक शुभ दिन विवाह के लिए बताया। राजा ने विवाह के योग्य सारी सामग्री एकत्रित की। बाजे बजने लगे। सौभाग्यवती स्त्रियों ने मधुर स्वरों से मंगलगीत गाए। विवाह का प्राथमिक कृत्य प्रारम्भ हुआ। तोरण आदि की मनोहर रचना हुई, द्वारों पर अनेक मांगलिक पुष्पों के ढेर किए गए। सभी नागरिकों को यह ज्ञात हो गया कि रत्नपाल रत्नवती से विवाह करेगा। उन्होंने भी यथास्थान विविध प्रकार के कौतुक, मंगल आदि किए। विवाह का समय समीप आ गया। रत्नपाल के शरीर का उबटन किया गया। उसने वर के योग्य वस्त्र धारण किए। वह घोड़े पर चढ़ा हुआ अत्यन्त दीप्त हो रहा था। प्रत्येक चौराहे पर लोग वरयात्रा को बधाइयां दे रहे थे। वरयात्रा राजा के महलों में पहुँची। विवाह की सभी विधियों का निर्वाह हुआ। अपने सलज्ज नयनों से पति के मुख-चन्द्र को देखती हुई रत्नवती चकोरी की भांति मनमें अनुपमित सुख का अनुभव कर रही थी। राजा ने दहेज में अपरिमित सुवर्ण और रत्नराशि तथा अनेक विचित्र देशों से प्राप्त वस्तुएँ दीं। तदनन्तर अपनी पुत्री को उसे समर्पित किया। भानुमती का पुत्र रत्नपाल अपने श्वसुर द्वारा प्रदत्त प्रासाद में अपनी नवोढ़ा के साथ आया। विवाह हो जाने पर भी रत्नपाल के अन्तःकरण में आन्तरिक शांति का अनुभव नहीं हो रहा था। उसने सोचा—'जब तक मैं अपने दुःखी माता-पिता के हृदय को शान्त न कर दूं तब तक राजकुमारी के साथ मेरे विवाह से क्या प्रयोजन? जहाँ आवश्यक कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं, वहाँ सुख-क्रीड़ा से क्या करना है?' ऐसा सोचकर उस विवेकी सुपुत्र ने उसने मनमें यह निश्चित प्रतिज्ञा की, कि जब तक मैं अपने पूज्य माता-पिता को न देख लूं तब तक अपनी प्रियतमा के साथ गृहस्थाश्रम के सुख का भोग नहीं करूंगा।"

नव प्रियतम का संगम पाने को उत्कंठित अपनी नवभार्या रत्नवती से रत्नपाल ने कहा—'प्रियतमे! हमारे कुल की यह मर्यादा है कि जब तक नव विवाहित पति अपनी वधू के साथ कुलदेवता की पूजा नहीं कर लेता तब तक वह पंचेन्द्रियजन्य सुख-क्रीड़ा में प्रवृत्त नहीं हो सकता।' लज्जावती रत्नवती ने 'आर्यपुत्र ही प्रमाण हैं'—ऐसा कहकर प्रसन्नता से पति के

वचनो को स्वीकार कर लिया। दोनों ने यह प्रतिज्ञा की कि इस रहस्य का भेद खुलने न पाए। इस प्रकार नाना प्रकार के आलाप सलाप करते हुए दम्पती के कुछ दिन बीते। 'बहुत कार्य शेष है'—ऐसा स्मरण कर रत्नपाल ने शीघ्र ही अपने देश जाने का निश्चय किया। अवसर देखकर रत्नपाल ने अपने ससुर को सविनय निवेदन किया। अपने जामाता की देश लौटने की इच्छा जानकर राजा का चित्त उद्विग्न हो गया। पुत्री के विरह से उत्तप्त सास बहुत दु खी एव चिन्तातुर हो उठी। उसने कहा—"अरे! ऐसी क्या जल्दी है? यहाँ क्या दु ख है? दामाद का मन उद्विग्न क्यो है? सास ने अपने पुत्र के समान दामाद को अपने महलो में बुला भेजा और अनुरोधपूर्वक कहा—'जामात! 'जाता हूँ' ऐसा कहते हुए आपकी जीभ लज्जित क्यो नही होती? हल्दी के रग की तरह शीघ्र ही मिट जाने वाली आपकी यह प्रीति? अभी-अभी तो विवाह का कार्य सपन्न हुआ है। उसका श्रम (भार) भी अभी तक नही उतरा है और उसी बीच जाने की बात कह रहे हो? धिक्कार है, धिक्कार है! प्रवासी व्यक्तियो का कैसा सौहार्द? उनका क्या विश्वास? उनका क्या सबध? उनके साथ मित्रता कर ऐसे ही सतप्त होना पडता है। अभी गमन सम्बन्धी एक भी अक्षर हमारे सामने नही बोलना है। यथा समय हम स्वय उस विषय मे सोचेगे"—यह कहते हुए सास की आँखें डब-डबा आई।

रत्नपाल ने निपुणता से कहा—'मैं अभी यहाँ और अधिक ठहरने के लिए समर्थ नही हूँ। अपने निश्चय के अनुसार पहले ही यहा समय अधिक हो चुका है। वहाँ मेरा अत्यन्त आवश्यक कार्य है। मेरे गए बिना वह सारा नष्ट हो जाएगा, इसलिए कृपा कर मुझे अकेले जाने की अनुमति दें। बाद में मैं यथाकाल शीघ्र ही आ जाऊगा।'

एकाकी जाने की बात सुनकर राजा बहुत खिन्न हुआ। प्रवासी का क्या विश्वास? वह पुन लौट कर कब आए? प्रवासी पति की क्या भाव परिणति होती है—यह कौन जानता है? पति के प्रवास चले जाने पर रत्नवती की क्या स्थिति होगी? इस प्रकार भविष्य के विषय मे सोचने मे दक्ष राजा ने कहा—'जामात! तुमने अच्छा निश्चय किया है। जाना है, वहाँ भी एकाकी जाना है'—यह बहुत अच्छा निश्चय है। यह बहुत ही सत्य उक्ति है कि—'दूसरे दूसरे होते हैं और अपने-अपने।' इसमे कोई सदेह नहीं है। यदि जाना है तो सुख से जाओ, कौन रोकता है। किन्तु कुछ समय तक यहा रहो। यह

हमारी इच्छा है। एकाकी जाने की इच्छा तो नितान्त हास्यास्पद है। तुमने यह नहीं सोचा कि प्रोसित पतिका युवती पत्नी की क्या दशा होती है ? मघ के साथ ही बिजली की शोभा है। पति के साथ ही सच्चरित्रा पत्नी की शोभा होती है। कृपक के बिना खेती और माली के बिना पुष्प-वाटिका की तरह पति के बिना दूसरों के आश्रित स्त्री की शोभा नहीं होती। स्वच्छन्द रूप से पिता के घर बहुत काल तक रहने वाली कन्याएं आंखों में कांटों की भांति चुभने लगती है। इसलिए तुम्हें अपनी भार्या के साथ ही जाना है, ऐसा हमारा अभिमत है। इससे हमारे कर्तव्य का भार भी हल्का हो जायगा। अन्यथा निरन्तर चिन्तातुर हृदय से आप वहां और हम यहां रहेंगे।' इस प्रकार अच्छी तरह से कहने पर भी रत्नपाल अपनी पत्नी को साथ ले जाने को तैयार नहीं हुआ।

राजा और रानी उसे रोकने में असमर्थ रहे। समस्या का प्रतिकार नहीं हुआ। अब हमें क्या करना चाहिए ? यह सोच दोनों चिन्तित हो गए। इतने में ही कोई एक अपरिचित प्रौढ जटाधारी व्यक्ति जो विविध यंत्र मंत्र और तंत्र का ज्ञाता था, वहां आया। राजा और रानी ने सविनय वन्दन किया और उसकी यथोचित पूजा की। वह बहुत प्रसन्न हुआ। राजा के उद्विग्न और म्लान मुखकमल को देखकर तत्काल उसने कहा—नरेश ! आज आपका मुख हिम से आहत कमल की भांति (म्लान) दिख रहा है ? क्या आपके मन में कोई ऐसा अन्तःशल्य विद्यमान है ? यदि कहने योग्य हो तो आप उसे प्रगट करें, जिससे कि मेरे जैसा व्यक्ति उसका कोई प्रतिकार ढूंढ सके।"

राजा ने सखेद कहा—'भगवन् ! कहने से क्या होगा ? कोई उपाय नहीं दीख रहा है। हाय ! असंगत हो रहा है।'

जटाधारी योगी ने पुनः जिज्ञासा की कि—यदि गुप्त न हो तो मेरी सुनने की इच्छा है।'

'महात्माओं के समक्ष क्या गोपनीय है'—ऐसा सोचकर राजा ने अपने जामाता के एकाकीगमन की उत्सुकता बताते हुए सारा वृत्तान्त कह सुनाया। 'यहां बल प्रयोग उचित नहीं है। इसके साथ मैं अपनी पुत्री को कैसे भेज सकता हूं—यह बड़ी चिन्ता है।'

योगी ने कहा—'यदि निपुणता से कार्य किया जाय तो निरपाय क्या हो सकता है ?'

राजा ने उत्कंठित होकर कहा—'यदि आप कृपा कर कोई मार्ग बताएँगे तो हम अनुगृहीत होंगे।'

योगी ने अपनी शक्ति का निदर्शन करते हुए कहा—'यदि रत्नवती को स्त्री रूप से पुरुष रूप में परिवर्तित कर अपने पति के साथ उसी रूप में अपने देश में जाया जाए तो हमारा कार्य नहीं सध जाएगा ?'

राजा ने जटाधारी योगी की मुखाकृति को देखते हुए कहा—'यदि ऐसा हो सकता है तो दूसरा क्या चाहिए ? आप परोपकार करने में निपुण योगी हैं। आप ऐसा योगिक चमत्कार दिखाएँ। हम निश्चित ही कृतार्थ होंगे।'

तपस्वी योगी ने सगर्व कहा—'यदि मैं इतना छोटा-सा कार्य करने में भी असमर्थ हूँ तो क्या मैंने इतने वर्ष जंगल में व्यर्थ ही बिताए और क्या मैंने व्यर्थ ही इतने वर्षों तक मौनव्रत का आचरण किया है ?' तत्काल योगी ने राजकुमारी को अपने पास बुलवाया। उसने झोली से दो जड़ियाँ निकालीं। एक के विधि युक्त प्रयोग से स्त्री पुरुष बन जाती है और दूसरे के प्रयोग से पुनः अपने स्वरूप में आ जाती है। तत्काल पहली जड़ी का प्रयोग किया। रत्नवती तत्क्षण राउल योगी के रूप में परिवर्तित हो गई। 'मणि मंत्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है'— इस उक्ति की यथार्थता का साक्षात्कार सबने किया। राउल ने रेशमी गेरुआ उत्तरीय पहना और घुटनों तक लटकने वाली शिथिल सुन्दर गेरु रंग की कथा को अपने कंधों पर धारण किया। शिर पर राउल योगी की परम्परा के अनुकूल आडम्बर रहित टोपी पहनी। हाथों में अनेक मधुर स्वरों के आलाप से मधुर नई वीणा को धारण किया। इसी प्रकार दूसरी सारी तद्योग्य सामग्री से युक्त वह राजयोगी बहुत सुन्दर और सबके लिए आश्चर्य से देखने योग्य हो गया।

पश्चात् समयज्ञ राजा ने जामाता को पुनः प्रासाद से निमंत्रित किया और कहा—'जामात ! बहुत आग्रह करने पर भी तुम न यहाँ ठहरना चाहते हो और न अपनी भार्या को साथ ले जाना चाहते हो। जामाता पर हमारा क्या जोर चल सकता है ? जो प्रवासी स्नेह को शिथिल कर द्वीपान्तर में चले जाते हैं उनका पुनः लौट आने का क्या विश्वास है ? पुनः लौटने का स्मरण

दिलाने के लिए हम तुम्हारे साथ एक महान् दक्ष बालयोगी को भेजेंगे। वह रत्नवती का बालसाथी है। वह तुम्हें समय-समय पर ससुराल की स्मृति और पुन आने की प्रेरणा देता रहेगा। इससे हमारा मन भी पूरा भरा हुआ और आश्वस्त रहेगा।'

स्वीकारात्मक स्वर से बोलते हुए रत्नपाल ने कहा—'हा यह बहुत अच्छा है। आपने अच्छी योजना बनाई है। इसमे किसी को कोई बाधा नही हो सकती।'

इधर वह योगी वहा आया। उसकी मुखच्छवि अद्भुत और विमोहक थी। उसके इंगित और आकार (शारीरिक चेष्टाओं और हावभावों) ने उसका चातुर्य साक्षात् परिलक्षित हो रहा था। बालक होते हुए भी उसके नेत्र-कमल प्रशान्त थे और उसके होठ कुछ हिल रहे थे। मानो कि वह कुछ जप रहा हो उसके गले मे रुद्राक्ष की माला थी। सबने उसे ससम्मान वन्दन किया और उसे उचित आसन पर बिठाया। उसे देखकर रत्नपाल रोमाञ्चित हो उठा और उसका मुँह विस्मय से प्रफुल्लित हो गया। अरे! इस कोमल बाल-काल मे भी इसे वैराग्य कैसे हो गया? धन्य है इसके माता-पिता, कुल मे ऐसे वंशोद्धारक और भविष्यद् योगी पुत्र का जन्म हुआ।'

रत्नपाल ने पूछा—'भदन्त! क्रीडा योग्य और जगत् के व्यवहार से अजान इस बाल्यकाल मे आपकी विरक्ति का कारण क्या है? यह आश्चर्य होता है कि—आपने बन्धुजनो का स्नेह कैसे तोड दिया? अहा! यह लोकोत्तर कार्य है!

यदि मनुष्य जागरूक होकर देखता है तो इस ससार मे पग-पग पर वैराग्य है। क्या ससारी प्राणी यह नही जानता कि—'यहा की कौनसी वस्तु स्थिर है?' जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि—प्रभात मे या सायकाल धर्म का आचरण करेंगे'—उनका कथन मूर्खतापूर्ण है। क्या आगम का उद्घोष नही सुना है?

—'जिस व्यक्ति की मृत्यु के साथ मित्रता है, जो यह मानता है कि मृत्यु आने पर मैं पलायन कर जाऊँगा और जो यह जानता है कि मैं नही मरूँगा'—वही व्यक्ति धर्म को भविष्य के लिए छोड सकता है—इस प्रकार कहता हुआ योगी आँखें बन्दकर ध्यान मे लीन हो गया। शान्त रस को बहाने वाली उसकी मुख मुद्रा को देखकर रत्नपाल प्रभावित हुआ।

इसी बीच नौका सज्जित की गई और उसमे अपने देश मे दुर्लभ किन्तु वहा सुलभ, वस्तुओ को खरीद कर रखा गया। प्रस्थान का दिन निश्चित किया। इसके मधुर व्यवहार से अनेक व्यक्ति इसके मित्र बन गए। सभी नागरिको का यह प्रीतिपात्र बन गया। रत्नपाल के देश लौटने की बात सुनकर सभी व्यक्ति अपना-अपना सौहार्द दिखाने के लिए उसके पास आने लगे। अनेक बातो से उसकी प्रशसा करते हुए 'फिर कब मिलना होगा' ऐसा कहते हुए अपनी मुखाकृतियो से खिन्नता सूचित कर रहे थे। 'वहा जाकर आप कभी-कभी हमे याद करते रहे' यह बार-बार कह रहे थे। रत्नपाल भी सबका आभार स्वीकृत करता हुआ हाथ जोडे बैठा रहा। वहा के सभी याचक और नौकरो को उचित दान देकर उसने सबको सतुष्ट किया।

रत्नपाल के लौटने का दिन आया। इधर राउल के रूप मे रत्नवती को प्रस्थान कराने के लिए तैयारी की गई। माता-पिता का हृदय उद्विग्न हो गया। परम प्रेम से पोषित पुत्री रत्नवती की आँखें बार-बार आँसुओ से भर आती थी। उसने सोचा परिचित ससार को छोडकर अपरिचित ससुरालय मे जाना पडेगा। 'वहा का व्यवहार कटु होगा या मधुर'—इस प्रकार उसका मन अनेक सकल्पो मे फँस गया। जन्म से जो व्यक्ति साथ मे रहे हैं, उनका विरह उसके हृदय समुद्र को उद्वेलित कर रहा था। अपनी पुत्री को गोद मे बिठाकर आसुओ से उसको स्नान कराती हुई उसकी मा ने शिक्षा देते हुए कहा—"प्रिय बेटी! तेरे विरह से आज हम सब दुःखी है। मानो कि कोई महामूल्यवान् वस्तु हमारे से दूर हो रही है। इससे हमारा चित्त खिन्न हो रहा है। यह स्पष्ट किंवदन्ती है कि माता-पिता का क्या जोर चलता है? कन्याएँ दूसरो के घर जाने वाली ही होती है।' बेटी! तू सुख पूर्वक जा! तेरा सौभाग्य स्थिर हो। तुम दोनो का स्वास्थ्य सदा स्वस्थ रहे। तेरी सारी पीडाएँ क्षार समुद्र मे विलीन हो जाएँ। बेटी! नया प्रदेश है। वहाँ के सभी लोगो के स्वभाव अपरिचित है। वहा की कार्य-प्रणाली का भी हमे अनुभव नही है। वहा तुझे बहुत दक्षता से रहना है। 'मैं राजपुत्री हूँ,' इसलिए मैं कार्य कैसे करूँ'– ऐसा तुझे चिन्तन नही करना है। प्रियता केवल कुल और रूप से प्राप्त नही होती है, वह प्राप्त होती है कार्य करने से। दूसरे यदि तुझ पर निरर्थक ही क्रोध करें तो भी तुझे सहिष्णु रहना है। सहिष्णुता से ही कुलवधुओ की बहुत ही शोभा होती है। ससुर और सास की सविनय सेवा करना। तेरे लिए, जैसे हम है, वैसे ही वे हैं। अपने पति

के चित्त को निपुणता से अपने अनुकूल करना। अपने पति का कठोर और सरोष शब्द भी समय पर धैर्य से सहन करना। अन्यथा चिढचिडे स्वभाव वाले व्यक्तियो का गृहस्थाश्रम नही चल सकता। पुत्री ! तू दूसरो के मन को तब ही जीत सकेगी, जबकि तू अपने मन पर विजय पा लेगी। वस्त्र अलकार युक्त रूप और लावण्य का दीखने वाला आकर्षण तो एकबार और क्षणिक होता है। परन्तु मधुर व्यवहार का प्रभाव अटल और नित्य परिवर्द्धित होता रहता है और सबको वह समान रूप से आकृष्ट करता है। बेटो ! यह जीवन सग्राम है। यहां अनेक अनुकूल और प्रतिकूल उपक्रम होते रहते हैं। उसमे शुभ भावनाओ से भावित और रोचित धार्मिक भावना ही सामयिक शाति देने मे क्षम है। इसलिए दु खी व्यक्ति की तरह सुखी व्यक्ति को भी धर्म की आराधना करनी चाहिए। धर्म से सिक्त समता की लता विकसित होती है और वह नित्य कल्याणकारी फल देती है। इसलिए धार्मिक व्यक्ति सदा सुखी रहता है।' इस प्रकार अनेक सुवचनो से रत्नवती को बहुत शिक्षा देती हुई उसे अपने अनुभवो से बोधित किया और छाती से चिपका लिया स्वय रोती हुई, दूसरो को रुलाती हुई रत्नवती प्रस्थान के लिए तत्पर हो गई। इधर जामाता रत्नपाल सज-धजकर श्वसुर पक्षवालो का आशीर्वाद लेने के लिए उपस्थित हुआ। सास ने जामाता को आशीर्वाद दिया। 'आपका कार्य सिद्ध हो आपका पथ निर्विघ्न हो'—सभी ने रोमाचित होकर सप्रेम कहा। राउल भी वहा आगया। अन्तरग मे वह विरह से खिन्न हो रहा था किन्तु बाह्यभाव से आनन्दित होता हुआ, निस्सकोच वह रत्नपाल के समकक्ष बैठ गया। सास ने कहा—'जामात ! राउल हमारी पुत्री का अनन्य सहचर है। रत्नवती की भाति इसकी सुरक्षा आपको करनी है, ज्यादा क्या कहे। यह हमे बहुत प्रिय है'—यह कहती हुई रानी रोने लगी।

'आप तनिक भी चिन्ता न करें ! यह मेरी सही प्रतिज्ञा है कि मैं इसको सभी अनुकूलताएं दूंगा। यह अब आपका ही क्या हमारा भी है'—ऐसा कहते हुए रत्नपाल ने मित्र की तरह राउल का सहजभाव से आलिगन किया। हाथी पर आरूढ हुए। नगर के बीचो-बीच होती हुई, बहुत आडम्बर के साथ उनकी प्रवास-यात्रा निकली। समुद्र तट तक राजा आदि सभी राजवर्गीय लोग उन्हे पहुँचाने आए। राजा ने अतुल सपत्ति दी। उसे नाव पर रखा गया। राउल ने भी रूप परिवर्तन करने वाली दो जडिया तथा अन्य

आवश्यक वस्तुओं से भरी एक पेटी साथ में ली। राजा आदि को रत्नपाल ने प्रणाम किया। वह पंच नमस्कारमंत्र का स्मरण करता हुआ, राउल के साथ नौका में बैठ गया। सभी ने शुभ मंगल शब्द कहे और शुभ मुहूर्त में नौका यहां से चल पड़ी। अनुकूल हवा से प्रेरित होकर नौका त्वरित गति से चली और अदृश्य हो गई राजा आदि सभी परिजन अपनी पुत्री के विरह से उद्विग्न होते हुए भी इच्छित कार्य के सम्पादन से प्रसन्नता का अनुभव करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले गए।

इधर नौका में बैठा हुआ राउल पैतृकपक्ष के विरह से क्षुब्ध हो गया और वह अतुल आकुलता का अनुभव करता हुआ भक्तिगान के मिष से आंसू बहाने लगा। ज्यों त्यों अपने भावों का गोपन करते हुए उसने अनेक सूक्ति, पद्य और गाथाओं के द्वारा विरह रस की गंभीरता को दिखाते हुए सबके मन को गद्-गद् कर दिया।

६

छठा उच्छ्वास



विश्व की विचित्रता का वर्णन नही किया जा सकता। भव की भावना की कल्पना भी नही की जा सकती। यहा क्या सुख है, क्या दुःख है ? क्या प्रिय है, क्या अप्रिय है ? कौन अपना है, कौन पराया है ? जहा भी गुड की डली दीख पडती है, वहा मक्खियो का समूह बिना निमत्रण दिए ही एकत्रित हो जाता है। पानी से भरे तालाब मे सभी दिशाओ से पक्षी स्वय आ जाते हैं। अहो ! ससार स्वार्थप्रधान है परमार्थ प्रधान नही। अरे, धवल दीखने वाला कार्य भी अन्तर की अभिलाषा से कुछ मलिन बना रहता है। धन्य है वे कुछ एक व्यक्ति जो परमार्थ भाव से जगत् की निष्काम सेवा करते हैं।

'अतुल समृद्धि का अर्जन कर रत्नपाल समुद्र तट पर आया है'। यह सुनकर नागरिक तथा उसके बन्धु-जन वे सभी एकत्रित होकर प्रसन्न मुद्रा मे रत्नपाल की अगवानी के लिए समुद्र तट पर जहाज के निकट आ पहुँचे। जय विजय शब्दो मे उसे बधाईया देते हुए वे प्रिय वचनो से सम्बोधित करते हुए कहने लगे—'पुत्र ! प्रतिदिन मेघ की तरह हम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे थे। तुम जिनदत्त के कुलीन पुत्र हो। पिताजी का नाम तुमने उज्ज्वल किया है। मन्मन अन्दर से दुःखी था—किन्तु व्यवहार के लिए वह भी वहा आया। रत्नपाल ने भी सम्मुख आए हुए सभी व्यक्तियो को प्रसन्नता से

प्रणाम किया और बोला—'आपके आशीर्वाद से सब कुछ ठीक हुआ। समुद्र की यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न हुई' जहाज से सभी विक्रणीय और इतर वस्तुओं को उतारा गया।

रत्नपाल के नगरागमन के उपलक्ष में शोभा यात्रा बड़ी धूमधाम से निकली। सभी नागरिकों की प्रेम भरी आँखों से सम्भावित एवं सम्मानित रत्नपाल राउल के साथ पहले मम्मन सेठ के घर आया। भोजन आदि से निवृत्त हो उसने नगर के गण्यमान्य व्यक्तियों के सामने लेख के अनुसार मदन पिता का ऋण, ब्याज सहित चुकाया और किरियाने का यथोचित मूल्य दिया 'अब सेठ जी (मम्मन) का मेरे में कुछ लेना देना नहीं है।' यह कहकर उसने सबके सामने लेखपत्र फाड़ डाला। मम्मन के हाथ से ऋण भुगतान की रसीद लिखाई और उसने कहा 'मम्मन द्वारा दिए गए पारितोषिक का जो विपुल फल मुझे प्राप्त हुआ वह सब मेरा है, सेठ का कुछ भी नहीं है। यदि मैं अब सेठ के घर में रहता हूँ तो भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह मेरा घर है। किन्तु अपने घर के बिना मेरा मन संतप्त हो रहा है। इसलिए मैं अभी अपने घर जाना चाहता हूँ।' इस प्रकार कह कर रत्नपाल उठा और मम्मन को प्रणाम कर, हाथ जोड़कर बोला—'श्रेष्ठिप्रवर! मैं अपने घर जाने के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ। सोलह वर्ष तक मैं यहां बड़ा हुआ पुत्र की भांति आपने मेरा लालन-पालन किया और मुझे शिक्षित कर प्रवास में भेजा। मैं आपके इस परम उपकार को याद रखूंगा। कोई कार्य आने पर मैं शीघ्र ही आपके पास उपस्थित होऊँगा। मेरा मन अपने पिता के घर जाने के लिए बहुत उत्कंठित हो रहा है। आप कृपा कर मुझे आज्ञा दें।'

'पर वस्तु की लालसा करना व्यर्थ है'—ऐसा जानकर, अन्तर से खिन्न केवल व्यवहार कुशलता का निर्वाह करते हुए मम्मन ने रत्नपाल को घर जाने के लिए आज्ञा देते हुए कहा—'आनन्द से अपने घर जाओ और तुम्हारा वैभव दिन प्रतिदिन बढ़ता जाए।'

सोलह वर्ष के बाद अपने बन्धुजनों से परिवेष्टित और मंगल पाठकों के मंगल शब्दों द्वारा वर्धापित होता हुआ रत्नपाल अपनी हवेली के पास आया। रत्नपाल के आने की सूचना पाकर वह बूढ़ी पड़ौसिन तत्काल वहां आई और रत्नपाल को घर की चाबियाँ दे दी। रत्नपाल ने दोनों कपाट खोले। पूज्य पिताजी यहां बैठते थे, यहां सोते थे—ये सब बातें परिजनों ने बताईं। तत्काल उनकी स्मृति सघस्व हो गई। रत्नपाल बालक की भांति रोने लगा।

उसने सोचा—'हाय ! वे मेरे कारण कहा कष्ट भोग रहे है ? मेरी इस विपुल सम्पत्ति से क्या लाभ ? जब तक कि मैं अपने माता पिता के दर्शन नही कर लूँ ।'

बन्धुओ ने कहा—सुपुत्र ! तू अपने आपको सभाल ! शीघ्र ही वे तुझे मिल जायेंगे। हम उनकी खोज करवायेगे। भाग्य की अनुकूलता से उनका वृत्तान्त हमे प्राप्त होगा। अब तू यहा के अस्त-व्यस्त कार्य को ठीक कर जिससे तेरे पिता का नाम उज्ज्वल हो सके।' रत्नपाल ने उनका कथन स्वीकार किया। सभी बन्धुजनो और मित्रो के साथ प्रीतिभोजन सपन्न हुआ। जिनदत्त के पास रहने वाले अनेक भृत्य कर्मकर, गुमास्ते और मित्रजन मिल जुल कर आए और अपना-अपना परिचय देते हुए बोले—'श्रेष्ठिकुमार ! महावृक्ष के नष्ट हो जाने पर घोसलो मे सस्थित पक्षियो के बच्चो की जो दशा होती है, वही दशा, जिनदत्त श्रेष्ठि का आश्रय न रहने से हमारी हो रही है। अब हम आशा करते है कि तुम अपने पिता की भाति हमे आश्रय देने वाले होगे।' रत्नपाल ने सबकी प्रार्थनाए सुनी, उनकी माग को जानकर उन्हें यथायोग्य कार्य देकर उनको सतुष्ट और हर्षित किया। अब मेरा प्राथमिक क्या कर्त्तव्य है ? इस प्रकार कतिपय प्रौढजनो से रत्नपाल ने पूछा, और उनके कथनानुसार कार्य करते हुए उनका सम्मान किया।

इसके बाद नगर के प्रमुख व्यक्तियो के साथ रत्नपाल राजा के पास गया और उपहार प्रस्तुत करते हुए कहा—'वरदेव ! जिनदत्त श्रेष्ठि से जो कोई लोग ऋण मागते है वे मुझसे ब्याज सहित अपना-अपना धन शीघ्र ले जाए और जो लोग सेठ के कर्जदार है वे सब शीघ्र ही मुझे धन लाकर समर्पित करें।

राजा ने तत्काल ही नगर मे यह घोषणा कर दी कि—'जिनदत्त सेठ से सम्बन्धित जो धन लोग मागते हैं, वे अपना धन ले जाए और जिन्हे अपनी रकम वापस लौटानी है वे रत्नपाल को सारी रकम दे जाएँ।'

तत्काल उचित व्यवस्था हो गई। कर्ज मागने वालो को सारा धन मिल गया और जो कर्जदार थे उन्होने अपनी-अपनी रकम रत्नपाल को लौटा दी। जो क्षेत्र, वस्तु, दुकान मकान आदि दूसरो के हाथ चल गए थे, व सब पुन रत्नपाल ने अपने आधीन कर लिए। नगर म इसकी कीर्त्ति फैल गई।' अहो ! रत्नपाल बालक होता हुआ भी कितना बुद्धिमान् है जिसने सारे अव्यवस्थित कार्य को सुव्यवस्थित कर दिया। राउल ने भी वहा की सारी

स्थिति अच्छी तरह से जान ली। 'आगे क्या करना चाहिए'—वह हर समय यह सोचने लगा। परन्तु रत्नपाल ने यह कभी आशका नही कि राउल रत्नवती का ही रूपान्तर है। उसने निशक रूप से यह जाना था कि यह बालयोगी है। सभी सुख प्रस्तुत होने पर भी रत्नपाल माता पिता के विरह से दुर्बल होता हुआ क्षणभर के लिए भी आनन्द नही पाता था। वह सोचता था—उन्हे कैसे खोजूं ? वे अपने पुत्र के विरह से प्रताडित और उदासीन होते हुए कहा अपना जीवन बिता रहे हैं ? मैं अकेला प्रवास मे कैसे जाऊं ? मेरे बिना अकेला राउल इस अपरिचित प्रदेश मे कैसे रहेगा ?'

इतने मे ही अचानक अष्टागनिमित्त को जानने वाला एक ज्योतिषी वहा आया। रत्नपाल ने सविनय उससे पूछा—'विद्वद्वर्य ! मैं अपने पिता का वृत्तान्त कैसे जान सकता हूं ? वे किस दिशा मे रहते हैं ?—यह मुझे कैसे मालूम हो ? कृपाकर आप अपने ज्ञानबल से दिशा की सूचना दे जिससे कि मैं उनकी खोज करने मे सफल हो सकूं। रत्नपाल को अत्यन्त आकुल देख-कर ज्योतिषी ने शीघ्र ही गणित किया और कहा— निस्सन्देह तुम्हारे माता-पिता दक्षिण दिशा मे है और वे सकुशल है। छह महीने के भीतर उनके दर्शन सुलभ हो सकेंगे। कुमार ! विपत्ति के दिन बीत गए। अब सारा सुख ही सुख है। यह मेरी निश्चित वाणी है।' रत्नपाल ने उसे दान देकर सतुष्ट किया और वह अपने घर चला गया।

अवसर पाकर रत्नपाल ने राउल से सखेद कहा—योगीप्रवर ! मै तुम्हे छोडकर अकेला कही जाना नही चाहता, किन्तु अभी समय की माग ऐसी है कि मुझे माता-पिता की खोज के लिए अवश्य जाना चाहिए। तुम यहां रह कर घर की देखभाल करते रहो। शीघ्र ही मैं माता-पिता को खोजकर उन्हे यहा ले आऊंगा और तत्पश्चात् रत्नवती को लाने के लिए तेरे साथ ससु-रालय जाऊंगा। अभी तो समय की बाट देखनी ही चाहिए।'

कुछ मुस्कराकर राउल ने कहा— 'इसमे कोई खेद नही है। माता पिता से बढकर और बडा क्या है ? उनकी सेवा देव-सेवा है। उनका दर्शन देव दर्शन के समान है। उनकी आज्ञा देव आज्ञा के बराबर है। उस कृमितुल्य कुलागार पुत्र से क्या लाभ, जो अपने माता-पिता के लिए सुख का हेतु नही बनता। परतु यह कार्य तुम्हारे जैसे गृहस्थो का नही है, बल्कि मेरे जैसे योगियो का है। तुम्हारे जैसो के लिए हेमन्तऋतु अनुकूल नही है। इस ऋतु मे जगत् को कपित करने वाली उत्तरदिशा से शीतल वायु प्रवाहित होती है। इस समय मे कौन

सुखी गृहस्थ घर से निकलता है ? गृहस्थ अनेक ऊनी वस्त्र पहनकर विशिष्ट शक्तिदायक औषधो से मिश्रित मिष्ठान्न खाकर, स्त्री और पुत्र से परिवारित होकर, अग्नि के पास बैठकर हेमन्त ऋतु के दिनो को बिताता है, वहा निस्पृह जटी, श्रमण और तापस, फटे वस्त्र पहनने वाला या नग्न व्यक्ति सानन्द वृक्षमूल मे रहकर ध्यान करता है, परमेष्ठी का स्मरण करता है, क्षुधा को सहता है और सुखपूर्वक शीतकाल को व्यतीत करता है। इसी प्रकार उष्णकाल भी भोगियो के लिए अनुकूल नही है। ग्रीष्मऋतु मे सूर्य बहुत तेज किरणो से तपता है। सारी धरती अग्नि के समान हो जाती है। उस समय सारा वातावरण तप्त हो जाता है और असहनीय वायु चलती है। बार-बार पोछने पर भी पसीना नही सूखता। प्यास से आकुल होठ, तालु और कठ पानी पीने पर भी, 'कभी पानी पिया ही नही, 'ऐसा अनुभव करते है। उस ऋतु मे जिस पुण्यवान् व्यक्ति के पास समग्र भोग सामग्री है, जो अनेक प्रकार के शीतल पेय पीता है और वातानुकूलित गृह मे रहता है, वह घर को क्यो छोडेगा ? ऐसे समय मे भी मुनि जहा कही स्थित होकर, जो कुछ ठडा या गरम भोजन खाता हुआ, ऊष्ण जल पीता हुआ, बिना बिछौने भूमि पर सोता हुआ भी परम प्रसन्न दीखता है। जो योगी प्रतिपल परमपद का स्मरण करता है वह ग्रीष्मकाल की तप्ति का अनुभव कैसे करेगा ? जिसके लिए सभी बाहरी पदार्थ बाह्य है, उसके लिए सुख दु ख की क्या कल्पना हो सकती है ? अहो ! मुनि का मार्ग विचित्र होता है। इसी प्रकार वर्षाकाल भी गृहस्थो के लिए सुखावह नही होता। जब मेघ बरसते है तब सूर्य प्रच्छन्न हो जाता है और घना अधकार छा जाता है। हृदय को कम्पित करती हुई बिजली चमकती है। मेघ का गर्जन कर्ण-विवर को भेद डालता है। रास्ते कीचडमय हो जाते है। नदिया वेग से बहने लगती है। मेघ मे छिपा हुआ सूर्य भी कदाचित् आन्तरिक घाम का अनुभव करता है। ऐसे समय मे पत्नी से विरहित कौन व्यक्ति सुख से रह सकता है ? भाग्य से परवश प्रवासी होने वाला कोई भी व्यक्ति अपने घर का रात-दिन स्मरण करता रहता है। प्रवासी पति की मानिनी पत्नी पपीहा के 'पिउ-पिउ 'शब्द से अपने पति का स्मरण करती हुई उत्कृष्ट अन्तर्वेदना का अनुभव करती है। उस पावस काल मे भी पानी-भोजन का प्रत्याख्यान कर गिरि कन्दराओ मे रहने वाले, शरीर और मन की समस्त चिन्ताओ से रहित, अक्षुण्ण ब्रह्मचर्य से परिवर्धित तेज वाले, ध्यान म लीन मुनि अलक्षित और अतर्क्य सुख का अनुभव करते हुए समय बिताते हैं। अत मुनियो के लिए सभी ऋतुए अनुकूल होती है।

इसलिए माता-पिता की खोज मे मुझे जाना चाहिए। आप जैसो के लिए वहा कोई अवबाध नही है। मैं अभी जाता हूँ, मुझे साथ क्या लेना है।''—ऐसा कहता हुआ राउल हाथ मे केवल वीणा लेकर उठा। 'यह ठीक नही है, यह ठीक नही है'—ऐसे कहते हुए रत्नपाल ने झट से राउल का हाथ पकडा और बोला—'योगेन्द्र! असमय मे ही गमन कैसे कर रहे हो? थोडा सोचो सर्व प्रथम माता पिता के लिए पुत्र का परदेश जाना ही नीति सगत है। दूसरे मे--तुम अतिथिरूप मे दूर देश से यहा आए हुए हो। तुम सेवा कराने योग्य हो। ऐसी स्थिति मे अपने काम के लिए तुमको भेजना उचित नही है। तीसरे मे विरक्त व्यक्तियो से गृहकार्य कराना शोभास्पद नही होता। इसलिए मेरी सविनय प्रार्थना है कि तुम यही रहकर योग साधना करो। इस विषय मे तुमको मेरा भागी नही बनना है। 'मेरा जाना उचित है'—यह बताते हुए राउल ने गर्जते हुए कहा—'श्रेष्ठिपुत्र! राउल से कोई नीति अज्ञात नही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ऐसी भावना करने वाले मुनियो के लिए निज और पर का विचार ही कहा है? तुम्हारे माता-पिता क्या मेरे माता-पिता नही है? अतिथि का अर्थ है—जिसके आगमन की कोई तिथि न हो। यह निरुक्त स्पष्ट है। इसलिए वह अभ्यागत—मेहमान नहीं है। सेवा करना ही जिसका जीवन व्रत है, वह भला दूसरे की सेवा की अभिलाषा कैसे करेगा? जो शीलसपन्न तपस्वी मुनि परोपकार करते है, वे गृहस्थ के ससर्ग-जन्य दोष से दूषित नही होते। अरे, तुम निरर्थक ही आग्रह कर रहे हो? मित्र! सुनो, 'यदि छह महीनो के भीतर भानुमती और जिनदत्त को लाने मे समर्थ न होऊँ तो मैं अग्निकुण्ड मे प्रविष्ट हो जाऊँगा 'ऐसी प्रतिज्ञा कर निडर राउल तत्काल एकाकी चलने के लिए तत्पर हो गया। रत्नपाल को उसके निरोध का मार्ग नही मिला। वह अत्यन्त खिन्न होता हुआ, ज्यो त्यो भेजने के लिए सम्मत हो गया। रत्नपाल राउल के साथ गाव की सीमा तक गया और शिक्षा देते हुए कहा—'राउल! देशान्तर मे पूर्ण सावधानी रखना। दूसरो को ठगने मे तत्पर अनेक धूर्तशिरोमणि वहा पग-पग पर दूसरे अपरिचित मनुष्यो को ठगते हैं। जब तक तुम लौटकर नही आजाओगे तब तक मेरा मन कही भी नही लगेगा। मैं प्रतिदिन तुम्हारी बाट देखूँगा इसलिए शीघ्र ही पुन लौट आने की चेष्टा करना।' राउल ने कहा—'ठीक है!' वह अपने प्रिय के विरह से अन्तर्पीडा का अनुभव करता हुआ भी, ऊपर से योगी की तरह निर्ममत्व दिखाता हुआ, आगे बढ गया। दोनो बहुत दूर मार्ग तक आगए रत्नपाल का गला विरह की वेदना से रुद्ध हो गया।

उसने भीतर ही भीतर रोते हुए राउल का गाढ़ आलिंगन किया। और विरह व्यथित नेत्रों से उसे देखता हुआ लिखित चित्र की भांति वहां स्थिर हो गया। उसने राउल को त्वरित गति से जाते हुए देखा और क्षण भर के बाद राउल एक वृक्ष की ओट में अन्तर्धान हो गया।

रत्नपाल ने सोचा—'जिसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी, वह कैसे घटित हुआ? ओह! बालक होते हुए भी इसका सौजन्य कितना उत्तम है? इसकी कैसी अद्भुत निर्भयता है? इसकी बुद्धि की स्फुरणा और परोपकारनिष्ठा कैसी है। ओह! इसका उत्साह और माहात्म्य अनन्य है। इसका स्वभाव मधुर है और सदा मुस्कराता रहता है। ओह! यह किसकी संतान है? मानता हूं कि यह बालकमुनि महान कुलीन है। मुझे धिक्कार है, मुझे धिक्कार है! इस प्रकार के सुशोभित और सुकुमार शरीर वाला यह मेरे लिए गांव-गांव में भटकेगा, जो कुछ मिलेगा उसे खाएगा, जहां कहीं स्थान मिलने पर विश्राम करेगा, उसी काम में वह तन्मय होकर अनेक कष्टों को सहन करेगा। अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी समभाव से भावित होगा।' इस प्रकार अनेक विकल्प करता हुआ, चिंता करता हुआ, सम्मूढ़ हृदय से रत्नपाल घर आया। प्रत्येक कार्य में तथा भोजन के समय में राउल का प्रतिपल स्मरण करता हुआ रत्नपाल एक-एक दिन को अंगुली के पैरवों पर गिनता हुआ ज्यों-त्यों समय बिताने लगा।

इधर राउल तेज गति से मार्ग चला जा रहा था। बीच में जो भी गांव, नगर, खेट आदि आते, वह वहां सूक्ष्मरूप से खोज करता, लोगों में पूछता, तर्क करता और रत्नपाल के माता-पिता के नाम बताता, उनका संकेत देता। कुछ भी संकेत न मिलने पर आगे बढ़ जाता। आलस्य से वह कहीं भी समय को व्यर्थ नहीं गंवाता था, न विश्राम करता और न निश्चिन्तता में सोता ही था। वह अपरिचित गांवों और नगरों में एकान्त में बैठकर वीणा बजाता हुआ कर्ण के लिए अमृत तुल्य और मधुर वैराग्यमय गीतों से जनता को आकृष्ट करता था। उस बालयोगी की अद्भुत रूप संपदा को देखकर जनता सम्मोहित हो जाती और अनेक वस्तुओं का दान कर उसे सम्मानित करती, उसका सत्कार करती और घर पर आने के लिए निमंत्रित करती। किन्तु राउल के मन में कोई पिपासा नहीं थी। वह कुछ भी स्वीकार नहीं करता। वह भिक्षाचर्या से आटा दाल आदि द्रव्य लाता और अपने हाथों से रसोई बनाकर एक बार भोजन करता था। फिर जब लोगों में परिचय हो

जाता तब जिनदत्त के रहने जाने-आने के सम्बन्ध मे पूछताछ करता। कुछ भी समाचार न मिलने पर अकस्मात् वह वहा से चल पड़ता। नागरिक वहा रहने का बहुत अनुरोध करते परन्तु 'बहुत रह चुका बहुत रह चुका'—ऐसा कहकर वह वहा से प्रस्थान कर देता। इस प्रकार बहुत वह लम्बे मार्ग को तय कर गया। उसने अपने मार्ग मे आए हुए अनेक नगर और वन देखे। अनेक मठ, आश्रम, और सीमावर्ती गावो मे गवेषणा की। परन्तु जिनदत्त का नाम भी कही नही सुना। कोई समाचार नही मिले, सकेत भी नही मिला। तो भी राउल अखिन्नभाव से दक्षिण दिशा की ओर आगे बढा जा रहा था। उसकी दृष्टि लक्ष्य पर लगी हुई थी। जो व्यक्ति असफलता को सफलता का उपादान कारण मानते हैं उन उद्यमी व्यक्तियो के लिए अप्राप्य, अशक्य और दूर क्या है ? जहाँ चरणो पर चरण आगे बढ़े जाते हैं, क्या उनके लिए मंजिल दूर है ? अनेक दिनो के बाद राउल जहाँ जिनदत्त रहता था उस वसन्तपुर नगर मे आया। उस नगर के कई लोग रास्ते मे उसके साथ थे। उन्होंने उसे बताया कि जिनदत्त नाम का एक वृद्ध कठियारा अपनी पत्नी के साथ यहाँ गाव के बाहिर एक झोपडी म रहता है। अपने ससुर का चिर चिन्तित और कर्णप्रिय नाम सुनकर हर्षातिरेक से राउल रोमान्चित हो उठा। मनोरथ रूपी बादलो से सिंचित उसकी आशा वल्ली विकासित हो गई। उसने सोचा— यह मेरा ससुर सौम्य जिनदत्त और भद्र स्वभाव वाली मेरी सास भानुमती ! धन्य हूँ मैं कि आज मुझे उनके चिर दुर्लभ दर्शन प्राप्त होंगे। मैं उनको प्रिय पुत्र के असब्धपूर्व शुभ समाचार सुनाकर उनके मन का सन्तुष्ट करूँगा। ओह ! वह आनन्दमय समय कैसा होगा ?' ऐसा सोचता हुआ राउल नगर के समीप आया। उसने झोपडी देखी। जिनदत्त काठ का भार लाने वन मे गया हुआ था। भानुमती झोपडी के कार्यरत थी। तत्काल वह राउल, हाथ म वीणा लिए, हँसता हुआ वहा आ पहुंचा। झोपडी के सामने उसने समतल, गोबर से लिपी पवित्र वेदिका देखी। चारो ओर का वातावरण प्रसन्न था। वह राउल उस वेदिका पर जा बैठा और अनजान की भाति आखें मूँदकर वीणा बजाने लगा। कानो के लिए अमृत तुल्य वीणा के मधुर स्वरो को सुनकर भानुमती ने सोचा 'यह कौन गा रहा है ? गर्दन को कुछ ऊँची कर उसने बाहर झाका उसने वीणा के साथ भक्ति रस मे लीन एक बालयोगी को देखा। भानुमती ने सोचा—'अहो ! आज हमारा दिन धन्य है कि बिना बुलाए, अचिन्तित रूप से इस बाल मुनि ने अज्ञात दर्शन देने के लिए यहा पदार्पण किया है। निश्चित ही आज कुछ महान् शुभ कार्य होगा।

योगीजन बडे या छोटे—सब पर समान दृष्टि वाले होते हैं। उनके मन में कहा जाना चाहिए, कहा नही, कहा रहना चाहिए, कहा नही इस प्रकार के विकल्प नही उठते अत मैं इस बालमुनि को भिक्षा के लिए निमंत्रित करूँ'—ऐसा सोचकर वह राउल के भोजन योग्य कुछ पदार्थ लेकर उसके पास गई और विनय से प्रणाम करती हुई बोली—'बालयोगीश्वर ! आपने बडी कृपा की। हम जैसे मन्दभाग्य आपके पवित्र दर्शनों से कृतकृत्य हुए हैं। यद्यपि आपका स्वागत करने योग्य कोई विशिष्ट वस्तु नही है, तो भी मुनियों के लिए भक्ति ही विशिष्ट वस्तु है'—यह सोचकर मैं कुछ रूखी-सूखी वस्तु लाई हूँ, आप कृपा कर उसे ग्रहण करें। मुने ! यदि हम पुरिमतालपुर मे होते तो आपकी असाधारण भक्ति—शुश्रूषा करते। परन्तु क्या, अभी जो है'—इस प्रकार कहती हुई भानुमती की आँखें डबडबा आईं, और अपनी गीली आँखें पोछती हुई मौन हो गई।

प्रेम की पिंडलिका, वात्सल्य की पंक्ति, सरलता की प्रतिमूर्ति, कृपा की पात्र और प्रकृति से सौम्य सास भानुमती को राउल ने देखा। राउल ने उसे देखकर अनुभव किया कि वह पुत्र के वियोग से कृश होने पर भी कर्त्तव्य के पालन मे पुष्ट, दारिद्र्य रूपी दावानल से दग्ध होने पर भी भावना से दान देने मे उत्सुक, स्वभाव से मधुर और धर्मिष्ठ है। उसने सोचा—'ओह ! धन चला गया परन्तु दानशीलता नही गई, मानवता नष्ट नही हुई। धूल से मटमैला हो जाने पर भी क्या रत्न की महामूल्यवत्ता कम होती है ? भूमि पर गिरजाने पर क्या मेघ का पानी कडुवा हो जाता है ? पत्र, पुष्प फल से विहीन होकर भी क्या आम नीम हो जाता है ? निश्चित ही यह गुणरूपी रत्नों की खान है, इसलिए यहा रत्न उत्पन्न हुआ है। निश्चित ही अग्नि से तप कर सोना दीप्त होता है। घिसे जाने पर ही चन्दन की महक फूटती है।' इस प्रकार सोचता हुआ राउल पहले की तरह वीणा बजाता हुआ मौन हो गया।

प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा करते हुए भानुमती ने पूछा—'आप जवाब क्यों नही दे रहे है ? आप इस भक्ति भरी भिक्षा को क्यो नहीं ले रहे हैं ? यह भिक्षा सूखी होने पर भी प्रेम से स्निग्ध है, निकृष्ट होने पर भी भक्ति विशिष्ट होने से मिष्ट है।

माता जी ! भिक्षा अभी मुझे नहीं चाहिए। तुम्हारी असाधारण भक्ति को देखकर मुझे वह अवश्य ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु प्रभु की भक्ति के रसपान से मेरा मन तृप्त है, थोडी भी भूख प्यास नही है। मुनियों के लिए

भोजन की क्या चिन्ता है ? जहा वे जाते है वहा अनेक दाता भिक्षा लिए उनकी प्रतीक्षा मे खडे रहते हैं। मा, मैं कुछ समय पूर्व ही पुरिमतालपुर से प्रस्थान कर अनेक गांव, नगर, पुर और पत्तनो मे घूमता हुआ यहा आया हूं। सुन्दर स्थान देखकर मैं तुम्हारी झोपडी की वेदिका पर विश्राम करने बैठा हूं। प्रभु के गुणगान से मुझे आध्यात्मिक विश्रान्ति प्राप्त हुई है। तेरे भक्ति भरे निमत्रण से बहुत सतुष्ट हुआ हूं—' राउल ने निरपेक्ष भाव से कहा।

पुरिमताल का नाम सुनकर भानुमती का हृदय किसी अचिन्त्य आशा की रेखा से स्पृष्ट हुआ। उसने तत्क्षण पूछा—'क्या आप पुरिमताल से आए हैं ?

राउल ने कहा—'हा वही से।'

भानुमती ने उत्सुकता से पूछा—'क्या आप वहा के विशिष्ट व्यक्तियो को जानते हैं ?'

राउल—'क्यो नही, वहा मैं बहुत काल रह चुका हूं अत. वहाँ के प्रमुख व्यक्तियो से परिचित हूं।'

भानुमती—'तब तो आप मम्मन सेठ को अवश्य जानते होंगे ?'

राउल—'हा, वह नगरप्रसिद्ध धनाढ्य कृपण है। भानुमती का हृदय-कमल हर्ष से विकसित हो गया। उसने पूछा—क्या आप उसके पुत्र-स्थानीय रत्नपाल को जानते है ? नई भाव-भगिमा दिखाते हुए राउल ने कहा—'ओह ! आप उस रत्न को कैसे जानती हैं ? वही मेरा परम प्रिय अनन्य मित्र है। मा ! मैं उसके साथ छह महीने तक रहा हूं।'

अत्यन्त उत्सुकता से भानुमती ने पूछा—क्या यह सही है ? आप उसे जानते हैं ? इस प्रकार कहती हुई वह उसके पास आकर बैठ गई।

राउल ने कहा—'हमारे जैसे योगियो के लिए कौनसा रहस्य अज्ञात रहता है ? उसका सारा घटित घटनाचक्र मुझे ज्ञात है। वह मम्मन का पुत्र नही है, किन्तु यह सेठ जिनदत्त का कुलदीप और भानुमती का अगज है। दुर्भाग्य से पीडित उसके माता-पिता सत्ताईस दिन का होने पर उसे मम्मन के घर धरोहर के रूप मे रख कर किसी अज्ञात दिशा की ओर चले गए हैं।'

चिरकाल के बाद पुत्र के वृत्तान्त को सुनकर बहुत उत्सुकता से भानुमती ने पूछा—राउल, उसके आगे क्या हुआ ?

पुत्र की विरहाग्नि से तप्त माता के हृदय को पुत्र के कुशल क्षेम के समाचार रूपी जलधारा से शांत करते हुए राउल ने कहा—'मन्मन ने रत्नपाल का पुत्र की तरह पालन किया और पढाया। जब वह बारह वर्ष का हुआ तब अपने एक कर्जदार के मार्मिक शब्दो से आहत होता हुआ वह अपने वृत्तान्त से अवगत हुआ।

एकटक देखती हुई माँ ने कहा—बाद मे, बादमें क्या हुआ ?

राउल—जैसे सिंह के बच्चे की तरह वह अपने स्वरूप को जानकर तत्क्षण विदेश जाने के लिए तत्पर हो गया। मन्मन के बहुत अनुरोध करने पर भी वह नही रुका। अन्त में वह नौका को विक्रेय वस्तुओं से भरकर समुद्र यात्रा के लिए निकल पडा।

(मन ही मन मे) ओह ! उस दूध मुंहे बच्चे ने ऐसा साहस किया ? भानुमती का शरीर रोमांचित हो उठा। वह बोली—'अच्छा, ऐसा दुष्कर कार्य उसने किया ? उसके आगे की कोई समाचार है ?

राउल—'क्यो नही ? सुनो ! आज तक का वृत्तान्त। वह कालकूट नामक द्वीप मे गया। पुण्यो के सयोग से राजा निरोग हो गया। माल के बिकने पर उसे अतुल लाभ हुआ। उसकी राजपुत्री रत्नवती से विवाह हुआ।

आश्चर्य से भानुमती ने कहा—'राउल क्या कह रहे हो ? क्या वह इतना भाग्यशाली है कि राजा का जमाई हो गया ?'

राउल—हा मा, यह सत्य है। वह महान् भाग्यवान प्रगट हुआ है। क्या तुम यह जनश्रुति नही जानती कि पुरुष का भाग्य कौन जान सकता है ?

भानुमती की आंखे हर्ष से गीली हो गई। उसने पूछा—'क्या वह वही रह रहा है या अपने नगर को लौट आया है ?

राउल—'मा क्या पूछ रही हो ? वह माता पिता के बिना वहा कैसे रह सकता है ? वह वहा से शीघ्र ही लौट कर सकुशल अपने नगर मे आ गया उसने अपना सारा ऋण चुका डाला और तत्काल मन्मन के घर से निकला और पूर्ण ठाट-बाट के साथ अपने घर आ गया। अब वह प्रतिपल माता-पिता के दर्शनो के लिए उत्सुक है।'

रोते-रोते भानुमती ने कहा—'मैं ही पुत्र विरहिणी और अभागिनी भानुमती रत्नपाल की जननी हूं। आज का दिन धन्य है कि मुझे प्रिय पुत्र के यथार्थ समाचार सुनने को मिले। योगीन्द्र ! मैंने पुत्र के वियोग मे कौन कौन

से कष्ट नहीं सहे हैं ? हम भी अपने नगर जाने के लिए उत्सुक थे, किन्तु समाचार न मिलने पर कुछ सन्देह था। आज अनायास ही आपका यहा हुआ। पुत्र के समाचार प्राप्त हुए। अब हम वहा जाने की शीघ्रता करेंगे आगमन और पुत्र को उल्लास से देखेंगे।

राउल ने वहा पडे हुए एक काठ के टुकडे को हाथ मे लिया और चतुराई से उसे सूघकर पूछा—'मा यह क्या है ? यह क्या है ?

सरलता की प्रतिमूर्ति भानुमती ने कहा—'यह कुछ नहीं है। काठ के भारे से गिरा हुआ एक टुकडा है। रत्नपाल के पिता जी प्रतिदिन जो सूखे काठ का भार लाते है, उसी का यह टुकडा है।'

रहस्य को न जानने वाले की भाति राउल ने उस टुकडे को झोली मे डाल लिया और बोला—'नगर मे प्रतिदिन इस इन्धनभार को कौन लेता है ?'

भानुमती—'नगर मे महान् धनाढ्य धनदत्त नाम का एक स्नेही सेठ रहता है। वह प्रतिदिन एक ही मूल्य मे उसे खरीद लेता है। कई वर्ष बीत गए। दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता ही नही हुई।'

राउल—(मन ही मन मे) धिक्कार है, धिक्कार है, धिक्कार है उस धूर्तशिरोमणि को, जो काठ के मूल्य मे चन्दन लेकर सरल जिनदत्त को ठगता है।

इतने मे काठ का भारा बेचकर जिनदत्त भी वहा आ गया। हँसती हुई भानुमती दौडकर अपने पति के सम्मुख गई और राउल द्वारा कथित प्रिय पुत्र का वृत्तान्त कह सुनाया। जिनदत्त का हृदय हर्ष विभोर हो उठा और वह विस्तार से पुत्र का वृत्तान्त सुनने के लिए राउल के पास आ बैठा। सारे समाचार पूछे। प्रश्नो के साथ-साथ धीरे-धीरे उसने प्रियपुत्र के समाचार कह डाले। जिनदत्त का हृदय पुत्र को देखने के लिए उत्सुक हो उठा। उसे अनुपम आनन्द की अनुभूति हुई।

उपेक्षित भाव से राउल ने कहा—'थोडे दिनो के बाद ही मैं पुन: पुरिमताल जाने का इच्छुक हूँ। आपका गमन मेरे साथ ही हो जाएगा।'

जिनदत्त ने कहा—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। साथ ही जाएगे।' आपके साथ हम बहुत आनन्द का अनुभव करेंगे।

जिनदत्त ने राउल को भिक्षा लेने के लिए बहुत निमत्रण किया परन्तु उसने स्वीकार नही किया । वहा से उठकर जाते हुए उसने कहा—'साय या प्रात काल मैं यहा पुन आऊँगा । वहा से चन्दन को ठगने वाले धनदत्त को ढूढने के लिए नगर मे गया । वह एक चौराहे पर बैठा और इतने मधुर स्वरो से वीणा बजाई कि नगरवासी लोग स्वय आकृष्ट हुए और मृग-समूह की भाति नाद से मोहित होकर बहुत सारे लोग राउल के चारो ओर एकत्रित हो गए । उन्होने उसे अनेक चीजे स्वीकार करने के लिए कहा, किन्तु राउल ने कुछ भी ग्रहण नही किया । अपनी निस्पृहता के कारण उसने जनता के मन मे बहुत बडा स्थान पा लिया । वह अपने हाथ से सात्विक भोजन बनाता और उसी मे सतुष्ट रहता । जहा कही एकान्त मे रात बिताता और चतुराई से धूर्त धनदत्त के घर से परिचित हो गया ।

इधर भवितव्यतावश राजा के शरीर मे दाघज्वर का रोग उत्पन्न हो गया । किए गए सारे उपाय निष्फल हुए । वेदना से पीडित राजा बहुत पीडा का अनुभव कर रहा था । तब एक श्रद्धालु व्यक्ति ने राजा से निवेदन किया—'आप ऐसी वेदना का अनुभव क्यो कर रहे हैं ? यहा एक योगी आया है । उसका नाम राउल है । वह यत्र, मत्र, तत्र और औषधियो मे निपुण है । उसके आशीर्वाद से आपका रोग मिट जाएगा, इसमे कोई सन्देह नही है । इसलिए उसे यहा निमन्त्रित करना चाहिए । वह कृपालु है, अवश्य कृपा करेगा । उसी समय दुखी राजा ने मत्री के साथ ससम्मान यह प्रार्थना भेजी कि योगिराज दर्शन देने के लिए राजमन्दिर मे आये । राउल ने कहा—'क्या हानि है ? राजा को मैं अवश्य दर्शन दूंगा । प्रभु की कृपा से सब ठीक होगा ।' इतना कहकर तत्काल वह वहा से उठा और लोगो से घिरा हुआ वह अपने लय मे लीन, होठो से उपाशु जाप करता हुआ राजमहल मे आ पहुंचा । राजा ने योगी को सविनय प्रणाम किया और आसन दिया । राजा ने कहा—'योगीश्वर ! आपके दर्शन से आज मैं कृतार्थ हुआ हूँ । दाघज्वर की तीव्र अनुभूति हो रही है । चिकित्सा करते-करते सभी चिकित्सक हार गए । अब मैं आपकी शरण मे हूं । अनुग्रह करे ।'

योगिराज राउल ने प्रसन्नता से कहा—'राजन्! सब कुछ कल्याण करने मे ईश्वर समर्थ है जिसके स्मरण मात्र से आन्तरिक रोग भी नष्ट हो जाते है, वहा बाहरी रोगो की बात ही क्या है ? मनुष्य अपने ही अज्ञान से रोगी होता है । प्राकृतिक नियमो का खण्डन करना ही रोगो को आमत्रण देना है । वास्तव मे इन्द्रियो की आसक्ति ही अनेक रोगो की जननी है । यदि वह आसक्ति

मिट जाए तो आरोग्य सपत् स्वतः प्राप्त हो जाती है। इतना कहकर राउल ने राजा की धमनी का निरीक्षण किया और रोग का निदान कर लिया। कुछ सोचकर उसने कहा—'सही निदान करने वाले वैद्य के लिए रोग को शात करने मे गोशीर्ष चन्दन की आवश्यकता है, यदि वह प्राप्त हो जाय तो रोग तत्काल शान्त हो सकता है।'

शीघ्र ही राजा के नौकर चन्दन की खोज करने नगर मे गए और चन्दन के सभी व्यापारियो से पूछा, किन्तु गोशीर्ष चन्दन का एक भी टुकडा नही मिला। सभी गवेषक उदास होकर लौट आए। उन्होने कहा—'यहा कोई भी व्यक्ति गोशीर्ष चन्दन को न जानता है, न पहचानता है और न उसे रखता है। यदि कोई दूसरे सामान्य जाति के चन्दन की आवश्यकता हो तो यहा सुलभ है।' नृप हताश हो गया। उसने कहा—'अरे! यहा गोशीर्ष चन्दन नही मिला? हा! हा! भावी की रेखा अनुल्लघनीय होती है। योगीश्वर! अब आप ही मेरे शरणदाता है। योगी ने कहा—'महाराज! ईश्वर के साम्राज्य मे ऐसी कौन-सी वस्तु है जो न मिले? मनुष्य की अयोग्यता ही मनुष्य की असफलता है। क्या नगर मे गोशीर्ष चन्दन नही मिलता? आज ही मिलता है, अभी मिलता है, यही मिलता है'—ऐसे कहते हुए—उसने तत्काल अपना हाथ झोले में डाला और दोनो आंखे मूद कर जोर से बोला—'गोशीर्ष चन्दन जल्दी आओ, गोशीर्ष चन्दन जल्दी आओ। प्रभु की आज्ञा है, गुरु की आज्ञा है, योगी राउल की आज्ञा है। गोशीर्ष चन्दन जल्दी आओ।' इतना कहकर उसने गोशीर्ष चन्दन के टुकडे सहित अपना हाथ झोली से निकाला। राजा आदि सभी चकित रह गए। ओह! योगी की शक्ति अचिन्तनीय है। अकस्मात् झोलिका मे यह गोशीर्ष चदन कहा से आया? निश्चित ही मेरा यह दाघज्वर शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा।' राउल ने अपने हाथ से चन्दन घिसा और कुछ मत्राक्षरो का उच्चारण करते हुए उसने राजा के शरीर पर उसका लेप किया। लेप होते ही सारे शरीर मे अनुपम शीतलता छा गई। दाघज्वर नष्ट हो गया। राजा स्वस्थ हुआ। उसने नया जीवन पाया। राजा राउल के चरणो मे गिर पडा और कृतज्ञतापूर्वक बोला—अहो! निष्कारण उपकारी ऐसे होते हैं! मुनियो मे आज भी वर्णनातीत शक्ति विद्यमान है। इसीलिए लोग उनकी समक्ति पूजा करते हैं और लोग उनका सत्कार तथा सम्मान करते हैं। निस्पृह! किस प्रत्युपकार के द्वारा मे अपने आपको हल्का करू? यह सत्य है कि लोकोत्तर चरित्र वाले व्यक्तियो को इस लोक मे कुछ भी नही चाहिए तथापि आप

राउल के आकुल वचन सुनकर धनदत्त की पत्नी बहुत कापने लगी। 'क्या-क्या'—ऐसे धीरे बोलती हुई राउल के पास आई और उसके मुह के पास अपने कान लेजाकर बात जानने के लिए अत्यन्त आतुर हो गई।

"यह सभी जानते ही हैं कि राजा का शरीर दाहज्वर से पीडित था। उसने गोशीर्ष चन्दन को पाने के लिए बहुत खोज कराई। किन्तु उसका एक टुकडा भी नही मिला। देख, मैंने उस क्षति की पूर्ति की है। नृप स्वस्थ हुआ। उस समय मे एक चुगलखोर ने राजा को यह सूचना दी कि—स्वामिन्! धनदत्त सेठ के पास गोशीर्ष चन्दन प्रचुर मात्रा मे है। तो भी उस लोभी सेठ ने राजा के प्रयोजन के लिये भी चन्दन का एक टुकडा नही दिया। वह कितना स्वार्थ और परमार्थ से विकल है।' यह सुनकर राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। मैं सभावना करता हू कि आज कल मे वह सारा चन्दन ले लेगा और इससे पूर्व चन्दन के विक्रय से जो धन प्राप्त हुआ है उसे भी ले लेगा। यही नही, दड रूप मे वह और अधिक क्या अहित करेगा—यह विचारणीय रहस्य है। खेद! खेद! उस चुगलखोर ने सारा काम खराब कर डाला'—यही बात आप लोगो को कहने के लिए आज मैं यहा आया हू। अब क्या करना है—इसका थोडा विचार करना चाहिए।

इतना कहकर राउल वहा से चला गया। इस प्रकार राउल के वचन से भयग्रस्त होकर वह किंकर्त्तव्यमूढ, पागल की तरह बेचैन होकर सोचने लगी—'हा! यह क्या हो गया? कुपित राजा क्या अनर्थ कर डालेगा? अरे! अरे! हमारे घर गोशीर्ष चन्दन की प्रचुर मात्रा है। मेरे लोभी पति ने राजा के प्रयोजन के लिए भी उसे क्यो नही दिया? अब क्या होगा? वह क्षणभर के लिए भी घर मे रहने के लिए समर्थ न थी। वह दौडती हुई, बिखरे हुए कपडो और आभूषणो सहित एकाकी बाजार मे अपने पति धनदत्त के पास आई। असमय मे आई हुई उदासीन पत्नी को देखकर धूर्त धनदत्त को खेद और विस्मय हुआ। उसने सोचा—'ओह! घर की देहली का भी उल्लघन न करने वाली यह बाजार मे अकेली कैसे आ गई? निश्चित ही कुछ अनिष्ट जान पडता है, अन्यथा यह ऐसे क्यो आती? इस प्रकार सोचते हुए पति धनदत्त ने पूछा—'प्रिये! तू यहाँ स्वय कैसे आगई? तेरे सामने अनेक नौकर चाकर हैं। आज उनको तूने मेरे पास क्यो नही भेजा? तेरा मुख-कमल हिम से प्रताडित मृणाल की भाति क्यो विवर्ण हो रहा है। क्या तूने कोई अनिष्ट वृत्तान्त सुना है?

दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई पति को एक ओर लेजाकर टूटे-फूटे शब्दों में बोली—'आर्य पुत्र ! आप शीघ्र ही घर चलें। अपने सिर पर विपत्ति की घटा नाच रही है दूसरों को ज्ञात न हो, गुप्त बात है। यहां मैं उसे प्रकट नहीं कर सकती।'

सेठ का धैर्य विचलित हो गया, वह तत्क्षण अपनी पत्नी के साथ चल पड़ा। अनेक सकल्प-विकल्पों को सजोता हुआ, वह दौड़कर घर पहुंचा। पत्नी ने घर के द्वार दृढ़ता से बद कर डाले और राउल द्वारा कथित बात कहते हुए बोली—'पतिदेव ! चन्दन अपने पास विद्यमान था। राजा के द्वारा मागे जाने पर भी आपने उसे क्यो नही दिया ? ऐसे समय मे तो वह चीज स्वय देने योग्य थी। यह सच है कि अति लोभ का सर्वत्र वर्जन करना चाहिए।

पत्नी के मुँह से राउल द्वारा कथित सारी बात सुनकर वह सेठ अत्यन्त सत्रस्त हो गया। उसने सोचा—'यदि प्रात काल होते ही राजपुरुष आकर घर की छानबीन करेंगे और प्रचुर चन्दन का खजाना देखेंगे तो मेरी क्या दुर्दशा होगी ? हाय ! अति लोभ ने सारा नाश कर डाला। मैंने व्यर्थ ही भद्र गरीब जिनदत्त को धोखा दिया। व्यर्थ मे सपादित धन व्यर्थ ही चला जाएगा और वह भी मेरी सारी सपत्ति के साथ। ओह ! समय थोड़ा है। मुझे अब क्या करना चाहिए ?

अन्त मे दोनो भयभीत पति-पत्नी ने रात मे अपने हाथो से सारा बहुमूल्य चन्दन लेकर घर के पीछे एकान्त स्थान मे गर्हित वस्तु की तरह फेंक दिया। उसका मन प्रचण्ड भय से खण्डित हो चुका था। उसने चन्दन का एक भी टुकड़ा घर मे नहीं रखा और भय से त्रस्त हाकर उसने अतीत मे उस चन्दन के बेचने से जो धन प्राप्त हुआ था, उसे भी वही फेंक दिया। जहां चन्दन पड़ा था, उस स्थान को गोबर से लीप दिया ताकि गोशीर्ष चन्दन की तनिक भी सुगन्ध न आए। पश्चात् धनदत्त पश्चिम रात्रि मे, घर के द्वार बन्द कर अपनी पत्नी को साथ ले उद्‌विग्न होता हुआ अन्यत्र दौड गया। कपट क्रिया की परिणति विचित्र होती है। इसलिए नीतिकारो ने यह ठीक ही कहा है कि 'माया भय है।'

सूर्योदय से पूर्व राउल वहां गुप्त रूप से आया। चारो ओर घूमते हुए उसने घर के पीछे फेंकी हुई चन्दन राशि को देखा और बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—'ओह ! मेरी माया सफल हुई। काटे से काटा निकल गया। पापी को उचित प्रतिफल मिला। उसने तत्काल सारा धन बटोरकर छुपा लिया।

पश्चात वह अवसर को पाकर राजा के पास पहुँचा। राजा ने उसका सम्मान किया और आसन दिया। राजा ने बहुत बहुत आग्रह पूर्वक पूछा—'आपको क्या चाहिए ?' राउल ने कहा—'राजन् ! मैं यहा से लौट जाना चाहता हूँ। ऐसे संकुल नगर में मुनियों का मन नहीं लगता। भावावेश से गृहस्थ लोग मुनियों को भी गृहस्थी के प्रपंच में घसीट लेते हैं। मुनियों के लिए संसर्ग का त्याग बहुत आवश्यक है। जैसे गृहस्थ मुनियों के संसर्ग से वैराग्य को प्राप्त करते है, वैसे ही मुनि गृहस्थो के अधिक संसर्ग से संयम मे शिथिल हो जाते है। इसलिए मैंने यह निश्चय किया है कि घने जंगल के किसी एकान्त स्थान मे मुनियो के निवास योग्य मठ की स्थापना करनी चाहिए। दानशील नागरिकों ने मठ के योग्य काठ दिया है और वह काठ एकत्रित पड़ा है। इसलिए उनको ले जाने के लिए गाडियां चाहिए। दूसरे नागरिक गाडियां देने के लिए अत्यंत आग्रह कर रहे है किन्तु मैं आपसे वचन बद्ध हूं कि राजा से ही याचना करनी है' यही चिन्तन कर यहा आया हूं।

राउल को जाने के लिए तत्पर देखकर राजा खिन्न हो गया। मेरा परम उपकारी जारहा है, यह उचित नही, यह सोचकर राजा ने कहा—योगीश्वर ! जाने की यह कैसी शीघ्रता ? आपको यहा आए थोड़े ही दिन हुए हैं। जो निःसग है, उनको आसंग की कैसे शका ? हमारे जैसे पापी और मन्दभाग्य व्यक्ति भी आपकी संगति से अपनी आत्मा को पवित्र करते है, इसलिए मुनि जंगम तीर्थ होते है। गाडियो के लिए क्या मागना ? आपको जितनी जितनी गाड़ियो की आवश्यकता हो ले जाइए। यह कौनसा बड़ा दान है ? आप कृपा कर दूसरी कोई चीज लें। अभी आपका जाना उचित नही है।'

राउल ने कहा—'मुनि इच्छा-प्रधान होते है। आग्रह-प्रधान नही। पवन का क्या आना और क्या जाना ? हमारे उपदेश का प्रतिपालन ही हमारे दर्शन हैं। बाद मे भी क्या पुनः आने की सभावना नही है ? यह कहकर तत्काल राउल वहा से उठा, राजा को आशीर्वाद से सतुष्ट कर वहा से चल पड़ा। राजा ने उत्तम बैलो से युक्त अनेक शकट राउल को भेंट दिए। राउल ने नृप से शकट लेकर जहा चन्दन का ढेर था, वहा आ पहुंचा। गाडियों में गोशीर्ष चन्दन भरा और नगर से कुछ दूर जाकर उन सभी गाडियो को पुरिमताल के मार्ग पर लगा दिया। इस प्रकार सारा कार्य व्यवस्थित कर राउल जिनदत्त-भानुमती के पास आकर बोला—'मैं आज पुरिमतालपुर जा रहा हूं। यहा रहते बहुत दिन बीत गए। आपकी क्या इच्छा है ?'

जिनदत्त ने तत्काल ही उत्तर देते हुए कहा—'जिस दिन से तुम्हारे मुख से पुत्र का मंगल संवाद सुना है, उसी दिन से पुत्र को देखने की प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई है। और उसके बिना कहीं भी चैन नहीं पड़ता रहा है। हम प्रतिपल तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, तुम्हारे साथ जाने के लिए हमने सारा सामान बांध रखा है, और सभी कार्य सम्पन्न कर लिए हैं।'

राउल ने कहा—'शीघ्रता करें। विरक्त चित्तवाले योगी किसकी प्रतीक्षा करते हैं ? मैं तो अभी जा रहा हूँ'—यह कहकर राउल ने अपने पैर आगे बढ़ाए।

सेठ जिनदत्त ने अपने कन्धों पर भार उठाया। नमस्कार मंत्र स्मरण किया और राउल के पीछे पीछे चलने लगा। भानुमती सेठ के पीछे चलने लगी। सभी शीघ्र ही गाड़ियों के पास आ गए। और शकट सचालित किये।

राउल ने सहज भाव से कहा—'सेठ ! आप यह व्यर्थ ही इतना भार क्यों ढो रहे हैं ? आप बूढ़े हैं। गाड़ियों में इस भार की क्या गणना है ? आप निःशंक रूप से यह भार गाड़ी में रखदें।'

सरलमति सेठ ने कहा—'राउल ! यह भार दुर्वह नहीं है। यह मैं सुखपूर्वक ढो सकता हूँ।'

'तो भी शकट का संयोग होने पर भार को ढोते जाना अच्छा नहीं है'—यह कहते हुए राउल ने सेठ के कंधों पर से अपने हाथ से भार की पोटली उतारी और गाड़ी में सुरक्षित रख दी।

भानुमती के हाथ में भी कोई हल्की वस्तु थी। आग्रह होने पर उसने भी उसको गाड़ी में रख दिया।' थोड़ी दूर जाने पर राउल ने पुनः कहा—'एक गाड़ी में खाली स्थान है। आप उसमें क्यों नहीं बैठ जाते ? बूढ़े व्यक्तियों के लिए पद यात्रा सुखकर नहीं है, इसलिए कृपाकर आप बैठें।'

सेठ ने आभार प्रदर्शित करते हुए कहा—'योगीन्द्र ! आपकी सेवा से हम लज्जित हो रहे हैं। हम जैसे गृहस्थों का यह कर्तव्य है कि वे साधुओं की सेवा करें। यहां प्रत्युत हम आपकी सेवा ले रहे हैं। यह उचित नहीं है। इसलिए हम गाड़ी में नहीं बैठेंगे।

सबसे पहला कार्य यह है कि आप जैसे वृद्ध व्यक्तियों की सेवा की जाए। हम जैसे बालकों की नहीं। आपको गाड़ी में बैठना ही पड़ेगा। नहीं, नहीं करते हुए भी राउल ने उनको पूर्ण आग्रह से छायायुक्त गाड़ी में बिठा दिया।

उन्होंने सोचा—'यह राउल कैसा महानुभाव है कि निष्कारण ही हम पर उपकार कर रहा है। यह गुरजनों की तरह हमारी सेवा कैसे कर रहा है? अथवा मनस्वी व्यक्तियों का यह प्रकृति सिद्ध स्वभाव है। आश्चर्य है नीर क्यों पिपासा शांत करता है? अन्न क्यों भूख शांत करता है? सूर्य क्यों प्रकाश फैलाता है? चन्द्रमा क्यों शीतलता प्रदान करता है? अर्थात् यह उनका प्रकृति-जन्य स्वभाव है।'

उन्होंने राउल को गाडी पर चढने का बहुत अनुरोध किया। तो भी वह गाडी पर नहीं बैठा। वह भिक्षाचर्या से स्वयं भोजन लाता अपने हाथ से पकाता और दोनों को पहले भोजन कराकर फिर स्वयं एकवार भोजन करता। इस प्रकार सुखपूर्वक रास्ता कटता गया और वे पुरिमताल की ओर शीघ्र गति से बढने लगे। अहो! कैसा पौरुष है!

७

सातवां उपहार

●

रत्नपाल ने सोचा—'प्रायः छह महीने बीत चुके हैं। आज तक राउल क्यो नही आया ? क्या मेरे माता-पिता नही मिले ? क्या जाते-जाते वह कही रास्ते मे भटक तो नही गया ? क्या वह किसी नगर की जनता की अत्यन्त भक्ति से मोहित होकर वही ठहर गया ? या वह कही प्राकृतिक शोभा से सपन्न किसी पहाड की गुफा मे ध्यान करने लग गया ? हां ! जानते हुए भी मैंने भूल कर डाली। मैंने अजान राउल को देशान्तर क्यो भेज दिया ?

नही, नही, वह अत्यन्त कार्य कुशल, इगित और आकार को जानने वाला समयज्ञ, उद्यमी, उत्साही, सत्यप्रतिज्ञ, योगी और महात्मा है। इसलिए मैं दक्षिणपथ की ओर जाऊ और आने वाले पथिको की प्रतीक्षा करू। सभव है कि उनमे राउल के समाचार प्राप्त हो जाए।' ऐसा चिन्तन कर रत्नपाल अत्यन्त उत्सुकता से प्रतिदिन दक्षिण दिशा की ओर जाने लगा। वह राउल के मिलने की आशा से दूर से आने वाले पथिको को देखता, प्रतीक्षा करता, और निरीक्षण करता। वह उस दिशा से आने वाले पथिकों को रोक रोककर राउल की वेशभूषा, आकृति और वचन माधुर्य का वर्णन कर पूछता कि क्या किसी ने इस प्रकार के बालयोगी को देखा है ? वह उनसे

पुन पुन- पूछता और उत्कंठा से तर्क-वितर्क करता था। परन्तु किसी ने भी यह नही बताया कि ऐसा कोई व्यक्ति उन्हे दीखा या मिला है। अन्त मे हताश होकर वह घर आता और सकल्प-विकल्पो मे रात बिताता था। उसे क्षण भर के लिए भी सुख नही मिलता था।

एक बार रत्नपाल अपने स्वप्न के सकेत से प्रात.काल पुन उसके आने के मार्ग को देखने गया। वह गिद्ध-दृष्टि से देख रहा था। उसने राउल जैसे एक किसी व्यक्ति को आते हुए देखा। ओह! उसके हृदय मे अभूतपूर्व सुखानुभूति हुई। बार-बार सूक्ष्मता से देखने पर उसने जान लिया कि यह राउल है, वही है, वही है, ऐसा कहता हुआ वह उस दिशा मे भागा। अनुभूत विरह-वेदना को भूल कर 'स्वागतम्-स्वागतम्' ऐसा कहता हुआ वह उसके सम्मुख गया। दोनो परस्पर गले मिले। एक दूसरे के आसुओ से दोनो ने स्नान किया और परस्पर कुशल समाचारो मे अवगत हुए। रत्नपाल ने पूछा—"मैं जिनकी प्रतीक्षा कर रहा था, वे मेरे माता-पिता कहा हैं?" राउल ने कहा—'वे नगर के समीप वाले उद्यान मे बैठे हैं और तुझे देखने के लिए आतुर हो रहे हैं। अब तुझे शीघ्र ही वहा पहुँचकर जाना चाहिए।' यह सुनकर रत्नपाल अत्यन्त उत्सुक हुआ। पश्चात् वे दोनो शीघ्र ही नगर मे आ गए। नगर मे जिनदत्त के आगमन का समाचार फैल गया। सारे कौटुम्बिक, मित्र, नगर के प्रमुख व्यक्ति, ममतावय वाले व्यक्ति जिनदत्त की अगवानी करने के लिए रत्नपाल के साथ जाने को उत्सुक हो गए। राउल ने पहले जाकर, जिनदत्त और भानुमती को अच्छे सुन्दर कपडे पहनाए और विभिन्न अलकारो से अलकृत कर उन्हे ऊचे आसन पर बिठा दिया। सारी व्यवस्था अच्छी तरह हो गई।

इधर रत्नपाल माता-पिता को देखने बहुत आडम्बर के साथ निकला। जय-जयकार के नारे के साथ वहा पहुँचा। माता-पिता को देखते ही उसने हाथ जोड लिए। उसका रोम-रोम उल्लसित हो उठा। आखें डब-डबा आई। वह उनके चरणो मे गिर पडा। माता-पिता को बहुत आनन्द हुआ। उन्होंने अपने प्रिय पुत्र को बाह पकड कर ऊपर उठाया, छाती से लगाया, और उसके मस्तक को सूघा। पश्चात् उन्होने स्नेह से कुशल पूछा। भानुमती की स्थिति अवक्तव्य थी। उसकी आखो मे प्रेम के आसू थे और वह अनिमेष दृष्टि से अपने पुत्र को देख रही थी। उसने मन ही मन सोचा—आज मैं पुत्रवती, सौभाग्यवती, अत्यन्त पुण्यशालिनी और धन्य हुई हूँ। सारे कौटुम्बिक लोग मिले और सुख-दुःख की बाते करने लगे। नगर के सभ्रान्त व्यक्तियों ने

सभी के मुह पर राउल का जय-सौरभ महकने लगा। इस प्रकार बढते हुए धन मे पुन अधिक वृद्धि हुई। अत्यन्त आनन्द से इनके दिन क्षण की तरह बीतने लगे।

एक दिन रत्नपाल ने राउल से सखेद कहा—'राउल! मैं चिन्ता के सागर मे गिर पडा हूं। मुझे अपनी पत्नी को लाने के लिए ससुरालय अवश्य ही जाना चाहिए, परन्तु चिर-विरह से पीडित मेरे माता-पिता मुझे क्षण भर के लिए भी आंखो से ओझल करना नही चाहते ! दूध से जले जैसे छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीते हैं, उसी प्रकार मेरे विरहाग्नि से दग्ध मेरे माता-पिता मेरे दूर जाने की बात भी नही सह सकते। 'मुझे अब क्या करना चाहिए ?'—यह महान् दुविधा मे पडा मेरा मन नही जान सकता।

प्रसन्न वदन राउल ने गभीर होकर कहा—'क्या आपको अपने अनुभवी श्वसुर की शिक्षा याद नही है ? उन्होने कहा था—प्रवास लम्बा है। पुन: यहा लौट आना दुर्लभ है। अपनी पत्नी को साथ मे ही ले जाओ। उसे अकेली यहा मत छोडो, किन्तु आपने उनके आदेय वचनो की गुरुता नहीं जानी और न चिन्तन ही किया। अब चिन्ता करने से क्या होगा ? पत्नी को लाना आवश्यक है। यदि आप कहे तो मैं उसको लाने के लिए अकेला जाऊं। दूसरा क्या उपाय हो सकता है ?'

राउल की बात सुनकर रत्नपाल लज्जित हुआ और बोला—'राउल ! यह कैसे कह रहे हो ? जहा मुझे जाना चाहिए, वहा तुमको भेजना लज्जास्पद है। मैंने अपने श्वसुर के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं शीघ्र ही अपनी सहचरी को लेने वापिस आऊंगा। अपने वचन का पालन करना सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है। पुन. जिसका हाथ मैंने पकडा है, जो मेरी अर्द्धांगिनी बनी है और जिसका आधार एक मात्र मैं ही हूं, उसके लिए मेरा वहा जाना समुचित है। माता-पिता से विनयपूर्वक आज्ञा-प्राप्त कर मैं शीघ्रातिशीघ्र आने का इच्छुक हूं। दूसरा कोई विकल्प नही है।"

राउल के रूप मे रत्नवती अपने पतिदेव की कर्त्तव्यपालन की तत्परता को देखकर बहुत आनन्दित हुई। 'मैं भी अब अपने मूल रूप मे आ जाऊं—ऐसा उसने निश्चित किया और तत्काल वह स्नान घर मे चली गई। उसने राउल का वेष उतार डाला। शरीर का उबटन कर साफ पानी से स्नान किया। और उस योगी द्वारा प्रदत्त जडी का प्रयोग किया। नरत्व विलीन हो गया और नारी रूप प्रगट हो गया। उसने पेटी खोली, रेशमी कपडे पहने और बहुमूल्य

आभूषण धारण किए। इस प्रकार उसने सोलह शृंगार किए और
साक्षात् मनुष्य रूप मे देवी की तरह दीखने लगी। जैसे बादलो से चन
रेखा प्रगट होती है, वैसे ही वह स्नानागार से सहसा घर के आगन मे
हुई। उस समय रत्नपाल ऊपर के कमरे मे था। वह रत्नवती कलहंस
भांति चरण न्यास करती हुई, सोपान मार्ग से शीघ्र ही ऊपर चली गई।
वह लक्ष्मी की तरह विकसित मुखारविन्द वाली रत्नपाल को दीखी, तब
अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने पूछा—अरे बिम्बोष्ठी! तू कौन है? सुत
तू कहा से प्रकट हो गई? मृगाक्षी! मेरे से तेरा क्या प्रयोजन है?"

मुस्कराहट से अपनी उज्ज्वल दत पंक्ति को दिखाती हुई वह रत्न
पतिदेव के चरणो मे गिर पडी। और बोली—"आर्यपुत्र! आपने अ
परिणेता को भी नही पहचाना? मैं ही आपके साथ राउल रूप मे
हुई रत्नवती हूं। क्या मैं वही नही हूं जिसको आपने वहा देखा था

"तू राउल के रूप मे छिपी हुई रत्नवती है? अहो! मैंने यह कभी
सोचा पहचाना और चिन्तन किया कि ऐसे हो सकता है?' क्षणभर के
रत्नपाल भी विस्मय से भर गया। 'ओह! तुम्हारे पिता ने कैसी कला
है? बिना कुछ परिचित कराए मेरे साथ उसने तुमको कैसे भेज दिय
इसीलिए वह महानुभाव धूर्तो का आधिपत्य कर रहा है।" रत्नवती ने पति
के चरण छुए। वह चन्द्रमुखी हर्ष से रोमांचित हो उठी। रत्नपाल ने
गोद मे उठा लिया और अधरामृत का पान करते हुए अपने पास बिठा लिय
रत्नवती अपने पति के मिलन से अवर्णनीय सुख का अनुभव करती हुई उपा
की भाषा मे बोली—पतिदेव! आपने मुझे अबला और निराधार को अके
ही पिता के घर क्यो छोड दिया? क्या आप नई वधू जिसका पति प्रवा
हो चुका है की स्थिति नही जानते? आपने मेरे साथ वहा कभी भी सल
नही किया, मानो कि कोई सबध हुआ ही न हो। आपने न मुझे प्रेम
वचनो से पुष्ट ही किया और न यथार्थ की जानकारी ही दी। अरे! नी
हृदय! आपने मुझे यो ही छोड दिया! क्या आर्यपुत्र का यह व्यवहार उ
था? क्या कोई भी बुद्धिमान ऐसे कृत्य का अनुमोदन करेगा? मेरे पि
भी बहुत चिन्तित हुए किन्तु किसी महात्मा की कृपा से यह कार्य सम
हुआ। यहा राउल के रूप मे आई, माता-पिता की खोज मे गई। प्रत
गाव और नगर मे घूमते हुए मैंने क्या-क्या अनुभव नही किया? सब
मैंने अपना कर्त्तव्य समझकर किया है। आज मैं कृतकार्य होकर मूल रूप

चन्द्रमडल को निहारती हुई चकोरी की भाति, प्रिय पति के मुख को देखती हुई आनन्द में लीन हो गई।

रत्नपाल ने कहा—'हा ! तुम सत्य कह रही हो, मैंने तुमको वहा रख कर भूल की है। अपरिपक्व बुद्धि के कारण क्या ऐसे परिणाम नही आते ? किन्तु तुम्हारे अनुभवी पिता के अनुग्रह से सब कुछ सुन्दर, समुचित और अच्छा हो गया। वहा जाना अभी सभव नही होता। मेरे माता-पिता की खोज मे तुमने जो साहस दिखाया है, वह अबला के बल से अतिरिक्त है। उसके लिए जितने धन्यवाद दिए जाए, वे सभी थोडे हैं। माता-पिता भी राउल के सेवा-भाव की प्रशसा करते हैं'—इस प्रकार बात-चीत करते हुए दोनो माता-पिता के दर्शन करने के लिए चल पडे। वे दोनो प्रसन्न वदन से, जहा माता-पिता बैठे थे, वहा आए। रति के साथ कामदेव की तरह रत्नवती के साथ रत्नपाल को देखकर माता-पिता को आश्चर्य हुआ। उन्होने पूछा—"यह रूपवती स्त्री कौन है, जो तुम्हारे साथ सहसा अवतीर्ण हुई ? क्या कोई आराधिता देवी मनुष्य शरीर धारण कर प्रकट हुई है ? इसके साथ हमारा क्या सबध है ?' इस प्रकार वे तर्क-वितर्क कर रहे थे। इतने मे ही रत्नवती ने अपने सासु-श्वसुर के चरण छुए। हाथ जोडकर वह बोली—मैं आपकी पुत्र-वधू आपके प्रिय पुत्र की पत्नी रत्नवती हूं। विशाचल से राउल के रूप मे, मैं पति के साथ आई। मैं ही आपकी पुत्रवधू हूँ, दूसरी नही !" इस प्रकार कहकर वह सासु के चरणो मे गिर पडी। यह जानकर भानुमती और जिनदत्त को आश्चर्य के साथ महान् आनन्द हुआ।

वधू के मस्तक पर हाथ रखती हुई सास बोली—'यह राजकुमारी रत्नवती मेरी पुत्र वधू है ? जब यह राउल के रूप मे प्रच्छन्न थी, हमने इसको पहचाना तक नही था। अबला होते हुए भी इसने असाधारण पौरुष प्रदर्शित किया है। इसकी समयज्ञता अद्भुत है। अनेक बार हमने यह सोचा था कि अपना निकट का सम्बन्धी न होते हुए भी, तथा बिना प्रार्थना किए यह हमारी इतनी सेवा, परिचर्या करता है, अनन्य भक्तिभाव से हमारा सरक्षण करता है, यह क्यो ? पुत्र-वधू ! तेरी बुद्धि और धैर्य की कितनी प्रशसा करूँ। तूने हमको यहा लाने के लिए कितने कष्ट सहे और विपद रूपी नदियो को पार किया है ? ऐसी सेवापरायण वधू को पाकर हम धन्य हो गए।' इस प्रकार कहती हुई उसने स्नेह से पुत्रवधू की पीठ थपथपाई, मस्तक को सूंघा, तू पुत्र-पौत्रवती हो, ऐसे शुभ आशीर्वाद से उसे बधाई दी। जब यह बात नगर मे फैली,

तब वधू को देखने के लिए सभी बन्धु-बांधव आश्चर्य से वहा आए। रत्नपाल के अनुरूप रत्नवती को देखकर सब आनन्दित हुए। सेठ के परम सौभाग्य की प्रशसा करते हुए स्वजन अपने-अपने घर की ओर चले गए। रत्नवती ने अपने विनय, विवेक, चातुर्य और दक्षता से परिजनो तथा गुरुजनों को मत्र-मुग्ध, सम्मोहित, कीलित और वशीभूत कर लिया। पुत्र और पुत्रवधू के मधुर व्यवहार और कार्यों की निपुणता के कारण माता पिता ने अपने आपको भार उतरे हुए भार-वाहक की भाति हल्का अनुभव किया। रत्नपाल भी रत्नवती के साथ पचेन्द्रिय जन्य विषय सुखो का अनुभव करता हुआ यथा समय धार्मिक और व्यावहारिक कार्यों मे सलग्न सुख से समय व्यतीत करने लगा।

एक बार जिनदत्त ने पूर्व रात्रि और अपररात्रि मे धर्म-जागरण करते हुए सोचा—'अहो ! मैंने एक ही जन्म मे सुख-दुख की विचित्र शृखला देखी है और उसका अनुभव भी किया है, तो भी मेरा मन विरक्त क्यो नही हुआ ? मैं इन्द्रिय विषयो के भोग से पराङ्मुख क्यो नही हुआ ? बन्धुजनो मे मेरा स्नेह शिथिल क्यो नही हुआ ? धन आदि के प्रति त्याग की भावना क्यो नही बढी ? हा ! हा ! जो क्षण बीत जाते हैं, वे पुन लौटकर नही आते। जो यौवन लावण्य और शारीरिक बल क्षीण हो जाता है, वह पुन प्राप्त नही होता। अरे ! तुच्छ जीवन के लिए ऐसी चिन्ता ? कितनी दौड धूप ! कितना छल-कपट ! क्या रक की तरह राजा को भी यह सब नही छोडना पडता इसमे क्या शका है ? मृत्यु का नियम सर्वसाधारण और निश्चित है। उसके आगे किसी का विनय या बल प्रयोग सफल नही होता। इसलिए मैं अपना हित का चिन्तन और आचरण क्यो नही करू ? अहो ! आयुष्य के मूल्यवान् तीन भाग बीत गए। अब जो कुछ बचा है उसमे मुझे आत्म कल्याणकारी धर्म कार्य, भवातर मे हित, सुख और क्षेम के लिए करना चाहिए।' इस प्रकार भावना करता हुआ विरक्त हुआ, वैराग्य को प्राप्त हुआ और बन्धन को तोडने के लिए तत्पर हुआ। उसने भानुमती के समक्ष अपनी भावना रखी। भानुमती ने भी पति के इस शुभ कार्य का अनुमोदन किया। और पति का अनुगमन करने के लिए उत्सुक हुई। अपने पुत्र आदि बन्धुजनो की आज्ञा लेकर जिनदत्त अपनी पत्नी के साथ, धर्मघोष आचार्य के पास प्रव्रजित हो गया। वे दोनो अनेक प्रकार की घोर तपस्या से शरीर को तपाते हुए, स्वाध्याय ध्यान से आत्मा को भावित करते हुए, अन्त मे सलेखना सहित अनशन कर कल्प विमानवासी देव हुए।

एक बार रत्नवती गर्भवती हुई। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। वह सुखपूर्वक बढने लगा। उसे विद्या अध्ययन कराया, यथा समय उसका विवाह किया गया। वह विनीत, विवेकी और सभी कामो म कुशल था। वह गृहस्थाश्रम की धुरा को वहन करने मे समर्थ हुआ।

इधर चार ज्ञान के धनी महातपस्वी आचार्य अमितगति वहा आए। आचार्य के आगमन से नगरी बहुत सतुष्ट हुई। आचार्य को वदन करने सेठ, गाथापति सेनापति, राजा आदि अनेक व्यक्ति गए। रत्नवती को साथ ले रत्नपाल भी दर्शन करने के लिए गया। आचार्य ने धर्म-देशना दी। मनुष्य जन्म प्राप्ति की दुर्लभता बताई। उन्होंने कहा मनुष्य भव चार गतिमय ससार दुर्ग का द्वार है, जो इसको यो ही गवा देते हैं वे नरक-निगोद आदि मे पड कर, ससार चक्रवाल मे भ्रमण कर, चौरासी लाख जीव-योनियो का पार कैसे पा सकते हैं ? मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर की है। उससे मूढ हुए प्राणी, प्रत्यक्ष स्वरूप को भी नही पहचान पाते। वे मद्यपान करने वाले व्यक्ति की तरह विवेक से विकल होकर जहा तहा भ्रमण करते हैं, घूमते हैं, गिर पडते हैं, हँसते है, रोते है, प्रलाप करते हैं, गाते हैं, और बार-बार म्लान होते हैं। सुख को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति भी सुख कैसे पा सकते है, जब तक वे सुख की गवेषणा और मार्गणा पर-वस्तुओ मे करते रहेगे। आत्मा का स्वरूप है अनन्त सुख। पर वस्तुओ का सयोग ही दुख, भ्राति या भ्रमण का कारण है। इसलिए सबसे पहले यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। ज्ञान रहित क्रिया अन्धे व्यक्ति के बाण की तरह निरर्थक है वह अपने लक्ष्य को भेदने मे सफल नही होती। ओह ! जो मुनि आत्म वाटिका मे रमण करते हैं वे किस प्रकार के आनन्द का अनुभव करते हैं ? अनुकूल और प्रतिकूल सुख और दुख मे समता का भाव रखते हुए वीतराग व्यक्ति कही भी खिन्न, विलष्ट, परितप्त विमनस्क और दुर्मना नही होते। ओर ! ओह ! मुनियो के लिए सभी जगह आनन्द का समुद्र उद्वेलित रहता है। चारो ओर शान्ति की लहर फैली रहती है। भव्यो ! आत्मीय सुख के क्षण का एकबार अनुभव करो। जो एकबार इस स्वाद को पा लेता है, वह कभी इस नही छोड सकता। यह मार्ग अनुभव-गम्य है।

साक्षात् अमृतपान की तरह आचार्य के इन मधुर वचनो को सुनकर सारी परिषद् प्रफुल्लित हुई और उसका मानस अत्यन्त उद्बुद्ध हुआ। धर्मदेशना के पश्चात् रत्नपाल ने अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त पूछते हुए आचार्य श्री से

कहा—'प्रभो! मैंने ऐसा कौनसा पाप किया था कि जिससे मुझे सोलह वर्षों तक माता-पिता का वियोग सहना पड़ा और धन-नाश का सामना करना पड़ा?' आचार्य ने ज्ञान बल से कहा—'एकबार अज्ञान के वशीभूत होकर तेरी आत्मा ने अपनी माता द्वारा दिए गए सुपात्रदान की क्रोध के आवेश में गर्हा की और उन मुनियों की निन्दा की, उसका फल यहां भीषण रूप से तुमने भोगा है। पश्चात् तुम्हारी माँ ने यथार्थज्ञान कराया और दान का माहात्म्य बताया, तब तुमने उस सुपात्र दान की अनुमोदना की। धर्म के प्रति तुम्हारी रुचि उत्पन्न हुई। उसके प्रभाव से तुमने पुनः सब कुछ प्राप्त कर लिया।

अपने पूर्व वृत्तान्त को सुनकर—रत्नपाल और उसकी पत्नी रत्नवती को परम वैराग्य हुआ। रत्नपाल ने सोचा—'इस आज्वल्यमान संसार से मेरी आत्मा को शीघ्र ही निकालूँ। बुद्धि का यही परम फल है कि मैं अपनी आत्मा का उद्धार करूँ।' यह सोचकर रत्नपाल विरक्त होगया। उसने घर का सारा भार पुत्र को देकर स्वयं रत्नवती के साथ भगवती दीक्षा स्वीकार कर दीक्षित हो गया। उसने पवित्र क्रिया की, निर्मल ध्यान किया, उज्ज्वल स्वाध्याय किया, तीव्र तप तपा और अप्रमत्त विहार किया। अनेक वर्षों तक संयम पर्याय का पालन कर दोनों ब्रह्मदेव लोक में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत होकर वे महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होंगे तथा समस्त दुःखों का अन्त करेंगे। ●

रयणवाल कहा का हिन्दी-रूपान्तर

समाप्त



काव्यकर्ता की प्रशस्ति

(१) इस (रत्नपाल की कथा) चरित्र को सुनकर जगत की विचित्रता, लक्ष्मी की चचलता एव बधुजनो के स्वार्थपरक प्रेम को समझना चाहिए।

(२) इससे भव्यजनो की भावना धर्म प्रवृत्ति मे सुस्थिर होती है। धर्म से ही सब सुखो की सुन्दर प्राप्ति होती है।

(३) अधिक क्या, अध्यात्म-सुख का एकमात्र कारण, तीन लोक मे सारभूत धर्म ही है, भव्यो को धर्म की सदा आराधना करनी चाहिए।

(४) वर्तमान कलिकाल मे समुद्र के समान धीर गभीर अखण्ड उज्ज्वल आचार से युक्त तेरापथ के प्रथम आचार्य श्री भिक्षुस्वामी हुए।

(५) भिक्षु स्वामी ने ससार और मोक्ष का पृथक्-पृथक् मार्ग बताया। दोनो कभी भी एक नही हो सकते।

(६) राग पाप का कारण है और जीव दया (अहिंसा) धर्म का मूल है। फिर वे दोनो साथ (एकत्र मिश्र) कैसे हो सकते हैं?

(७) श्रीभिक्षु स्वामी ने अनेक प्रकार के भयकर कष्टो को सहन कर धर्म की जागृति की। उस दृढ मनस्वी ने सकटो से घबराकर अपना सत्य मार्ग नही छोडा।

(८) उनके द्वितीय पट्टधर धीर श्री भारमलजी स्वामी, तृतीय रायचन्द्र जी एव चतुर्थ श्री जयाचार्य हुए।

(९) विमल हृदय श्री मघवा गणी पाचवे पट्ट पर, श्री माणकचन्द्रजी महाराज छठे एव श्री डालचन्द्र जी महाराज सातवें पट्ट पर सुशोभित हुए।

(१०) मोक्ष मार्ग के पथिक महान् कृपापरायण श्री कालुगणी आठवें पट्ट पर हुए। जिनके शासन म भिक्षुगण की अतुल वृद्धि-समृद्धि हुई।

(११) जिनके अनुग्रह सुधा से सिंचित होकर मुझ जैसा मदबुद्धि भी साक्षर बन गया। अहो ! गुरु का माहात्म्य सचमुच अवर्णनीय है।

(१२-१३) भिक्षु गण के नवम आसन पर, वर्तमान मे महान् प्रभावी आचार्य श्री तुलसी है। निरन्तर श्रमरत एव धर्म प्रचार मे दक्ष आचार्य श्री आज के युग के अनुकूल उपदेश देते हुए अणुव्रत आन्दोलन का प्रचार कर रहे है। आधुनिक लोग प्राय इनसे परिचित है। प्रभाव से आकृष्ट होकर अनेक प्रकार के लोग आचार्य श्री से वार्तालाप करने आते रहते हैं।

(१४-१५) उन गुरु चरणो का अनुगामी मुनि श्री केवलचन्द्र जी का पुत्र, श्री धन मुनि एव आर्या दीपा जी का लघुभ्राता, चन्दनमुनि ने (काव्यकर्ता) जो काव्य कल्पना का रसिक है, एकावनवे वर्ष मे प्राकृत भाषा का अध्ययन किया।

(१६) बालको के लिए भी सुग्राह्य, ऐसा अल्प समास वाला तथा मधुर कथानक युक्त प्राकृत भाषा मे प्रवेश के लिए इस गद्य काव्य की रचना की।

(१७) श्री मोहनविजय ने गुजराती भाषा की गीतिका मे इस कथानक का प्रणयन किया है। उसी से यह कथासूत्र साभार लिया गया है।

(१८) मेरे इस प्रथम प्रयास म अनेक दोषो की सभावना हो सकती है। आशा है विज्ञजन उनका विशोधन कर देंगे।

(१९-२०) विक्रम सवत् २००२ मे जयपुर मे चतुर्मास किया। श्री लाल मुनि एव श्री मूल मुनि दोनो ही भक्तिभाव के साथ सेवा करते है। यहा एकदिन अचानक शिकारी कुत्तो के आक्रमण से हाथ जख्मी हो गया। पक्का पाटा बधा। इस समय मे इस काव्य की मैंने रचना की। यह कृति सबको कल्याणकारी हो।

